महान साधक

प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य

भारत के

महान साधक

भारत के महान साधक

दशम खंड

प्रमथनाथ भट्टाचार्य

नव भारत प्रकाशन

प्रथम प्रकाशन
फाल्गुन १९८८

अनुवादक : प्रो० डॉ० रमाकान्त पाठक
प्रो० डॉ० ललितेश्वर झा

प्रकाशक : निर्भय राघव मिश्र
नव भारत प्रकाशन,
लहेरियासराय,
दरभंगा (बिहार)

मुद्रक : बजरंग प्रेस, (लक्ष्मी भवन) दोनार, दरभंगा।

प्रच्छद पट : श्री सुप्रकाश सेन

मूल्य—तीस रुपये

जिनकी महती कृपा से
'भारत के महान साधक'
का प्रकाशन संभव
हो सका
उन्हीं महापुरुष
श्री कालीपद गुहाराय के कर कमलों में
प्रकाशक द्वारा समर्पित

प्राक्कथन

भारतवर्ष महच्चरित्रों और दिव्य दर्शनों का गौरव-शाली देश है। यहाँ युग-युग की विभूतियों के विश्व-कल्याण-कारी दर्शन अपनी अद्‌भुतता को लोक-गोचर रूप देकर वार-वार प्रकट होते रहे। इस रहस्य का जिन्होंने अवगाहन किया वे भी बड़ भागी हैं; आकलन करने-वालों का तो कहना ही क्या ? भारत के महान् साधकों और सिद्धों की यह लोक-पावन परंपरा केवल अतीत की कथाओं की अनुश्रुतियाँ नहीं है, वह नये युग को दृष्टि देने का भी कार्य कर रही है।

युगाञ्जन

इस तथ्य पर ध्यान रखा जाय तो कहना होगा कि 'अज्ञान-तिम-रान्ध' के उन्मोचन के लिए 'ज्ञानाञ्जन-शलाका' का काम महापुरुषों की ऐसी गाथायें ही कर सकती हैं। देश, काल और परिस्थिति की अनुरूपता में, ध्यान, चिन्तन, मनन और उद्‌बोधन करते हुए, भारत के महापुरुषों ने जिस सत्य-धर्म को उजागर किया, उसकी ज्योति किसी युग-विशेष के साथ चिपक कर समाप्त नहीं हो गई; उसकी उज्जवल दीप्ति बाद के युगों को भी दृष्टि प्रदान करती रही और आनेवाली पीढियों के लिए भी युगाञ्जन सिद्ध हो सकती है।

ईशोपनिषद् के इस प्रसिद्ध मत्र का स्मरण, ऐसे प्रसंग में, स्वाभाविक है—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्
तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।'

सत्य की उपासना करनेवाले साधक ने इस मंत्र में भगवान् विव-

स्वान् को 'पूषन्' कहकर संबोधित किया है। वह अपनी दृष्टि को सत्य के साक्षात्कार के लिए पर्याप्त नहीं मानता। अपनी आँखों से वह उस सुवर्णमय आच्छादन को तो देख लेता है, जिससे सत्य-धर्म का मुख आच्छादित है, किंतु वह उस मुख को देख नहीं पाता। वह देख-पाना तभी संभव होगा जब पूषा की कृपा, एक ओर तो उस सुवर्णमय आच्छादन को हटा दे, और दूसरी ओर वह समर्थ दृष्टि प्रदान करे, जो सत्य-धर्म का साक्षात्कार संभव करा सकती है। पूषा की उसी कृपा को भारत के श्रद्धालुओं ने 'गुरु' के नाम से पुकारा था--

'अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।'

आत्मानुसंधान

सत्य-धर्म का साक्षात्कार करानेवाली ऐसी दृष्टि जिसकी कृपा से प्राप्त होती है, वही पूषा आत्मानुसंधान का भी अधिष्ठाता है। हमारे युग के लोक-गुरु महात्मा गाँधी उसी आत्मानुसंधान के--सत्य-धर्म के--महाव्रती थे। यही कारण है कि उनकी जो जीवन-गाथा--आत्म कथा--प्रकाशित हुई, उसे उन्होंने 'जीवन में सत्य के प्रयोग' कहना पसंद किया। अपने जीवन में सत्य के प्रयोग के द्वारा उनका जो आत्मानुसंधान हुआ, वही इस युग के प्रति उनका संदेश भी है। तभी वे स्वयं कह गये हैं--"मेरा जीवन ही मेरा संदेश है।" युग-प्रवर्त्तक महापुरुष ने भारतवर्ष को पराधीनता के अज्ञान-मूलक अत्याचार-कारी बंधनों से मुक्त करने की अपनी चेष्टा में जो सफलता प्राप्त की, वह भले इतिहास का विषय हो, किन्तु अपने सत्य-धर्म के आत्मानुसंधान को 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' व्यवहार के रूप में, असीम नम्रता और प्रेम के रूप में, जो प्रतिपत्ति वे दे गये, वह इतिहास की धरोहर है। वह आनेवाली पीढ़ियों का भी उसी तरह मार्ग-दर्शन करती रहेगी, जिस तरह कि उसने गाँधीजी की समकालिक पीढ़ी का मार्ग-दर्शन किया था।

महात्मा गाँधी आत्मानुसंधान के उस सत्य-धर्म को जिस दृष्टि के रूप में दे गये, उसका ही एक अनुपम साक्षात्कार है 'सर्व-धर्म-सम-भाव ।' यह कहना अनुचित न होगा कि इसकी साधना महात्मा गाँधी से पहले श्रीरामकृष्ण परमहंस भी कर चुके थे और कुछ दूर तक श्रीकृष्ण चैतन्य की जीवन-धारा में भी सर्व-धर्म-सम-भाव का प्रवाह लोकगोचर हुआ था। किंतु इससे महात्मा गाँधी के जीवन में किये गये सत्य के प्रयोग की महिमा खंडित नहीं होती। रोम-रोम में 'राम' के अनुभव की जो साधना गोस्वामी तुलसीदास कर गये थे, वह उनकी इन चौपाइयों में देखी जा सकती है--

"ईश्वर अंश जीव अविनाशी'
चेतन अमल सहज सुखराशी।"

इस तथ्य के बावजूद रामलीला-मैदान में खुले वक्षःस्थल पर चुभी पिस्तौल की गोलियों की वेदना को तुच्छ मानकर महात्मा गाँधी के द्वारा 'हे राम' कहा जाना भी अनुपम सिद्धि का ही दृष्टान्त माना जायगा। अमल, सहज, आनंदमय, अविनाशी चेतन का रहस्य चौपाइयों में पढ़कर समझा जा सकता है, किन्तु महात्मा गाँधी के जीवनान्त की उस घटना के लोक-चक्षु के समक्ष उस रहस्य को अनुभव-गम्य बनाकर आत्मा की जिस अमल सहज आनंदमयता को अभय के रूप में उजागर कर दिया, उसे अनुपम तो मानना ही होगा।

प्रकृति की उदारता और परमेश्वर की कृपालुता के सामरस्य को भारत की विशालता और प्राचीनता में ही नहीं, उन दिव्य विभूतियों की समृद्ध परंपरा में भी देखा जा सकता है, जो प्रत्येक युग में ऐसे साधकों, सन्तों, भक्तों और मनीषियों को इस देश में उत्पन्न करती रही और निरन्तर अविच्छिन्न रही है। महापुरुषों की इस

अटूट जीवित परंपरा ने प्रत्येक युग की जनता को आत्मानुसंधान की प्रेरणा दी है और वर्तमान युग इसी परमोपकार के परिणाम-स्वरूप नव-विश्व-निर्माण का सिंहद्वार बनने जा रहा है।

सत्यमयता

'सत्यमेव जयते' और 'अहिंसा परमोधर्म:' भारतवर्ष के नवीन उपक्रम के ये दो प्राचीन आधार, गाँधी-युग को पूरी धरती के प्रति निवेदित करने की दिशा में अब अग्रसर हैं। इन्हीं दो आधारों के सहारे भगवान् बुद्ध ने प्राचीन-काल में 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' का धर्म प्रदान किया था, जिसके प्रति विश्व की दो तिहाई जनता ने अपनी प्रणति निवेदित करते हुए कहा था—'धर्मं शरणं गच्छामि', अब महात्मा गाँधी ने सत्य और अहिंसा के उस मानव-धर्म को 'सकलजनहिताय सकलजनसुखाय' की प्रतिश्रुति के साथ नई दिशा में अग्रसर किया है। अहिंसा की सामूहिक साधना को वे सत्य का आग्रह-सत्याग्रह के रूप में प्रमाणित कर गये। 'स्वराज्य' और 'सर्वोदय' उस प्रयास की दो विश्वोपयोगी फलश्रुतियाँ हैं। सत्य का उपासक आत्मानुसंधान के सहारे जिस स्वराज्य को स्वरूप के रूप में प्राप्त करता है, अहिंसा की करुणा और प्रेम क्या उसे विश्व के प्रति सर्वोदय के रूप में विश्वरूप नहीं बना सकते? इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर ब्रह्मर्षि विनोबा भावे अवतार-युग की घोषणा करके दे गये हैं।

महात्मा गाँधी ने कहा था—"भारत-भूमि एक दिन स्वर्ण-भूमि कहलाती थी। यह इसलिए कि भारतवासी स्वर्ण-रूप थे। भूमि तो वही है, पर आदमी बदल गये हैं। इसलिए यह भूमि उजाड़-सी हो गई है। उसे पुनः सुवर्ण बनाने के लिए हमें सद्‌गुणों के द्वारा स्वर्ण-रूप बनना है। और हमें स्वर्ण-रूप बनाने का पारसमणि दो अक्षरों के जिस एक शब्द में निहित है, वह है "सत्य"। इस बात को स्पष्ट करते हुए

गुरुवर्य ऋषि विनोबाजी ने कहा—

"गाँधीजी का मुख्य विचार सत्य और शुद्धि का था। साधन-शुद्धि का प्रयोग बड़े पैमाने पर गाँधीजी ने ही पहली बार किया। मानव इतिहास में वह एक नई चीज थी। इसी विचार को दृढ़ करके बाकी के सारे विचार-भेदों को हम गौण समझें तो कितना अच्छा होगा ?"

भारत के महान् साधकों की चरित-गाथाओं के सहारे भी उपर्युक्त साधना का ही दिशा-निर्देश मिलता है।

राष्ट्रपिता—बापू—ने हमें यह इस प्रकार समझाया है—

"भारत अपने आत्मबल से सबको जीत सकता है। कवियों ने इस बल की विजय के गीत गाये हैं और ऋषियों ने इस विषय में अपने अनुभवों का वर्णन करके उसकी पुष्टि की है"

प्रभुमयता

भारतवर्ष के जिस वैशिष्ट्य की चर्चा बापू ने 'आत्मबल' के नाम से की है, उसकी आधार-भूमि उन महापुरुषों की ही जीवन-साधना है, जो व्यक्ति की सत्ता को आसन बनाकर प्रभु को आसीन करने की विनम्र साधना है। ऐसे ही साधकों और सिद्धों की चरितावली इस ग्रंथ के पूर्व नव खण्डों में संकलित और प्रकाशित हो चुकी है और अब यह दशम खण्ड प्रस्तुत हो रहा है। इस ग्रंथ के १९६४ ई० में प्रकाशित एक खण्ड की भूमिका लिखी थी महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज ने, जो आप भी वैसे ही महापुरुष थे, जैसे महापुरुषों की चरितावली को प्रस्तुत करना इस ग्रंथ के विविध खण्डों को अभीष्ट है।

'भारत के महान् साधक' का दशम खण्ड का आरंभ 'महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य' की गौरव गाथा से हुआ है। यह क्रम पूर्णात्पूर्णतर

प्रयास का है। साधना जब परिपक्वता की पराकाष्ठा पर पहुँचती है, तभी जीवन में वह प्रभुमयता अवतीर्ण होती है, जिसके उज्ज्वल और अनुपम उदाहरण हैं गौरांग महाप्रभु। 'ब्रह्म-सूत्र' में जिस प्रकार समन्वयाधिकरण के पूर्ण हो जाने पर 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' सूत्रवाला अधिकरण आया है, उसी तरह जब भक्ति की उत्कंठा भगवान् के लीला-दर्शन के प्रति अभिमुख हुई तब नवद्वीप में निमाई पंडित का आविर्भाव हुआ।

उनके विषय में उपरोक्त ग्रंथ में बड़ा उद्बोधक स्वरूप प्रगट हुआ है:--एक दिन उत्सवमय उल्लास की बेला में निमाई पंडित को दिव्य भावों की उमंग ने अकस्मात् उद्वेलित कर दिया। वे सुधबुध खोकर एकटक भगवान विष्णु के चरण-चिह्न को देखते रह गये। उस समय वैदिक मंत्रों की सुमधुर स्वर-लहरी के द्वारा यह भाव प्रगट हुआ कि "यही है परमप्रभु का चरण। महालक्ष्मी इसी चरण की सेवा में लीन रहती हैं। देवाधिदेव शंकर इन्हीं चरणों को अपने हृदय में स्थापित कर धन्यता का अनुभव करते हैं। योगीजन के द्वारा चिरवांछित, नित्य आराधित ये चरण हैं। मुक्तिदायिनी गंगा इन्हीं चरणों से निकली हैं। "यह सोचते हुए निमाई पंडित भक्ति के एक अबूझ आनंद की विवशता से असीमता का अनुभव करके रो पड़े। उनकी यह भावावस्था देखकर उपस्थित दर्शनार्थियों की चेतना स्तंभित हो गई।" महाप्रभु चैतन्यदेव की गौरवगाथा के ऐसे ये कुछ उद्बोधक प्रसंग हैं।

आगे चलकर इसी खण्ड में अभेदानन्द और अन्य महापुरुषों की कथाएँ भी आई हैं। इन पुण्य-गाथाओं के लिए हम श्रीप्रमथनाथ भट्टाचार्य और श्रीरामनन्दनजी के प्रति अनुगृहीत हैं।

श्रद्धेय रामनन्दन जी के जीवन पर सिद्ध पुरुषों के जीवन-रस का

गहरा प्रभाव है। वे अनेक महापुरुषों के निकट संपर्क में रहे और उनके सत्संग और वाणी के अचूक प्रभाव से लाभान्वित हुए। अपने अनमोल अनुभवों को सर्वजन-सुलभ बनाने के क्रम में महापुरुषों की चरितावली को प्रकारान्तर-साधन बना लेना उनके सर्वथा योग्य है, इसमें सन्देह नहीं। 'नव भारत प्रकाशन' के सहारे जन-जीवनोपयोगी, प्रेरक और उद्‌बोधक साहित्य का प्रसार और प्रचार वे कर रहे हैं। यह उनका अनुपम उपकार है।

श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य की पुस्तक 'भारतेर साधक' बंगला साहित्य की लोकप्रिय कृति प्रमाणित हुई। उसके अनेक खण्ड लेखक के जीवन-काल में ही प्रकाशित हो चुके थे। हिन्दी-भाषी जनता को उस ग्रन्थ-माला के आधार पर श्रद्धेय रामनंदन जी ने महापुरुषों के रसमय सान्निध्य में लाने का यह प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। आशा है हिंदी-भाषी पाठकगण इस प्रयत्न से लाभान्वित होंगे।

कृष्णं वन्दे जगद् गुरुम्।

श्रीमन्नारायण-स्मृति संस्थान — मदालसा नारायण

जीवन-कुटीर,
वर्धा (महाराष्ट्र) — २७-१-१९८८

भूमिका

यों तो सर्व-व्यापी एवं समदर्शी होने के कारण भगवान् की करुणा तथा शक्ति को किसी देश-काल की सीमा में आबद्ध कर देना अज्ञान का बोधक है; फिर भी आपात-दृष्टि से विचार करने पर कुछ ऐसा ही प्रतीत होगा कि भारतवर्ष पर उनकी कृपा का विशेष विस्तार हुआ है। संसार के सभी देशों में न्यूनाधिक संख्यक साधक, सिद्ध और साधु पुरुष हुए हैं, जिन्होंने ईश्वर-तत्व के अनुसन्धान में अपना सारा जीवन उत्सर्ग कर दिया तो, उनके दर्शन की अभिलाषा से जन्म-जन्मान्तर के शुभाशुभ कर्म फलों को न्यौछावर कर दिया, उनकी प्राप्ति के लिये कठोर से कठोर तपश्चर्या, भौतिक सुखों का त्याग, घोरतम कष्ट एवं असह्य शारीरिक यातना ही नहीं, साक्षात् मरण की मर्मान्तिक पीड़ा को भी अत्यंत हर्षोल्लास के साथ स्वीकार किया। परन्तु, अपना यह भारत देश विश्व के अन्य सभी भूभागों से अपूर्व विलक्षण और अद्भुत है। भगवान् स्वयं यहाँ युग-युग में अवतार ग्रहण कर नाना प्रकार की दैवी तथा मानवी लीलाएँ की हैं। दुष्टों के दमन, धर्म की स्थापना, मनुष्य जाति के मार्ग प्रदर्शन एवं साधु पुरुषों की रक्षा का पुण्य कार्य किया है। दर्शन शास्त्र का जितना गम्भीर अध्ययन-मनन और विवेचन-निरुपण यहाँ के मनीषियों ने किया-कराया है, उतना संसार के और किसी कोने में संभव नहीं। सृष्टि के आदि काल से ही विश्व-प्रपंच का रहस्योदघाटन करने में जितनी शक्ति और श्रम का प्रयोग यहाँ के निवासियों ने किया है, उसका शतांश भी अन्यत्र नहीं लगा है। 'कस्त्वं कोहं' तथा 'स्वतः प्रमाणं' परतः प्रमाणं' के प्रचण्ड तर्क-वितर्क में पीढ़ी-दर-पीढ़ी ने हजारों-हजार साल गुजार दिये, जिसकी दूसरी मिसाल नहीं मिलेगी दुनिया में। अतः, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि भारत-भूमि मानव सभ्यता और संस्कृति की नैहर है।

भारत-वर्ष की एक विशिष्टता यह भी है कि यहाँ धर्म और दर्शन में कभी पार्थक्य नहीं रखा गया है। अन्य देशों में यह बात नहीं है। यहाँ धर्म से कोई संकीर्ण अर्थ न ले कर सत्याचरण एवं दर्शन से

तत्व-दृष्टि ग्रहण करना चाहिये। जहाँ धर्म-क्षेत्र ही कुरुक्षेत्र है, वहाँ अर्जुन-जैसे मोह-ग्रस्त पण्डित का पैदा होना असंभव नहीं। अतः, भारत ने धर्मक्षेत्र को कुरुक्षेत्र बनाया, तो उसे गीता-ज्ञान से भी संपृक्त किया। अन्यथा उसका धर्माचरण भी सम्यक दृष्टि नहीं पाने से सागर की अथाह जलराशि में बहते-उतरते उस जहाज की तरह हो सकता है, जिसमें ईंधन हो, इंजिन भी हो; लेकिन पतवार न हो। ऐसा जहाज कभी अपने गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँच सकता है। भारतीय मनीषा ने अपने हजारों-हजार साल के प्रयोग और अनुभव के सहारे यह स्पष्ट देख लिया था कि ज्ञान और कर्म के युगल पंखों के बल पर ही साधक-रूपी पक्षी साधना के गगन में मुक्त उड़ान भर सकता है। गंगा और यमुना के समान प्रारम्भ में ये भले ही पृथक्-पृथक् स्रोतों से बह कर आयें, किन्तु, आगे चल कर इनका एक होना अनिवार्य है। एक होकर ही ये परमात्मा-रूपी महासागर से मिलने में समर्थ हो सकती हैं। अन्यथा अलग-थलग पड़कर कहीं भी पथसे विचलित-वितलित हो जा सकती हैं और महा-मिलन के सौभाग्य से वंचित रह जा सकती है। ज्ञान और कर्म, यदि इन दोनों में किसी एक को प्रधानता देनी हो, तो शुष्क ज्ञान से सहज-कर्म-साधना का मार्ग निश्चित रूप से विशेष फलदायी सिद्ध होता है। प्रमाण के लिये एक ओर जहाँ शंकर, चैतन्य, रामानुज, वल्लभ, तुलसीदास आदि सैकड़ों दार्शनिक भगवद्भक्तों की टोलियाँ हैं, वहाँ कबीर, रैदास, मलूक, नानक, दादू आदि अनगिनत ऐसे साधु-संत हो गये हैं, जिन्होंने शास्त्रीय प्रज्ञा से वंचित होते हुए भी परमात्मा से मिलन साधने में वैसी ही सफलता पायी, जैसी किसी वेद-वेदान्त-शास्त्री पंडित-प्रधान ने। भगवद्भक्त की परम्परा में ऐसे महान् साधक-सिद्धों का कभी अभाव नहीं रहा है और मध्यकाल से लेकर आजतक का आध्यात्मिक इतिहास उनके पुनीत चरित्र के आख्यानों से भरा पड़ा है। प्रस्तुत ग्रंथ "भारत के महान साधक" इसी कोटि की एक अभिनन्दनीय कृति है। अपने मूल रूप में यह बंगला भाषा का गौरव ग्रंथ है, जिसका यह सरस, सुबोध और प्रांजल हिन्दी अनुवाद है। इसके मूल लेखक श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य महोदय थे, जिनका एक उपनाम शंकरनाथ राय भी था। संभव है कि इसी उपनाम का सहारा ले कर उन्होंने पूरा ग्रंथ या ग्रंथ का बहुलांश लिखा हो। सम्पूर्ण ग्रंथ-माला का यह दसवाँ खण्ड है। इसे मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ कि इसकी भूमिका लिखने का सुअवसर मुझे प्रदान किया गया है। कारण यह है कि इस बहाने मुझे अपने गौरवशाली देश के महामना संत-साधकों से परिचय प्राप्त करने और उनके परम पावन चरित्र की सुरधुनी में अवगाहन करने का

पुण्य फल प्राप्त हुआ है। भारतीय दर्शन तथा धर्म की यह मान्यता रही है कि ईश्वर कोई ऐसा शासक नहीं है, जो सातवें आसमान पर बैठा विश्व का संचालन करता है। अन्य मतावलम्बी भले ही उसे जगत् से पृथक एक शक्तिशाली सत्ता के रूप में अवधारणा करें, भारतीय प्रज्ञा उसे घट-घट व्यापी अन्तरात्मा के रूप में ही जानती-पहचानती है। ईश्वर तत्व को वह अद्वैत-ज्ञान तथा आत्म-दर्शन का ही पर्याय मानती है। आत्मा के द्वारा ही वह परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करती है। वह सूर्य के समान स्वयं ज्योति स्वरूप है, जो अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होता है। मन, बुद्धि, अहंकार आदि किसी के द्वारा भी उसका ज्ञान संभव नहीं है। क्योंकि, ये सभी अचैतन्य हैं और स्वयं उस महा-चैतन्य परमात्मा रूपी ज्योति से ही प्रकाश ग्रहण करते हैं, जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्य से ज्योति ग्रहण कर प्रकाशित होता है। इसलिये मन की तुलना चन्द्रमा से दी गयी है। स्वयं-प्रकाश होने के कारण ही परमात्मा अपने बोध के लिये किसी ग्रंथ, साधन, यहाँ तक कि गुरु की अपेक्षा भी नहीं रखता। बाहर के किसी भी साधन से अन्तर का देवता लक्षित नहीं होता। सभी वहाँ से, कुछ फासला रख कर ही लौट आते हैं। उस दरबार में किसी की पहुँच नहीं। इसे यों समझना चाहिये कि परमात्मा शुद्ध अस्तित्व है। शाश्वत अस्तित्व मात्र, जिसका न कोई भूत है, न भविष्य ; वह अजन्मा और अमृत है। उसको छोड़कर संसार के सभी पदार्थों का जन्म एवं मरण होता है। सभी क्षणभंगुर हैं। फिर अजन्मा-अमृत तत्व के साथ किसी जन्म-मरण-धर्मा पदार्थ का कोई संबंध कैसे बन सकता है ? अन्धकार और प्रकाश का मेल क्या कभी संभव है ? इसीलिये जब हम उसे एक अमृत अस्तित्व के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, तभी हम नश्वर संसार के सभी ज्ञान-विज्ञान, जप-तप, कर्म-कौशल, व्रत-उपवास, योग-संयम, सभी नियमावलियों एवं विधि-विधानों को पीछे छोड़ देते हैं। इसका कदापि यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि सभी व्यर्थ हैं। नहीं। इनका भी साधन-मार्ग में प्रयोजन है। पर, ईश्वर दर्शन तो स्वयं उसके अनुग्रह से ही होगा। या यों कहिये कि

दिल के आइने मे है तस्वीरे यार।
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।

अब यह जो गर्दन नहीं झुक रही है, अहंकार की अकड़ है, उसकी पकड़ को ढीली करने के लिये सारे साधन और व्यक्तिगत प्रयास हैं। अन्यथा, वह तो सदा सर्वदा मिला हुआ जैसा ही है। कोई नये सिरे से उसे पाना नहीं है। हमारी तलाश जब अविच्छिन्न रूप से चल रही होती है, तब भी वह वहीं

मौजूद है। वह कहीं अन्यत्र गया हुआ नहीं होता। बस, हम में उसकी मौजूदगी का सही-सही पता होना ही उसका साक्षात्कार, प्राप्ति या दर्शन है। और इसके लिये जैसे कोई पढा-लिखा पूरा पण्डित या निपट-निरक्षर गंवार, आचार-विचार-निष्ठ सात्विक बाल-ब्रह्मचारी तपस्वी या अज्ञ-अछूत, अधम, अकुलीन नीच; परम पराक्रमी धीर, वीर पुरुष अथवा अबला अभागी नारी, सभी सुपात्र हैं, सब समान हैं, सब सुयोग्य हैं। परमात्मा का द्वार किसी के लिये कभी बन्द नहीं होता, चाहे वह कितने भी पापी, चाण्डाल क्यों न हो। गीता, अध्याय ९, श्लोक ३२ में भगवान् की उद्ग्रीव उद्घोषणा है :—

> माँ हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
> स्त्रियो वैश्याः तथा शुद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

अर्थात्, स्त्री, वैश्य, शूद्र अथवा अन्य पापयोनि-वाला भी कोई क्यों न हो, मेरी शरण में आकर परम गति को प्राप्त करता है। तब क्या कारण है कि वह सब को सहज उपलब्ध नहीं होता? अवश्य ही उसकी प्राप्ति के लिये एक अनिवार्य शर्त है और वह यह है कि हमें उसके प्रति प्रगाढ प्रेम होना चाहिये। प्रेम; वही प्रेम जो हमें संसार के प्रति है; पुत्र-कलत्र, धन-धरा एवं पद-प्रतिष्ठा के आकर्षण में बांध कर मनमाना नाच नचा रहा है, भगवान् के प्रति मुड़ जाये, तो फिर कोई कारण नहीं कि भगवान न मिलें। वह तो मिलें ही हुए हैं। हम ही इस संबंध में अपराधी हैं कि मिलना नहीं चाहते। जब किसी समय मेघ या कुहरा आकाश में छाया रहता है, तब भुवन-भास्कर के दर्शन नहीं होते, तब क्या वह कहीं अनर्तहित हो जाते हैं? नहीं। गगन-मण्डल में वह तब भी अपनी सम्पूर्ण विभा से देदीप्यामान रहते हैं। कुहरा या मेघ की क्षणिक बाधा के कारण वह दिखाई नहीं पड़ते, तो हम उन्हें तिरोहित समझ लेते हैं। यदि वे बाधाएँ हट जाती हैं, तो फिर वह दिखाई पड़ जाते हैं। अतः हमारी समस्त साधना एवं पुरुषार्थ का एक मात्र उद्देश्य यही है कि आत्मा और परमात्मा के बीच जो यह मिथ्या किन्तु सच प्रतीत होने वाला भ्रमजाल का आवरण है, उसे किसी प्रकार दूर कर दिया जाये। बाधा हटते ही परमात्मा का प्रकाश प्रकट हो जायेगा। संतों की साधना में इसी विन्दु पर विशेष बल दिया गया है और उनका समस्त जीवन एकमात्र इसी सत्य को उजागर करता है। साधु-सन्त अगर इस पृथ्वी पर विराजमान न होते, तो फिर निर्गुण-निराकार का सही साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने का कोई उपाय न था। ये साधु,संत ही हैं, जो परमात्म,तत्व का न केवल बोध कराते हैं; बल्कि अपने उदाहरण से उसे प्रत्यक्ष प्रमाणित भी करते हैं। ईश्वर की साधु,

सन्तों पर विशेष अनुकम्पा इसलिये रहती है कि उनके माध्यम से वह जगत में अपनी विरल विभूतियों को प्रकट करता है। अन्यथा महिमामय की अनन्त महिमा को अपने पावन चरित्र बल से उजागर करने तथा उसके अपरिमेय सदगुण-समूहों को लोक-दृष्टि में प्रत्यक्ष करने-कराने का और कौन उपयुक्त साधन हो सकता था ? प्रज्ञा-चक्षु को उन्मीलन करने तथा भगवान् की करुणा, कृपा, शान्ति, आनन्द, क्षमा आदि शक्तियों से मानव-समुदाय को अवगत कराने के उद्देश्य से ही सन्तों के जीवन-धारण का महत्व है। "भारत के महान् साधक" इन्हीं साधु-महात्माओं के परम पुनीत चरित्र की महागाथा है और है इसी माध्यम से भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य तथा सदगुणावली का गौरवशाली कीर्तन।

साधारणतः, जन-समाज की सामान्य दृष्टि में साधु-साधक एवं सिद्ध-सन्त में कुछ वैसा ही मौलिक अन्तर बताया जाता है, जैसा किसी विद्यालय या विश्वविद्यालय के छात्र एवं परीक्षोत्तीर्ण स्नातक या प्राध्यापक में। किन्तु, "भारत के महान् साधक" में साधक के साथ ही महान् शब्द का प्रयोग निसन्देह यह संकेत दे रहा है कि ये सामान्य कोटि के साधक नहीं हैं, बल्कि कहना चाहिये कि ये सभी परमोत्तम ज्ञानी, भक्त और गुरु-कोटि के सिद्ध-पुरुष हैं। अवश्य ही इनमें कुछ शंकर, चैतन्य जैसे महापुरुष जन्मजात प्रतिभा ले कर अवतीर्ण हुए थे, तो कुछ साधन-मार्ग का अवलम्बन करते हुए क्रमशः सोपान-दर-सोपान तय कर सिद्धि के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ हो सके थे। परन्तु, मार्ग का यह अन्तर चाहे जो भी और जैसा भी रहा हो; चोटी चढने पर सब का अनुभव एक जैसा ही होगा। कारण, गन्तव्य स्थान तो एक ही है। प्राप्तव्य वस्तु भी अनेक नहीं, एक ही है। अतः, प्रस्तुत पुस्तक में सबका आदर-पूर्वक स्थान मिलना उचित ही है, युक्तिसंगत भी। किन्तु, ग्रंथ के प्रथम खण्ड से ही जिस क्रम से साधकों की पंगत बिठाई गयी है, उसका कोई खास नियम नहीं है। सुविधानुसार जहाँ जो उपयुक्त जंचे, वह वहीं प्रतिष्ठापित कर दिये गये। वास्तव में देखा जाये, तो यही सर्वमान्य भी है। जो साधक—सिद्ध-सुजान संसार के सभी माया-मोह और जाति, सम्प्रदाय तथा भाषा-गत भेद-भाव का विसर्जन कर केवल भगवद्भक्ति के मार्ग पर चल पड़े, उनमें कौन पहले और कौन पीछे ? आखिर किस आधार पर उनका क्रम लगाया जाये ? जो भी क्रम या अभिक्रम होगा, वह सब पार्थिव ही तो होगा ? और वे तो समस्त पार्थिव बन्धनों को जलांजलि दे कर उस पार पहुँच चुके हैं। अतः, इस खण्ड में जिन चार महापुरुषों के

पावन चरित्र समाविष्ट किये गये हैं, उनमें सर्वप्रथम तो हैं महाप्रभु चैतन्य देव, जिनका आविर्भाव पन्द्रह वीं शताब्दि में हुआ था। यही प्रातः स्मरणीय गौरांग देव के नाम से भी जाने जाते हैं। इनकी कीर्ति-कथा आज सारे विश्व में उजागर है। इन्हें कौन नहीं जानता? श्री कृष्ण-भक्ति तथा 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे' षोडाषाक्षर मंत्र के सामूहिक कीर्तन का देश-व्यापी प्रचार-प्रसार इन्होंने ही किया था। पुस्तक में उनके सुमधुर चरित्र का गुण-गान काफी विस्तार से किया गया है, जो प्रायः ग्रंथ के अर्द्ध भाग को घेरता है। फिर भी उसे कम ही समझना चाहिये। क्यों कि महाप्रभु पर छोटे बड़े अनेक ग्रंथ विभिन्न भाषाओं और विधाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। ग्रंथ के शेष आधे भाग में एक गोस्वामी लोकनाथ हैं, जो महाप्रभु के ही समकालीन सखा-वर्ग के थे। महाप्रभु के प्रेम में पगे और ईश्वर-भक्ति के रंग में रंगे इनका चरित्र भी अत्यंत उज्ज्वल और प्रेरणा-प्रद है। तीसरे चरित्र-नायक में हम पन्द्रहवीं शताब्दि से उतर कर एकाएक आधुनिक काल में पहुँच जाते हैं। और पाते हैं श्री रामकृष्ण परमहंस देव के उदारमना शिष्य स्वामी अभेदानन्द को, जिन्होंने अपने जीवन के २५ वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका में बिताये थे। वहीं उन्होंने स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रारम्भ किये गये वेदान्त प्रचार के अधूरे कार्य को आगे बढ़ाया और एक सीमा तक अमेरिका-वासियों के हृदय में हिन्दू धर्म की विशालता एवं भारत-वर्ष की महत्ता का सिक्का जमाया। यह भी वहु-आयामी व्यक्तित्व के धनी रहे हैं और इन्होंने स्वयं अपनी आत्म-कथा लिखी है तथा धर्म एवं दर्शन-संबन्धी अनेक उच्च कोटि के ग्रंथों की रचना कर देश-विदेश में काफी ख्याति अर्जित की है। उपर्युक्त तीनों महापुरुष गौड देश (बंगाल) की उपज हैं, तो पुस्तक में वर्णित चौथे और अंतिम व्यक्तित्व हैं सुदूर दक्षिणावर्त के परम भक्त यामुनाचार्य। इनका पावन अनुकरणीय चरित्र भी तुलसीदल सा पावन और गंगाजल-सानिर्मल तथा आत्म-ज्ञान से दीप्त एवं भगवद् भक्ति के रस से स्निग्ध है। समस्त सदगुणों के भाण्डार तो ये सन्तगण स्वभाव से ही होते हैं। इनकी विशिष्टता का वर्णन पृथक रूप से इस सीमित स्थान में करने की न तो कोई युक्ति ही है; न किसी प्रकार का प्रयोजन। यह विषय तो अब स्वयं पाठकों को पुस्तक पढकर अवगत करना चाहिये। भूमिका का उद्देश्य इतना ही संकेत कर देना मात्र है।

वैसे अनुवाद प्रांजल, निर्दोष एवं खर-दूषण-रहित है, फिर भी दो-एक स्थल ऐसे मिलते हैं, जहाँ पाठक भ्रम में पड़ जा सकता है। उदाहरण के लिये

एक ऐसे प्रसंग की ओर मैं ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। स्वामी अभेदानन्द के चरित्र-चित्रण में संदर्भ यह है कि उनके पिता एक दिन परमहंस रामकृष्ण देव के समीप पहुँचकर अनुरोध करते हैं कि "वह आप का प्रिय शिष्य है। अतः, आप उसे समझा-बुझाकर घर भेज दीजिये। उसे संन्यासी मत बनाइये।" इस पर परमहंस देव का उत्तर पुस्तक में यों व्यक्त हुआ है:—तुम्हारे पुत्र को मैंने खाने के लिये छोड़ दिया है। अतः अब वह तुम्हारा नहीं है। अब वह यहाँ से वापस नहीं होगा। (पृष्ठ १५३) यहाँ "खाने के लिये" छोड़ दिया है—इस वाक्य से कौन-सा अर्थ ध्वनित होता है? यह स्पष्ट नहीं है। दूसरा ऐसा ही स्थल गोस्वामी लोकनाथ के कथा-प्रसंग में दृष्टिगोचर होता है। (पृष्ठांक १६४ पर) मथुरा के वर्णन में आता है कि "शास्त्र और पुराणों के अनुसार मधु नामक दैत्य ने मधुराई की स्थापना की थी। उन दिनों इस अंचल में आर्यभाव प्रसारित नहीं हुआ था। मधु दैत्य के अनुज शत्रुघ्न ने मधुपुरी अथवा मथुरा पर अपना अधिकार जमाया। तब से यह अंचल आर्यों के अधिकार में है।" प्रमाण में लेखक ने वाल्मीकि रामायण का उल्लेख किया है। किन्तु, अनुसन्धान से पता चलता है कि वाल्मीकि रामायण में यह प्रसंग कुछ अन्य ही प्रकार से वर्णित है। वहाँ उत्तर काण्ड में लिखा हैं कि श्री रामचन्द्र के अनुज शत्रुघ्न ने मथुरा पुरी को बसाया था। यों इसकी स्थापना तो बहुत पहले देवताओं द्वारा हो चुकी थी। जैसा कि वाल्मीकि का श्लोक है:—

इयं मधुपुरी रम्या मधुरा देवनिर्मिता।
निवेशं प्राप्नुयाच्छीघ्रं एष मेस्तु वरः परः॥

अर्थात्, देवगण मधुपुरी के विजयार्थ आये रामानुज शत्रुघ्न को वरदान मांगने के लिये उत्प्रेरित करते हैं, तो शत्रुघ्न यह वर मांगते हैं— "देवताओ, यह देवनिर्मित रमणीय मधुपुरी शीघ्र ही मनोहर राजधानी के रूप में बस जाये। यही मेरे लिये श्रेष्ठ वर है।" उस समय मधु दैत्य का पुत्र लवणासुर वहाँ अधिपति था। शत्रुघ्न ने उसका संहार कर मधुपुरी को राजधानी का रूप दे कर उस प्रदेश का राज्य किया। कहीं यह भी उल्लेख है कि मधु दैत्य के अनुज का नाम भी शत्रुघ्न था और रामानुज शत्रुघ्न तो सुप्रसिद्ध हैं ही। दैत्य अनुज को यह वर प्राप्त था कि वह अपने ही नामधारी व्यक्ति से मारा जायेगा। सो, उसे मारने के लिये शत्रुघ्न आ गये। परन्तु, जैसा कि प्रस्तुत पुस्तक में वर्णन आया हैं कि मधु दैत्य के अनुज शत्रुघ्न ने मथुरा पर अधिकार जमा कर आर्य-सभ्यता का विस्तार किया, वह किसी

दैत्य-दानव से नहीं, प्रत्युत् शत्रुघ्न जैसे आर्य-वीर से ही संभव प्रतीत होता है। जो भी हो, यह अवान्तर विषय है, जिससे मूल ग्रंथ का उद्देश्य प्रभावित नहीं होता।

अब चलते-चलाते एक बात का और चर्चा मैं करूँगा, जो साधकों के मनोभाव से संबन्ध रखती है। लक्ष्य में एक रूपता होते हुए भी सभी साधक के कर्मानुष्ठान, साधन-सम्पत्ति तथा आचार-विचार समान नहीं होते, हो भी नहीं सकते। देश, काल, पात्र, परिस्थिति, शिक्षा, संस्कार आदि कई ऐसे उपादान कारण होते हैं, जिनसे साधकों में विभिन्नता आ जाती है। सभी साधक अपने ही रंग-ढंग के बिल्कुल निराले हो जाते हैं। गीता अध्याय-३, श्लोक ३३ में भगवान् स्वयं कहते हैं :—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।

तात्पर्य यह है कि सभी प्राणी यहाँ तक कि ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करते पाये जाते हैं। इसमें किसी का क्या बस चल सकेगा ? अतः, पाठकों को चाहिए कि पुस्तक के महारस में शराबोर होने के पहले सम्पूर्ण पूर्वाग्रहों का परित्याग कर दे। क्यों कि, यहाँ साधक-सिद्धों का महामेला है। मान लीजिये कि जैसे कुंभ पर्व के अवसर पर त्रिवेणी तट पर जुटता है। या शिव की ही बारात समझ लीजिए। कोई गोरांग देव जैसा श्री कृष्ण प्रेम में पागल होकर नाच रहा है, तो कोई तैलंग स्वामी—(वर्णन ग्रंथ के खण्ड १ में पढ़िये) जैसा अवधूत नंगधड़ंग बाजार के बीच में खड़ा है। आप इसमें देखेंगे कि स्वामी विवेकानन्द पेरू मुस्लिम होटल में मुर्गी का शोरबा उड़ा रहे हैं (पृष्ठांक १४५) तो स्वामी अभेदानन्द के प्रसंग में पाठक पढ़ेंगे कि माँ शारदामणि उन्हें मांस मत्स्यादि खाने के लिये प्रोत्साहित करती हैं, जब कि यामुनाचार्य जैसा एक सात्विक वैष्णव प्राण जाने की स्थिति में इस बात को सोच भी नहीं सकता। फिर वामाक्षेपा जैसे शाक्त साधु के सुरापान जैसे घोर कृत्य की कथा शंकराचार्य जैसे मनीषी के प्रति कल्पना भी नहीं की जा सकती। (दृष्टव्य-भारत के महान साधक-प्रथम खण्ड।) इस प्रकार हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जितने साधक हैं, उतनी ही साधन-शैलियाँ हैं। इनमें कौन किससे बड़ा और कौन छोटा ? जैसे दीपक में हम ज्योति देखते हैं। तो, दीपक तो कुछ भी नहीं है। गौण है। किसी प्रकार-आकार का दीपक हो सकता है। मिट्टी, पीतल, सोने या चान्दी का। आधुनिक बिजली के बल्ब का भी। किन्तु, असली वस्तु तो उसमें प्रकाशित होने वाली ज्योति

है। दीपक में भेद होने पर क्या ज्योति में भी कोई भेद होता है ? नहीं। वह तो एक जैसी है। तो जिस प्रकार ज्योति ही असली चीज है, दिया नहीं; ठीक उसी प्रकार यह आत्म-ज्योति है, जो कभी देहों में एक रूप और एक समान है। इसी को ढूँढ़ कर उपलब्ध करना या यों कहिये वही हो जाना ही सारी साधना का एकमात्र लक्ष्य है। अतः, कोई साधक कैसे रहता है ? क्या खाता-पीता है ? कैसी वेश-भूषा है ? आदि गौण बातों पर ध्यान न देकर उसके परमोपलब्धि पर ही दृष्टि जमानी चाहिये। कबीर दास का कथन कितना सटीक है :—

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहने दो म्यान॥

म्यान को तलवार की धार से क्या लेना देना ? और म्यान रहे या न रहे, केवल तलवार से भी काम चल जा सकता है। तो, मुख्य बात, जिस पर सभी साधकों का एक समान बल है, वह है अहंभाव का विसर्जन, आत्म-ज्ञान है और उसके साथ है करुणा की भावना। ज्ञान के साथ करुणा न हो, तो फिर हम किसी ज्ञानी अथवा गुरु को इस संसार में नहीं पायेंगे और तब ज्ञान-विज्ञान की परम्परा ही लुप्त हो सकती है। अतः, ज्ञान-गुरु-परम्परा को कायम रखने एवं मानव-समुदाय को आत्म-हनन से बचाने के लिये ज्ञानियों में करुणा की भावना आवश्यक है। साधनावस्था में जो भावना भक्ति का रूप ग्रहण करती है, वही सिद्धावस्था में करुणा में परिवर्तित हो जाती है।

अन्त में ऐसी महान् कृति को प्रकाश में लाने के लिये मैं अनुवादक महोदय को भूरि-भूरि धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने प्रवाहपूर्ण भाषा में एवं बोधगम्य सरल-सरस शैली में रूपान्तर का कार्य सम्पन्न किया है। फिर इसके प्रकाशक महानुभाव को भी बधाई देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने ऐसे भौतिकवादी युग में भी एक ऐसे अलौकिक चरित्र-प्रधान ग्रंथ के प्रकाशन का संकल्प लिया, जिसके ग्राहक-पाठक सभी सीमित संख्या में दुर्लभ से दृष्टि-गोचर होते हैं। सर्वोपरि साधुवाद के प्रसंग में उन 'भारत के महान् साधक' पं० रामनन्दन मिश्र का नाम कैसे विस्मरण कर दूँ, जिनकी अक्लान्त प्रेरणा ही प्रस्तुत पुस्तक 'भारत के महान् साधक' के चयन, अनुवादन एवं प्रकाशन के पीछे अलक्ष्य किन्तु शक्तिशाली स्रोत के रूप में क्रियाशील रही है। वही इस महती योजना के केन्द्र विन्दु और प्रतिष्ठित प्राण हैं। उनके द्वारा जो मानव का कल्याण मार्ग प्रशस्त हो रहा है, वह एक ऐसे ही 'भारत के महान् साधक' शीर्षक ग्रंथ का अगला खण्ड हो सकता है।

आरसी प्रसाद सिंह

पटना
फरवरी-३, १९८८

प्रकाशकीय

'भारत के महान साधक' के दसम खंड को प्रकाशित करते हुये हमें अपार हर्ष हो रहा है।

'भारत के महान साधक' के मूल लेखक स्व० श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य लेखक, साधक तथा अन्वेषक तीनों एक साथ थे। इन्होंने लगातार १५ वर्षों का बहुमूल्य समय महापुरुषों की जीवनियों के संग्रह में लगाया।

बंगला भाषा में इस ग्रंथ का अपूर्व स्वागत हुआ है। बंगला भाषा में इस ग्रंथ के लेखक स्व० श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य अपने उपनाम शंकर नाथ राय के नाम से विख्यात हैं।

सारे देश के सब क्षेत्रों के महानुभावों से हमें हर तरह की सहायता मिली है। उनकी सहायता के बिना इसका प्रकाशन कभी संभव नहीं होता। उनका नाम गिनाकर दो-चार पंक्तियों में उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। इस अवसर पर उन महानुभावों के प्रति हम अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

इस ग्रंथ के अनुवादकों के प्रति भी हम कृतज्ञ हैं।

हिन्दी के विज्ञ, सत्यान्वेषी एवं धर्मानुरागी पाठकों के समक्ष यह ग्रंथ उपस्थित है। इसकी महत्ता और उपयोगिता का निर्णय उन्हें ही करना है।

निर्भय राघव मिश्र

विषय-सूची

१. महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्यदेव १
२. स्वामी अभेदानंद १२६
३. गोस्वामी लोकनाथ १८५
४. यामुनाचार्य २१३

महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्यदेव

निमाई पंडित गया से चलकर नवद्वीप वापस आ गये हैं। लेकिन अब वे पूरे तौर पर बदल गये हैं; पुराना रंग-ढंग बिल्कुल ही गायब। इस यात्रा ने उन्हें हठात् परिवर्त्तित कर सर्वथा नया मनुष्य बना दिया है। विद्या का वह अभिमान, कूट तर्कों का वह अद्भुत विलास, पता नहीं कहाँ चला गया ! उसकी जगह पर रह गई है केवल एक अद्भुत विरह-भावना ! श्रीकृष्ण से अलग हो जाने की जो वियोग-वेदना राधा को मथती रही, वही अब उन्हें मथने लग गई है। आर्त्ति और दैन्य की उस दशा में उन्हें जिसने एकवार भी देख लिया, वह रोये विना रह नहीं पाता। विद्या के दर्प से तृप्त पांडित्य को, यकायक यह क्या हो गया ? इसवार जब से वे नदिया आये हैं, तब से, उनका यह नया रंग-ढंग देखकर, हर कोई चकित और विगलित है।

व्यक्ति-सत्ता के इस रुपान्तर की कहानी बड़ी ही विचित्र और अनूठी है। गया जाकर पंडितजी ने, सब से पहले तो अपने पितरों के लिए पिण्डदान का धार्मिक अनुष्ठान पूरा कर लिया, तब वे उस विष्णुपद-मंदिर में पैठे, जो काली पहाड़ी की बगल में ही खड़ा है। वहाँ भगवान् विष्णु के लोकपावन चरण-चिह्न के दर्शन सभी करते हैं, तो वे कैसे नही करते ? मगर निमाई पंडित के लिए उस मंदिर में पैठना जितना सहज हुआ, उतना निकलना नहीं। एक अपूर्व भावावेश ने उन्हें मंदिर में ही जैसे चारों ओर से घेर कर अचेत कर दिया। उनकी सजल अधीरता की कोई सीमा ही नहीं रह गई थी।

राशि-राशि सुगंधित पुष्पों, हवन-द्रव्यों और अगुरु-चंदन से आमोदित मंदिर के उस गर्भ-गृह की बात ही निराली है। झुण्ड-झुण्ड नर-नारी का बारी-बारी से कतार बाँधकर अर्घ्य अर्पित करना और फिर उसी प्रकार लौट जाना नयनाभिराम दृश्य उपस्थित कर देता है। ऐसी ही उत्सवमय उल्लास-वेला में, निमाई पंडित को, दिव्य भावों की उमंग ने अकस्मात् उद्वेलित कर दिया। उनका अंग-प्रत्यंग भक्ति के परम मधुर भाव के उद्रेक से थर-थर काँपने लगा। आयत नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो चली। वे सुध-बुध खोकर

एकटक भगवान् विष्णु के चरण-चिह्न को देखते रह गये। उनके कानों में उस स्तुति के शब्द गूँजते रहे, जिसे ब्राह्मण पुजारियों ने अभी-अभी उच्च स्वर से पढ़ा था। वैदिक मंत्रों की स्वर लहरी की वह मीठी गूँज निमाई पंडित को पुकार-पुकार कर कह रही थी—"यही है परम प्रभु का चरण! महालक्ष्मी इसी चरण की सेवा करती हैं। देवाधिदेव शंकर इसी चरण को अपने हृदय में स्थापित कर धन्यता का अनुभव करते हैं। योगीजन के द्वारा चिर-वांछित, नित्य आराधित, इस चरण को पहचान लो। मुक्तिदायिनी गंगा इसी चरण से निकली हैं।"

और तब निमाई पंडित भक्ति के एक अबूझ आनंद की विवशकारिणी असीमता का अनुभव कर, रो पड़े। उनके क्रंदन-स्वर ने श्रद्धालु दर्शनार्थियों की निगाह अपनी ओर खींच ली। कौन है यह तरुण जिसकी मृगी-सी अधमुँदी आयत आँखें, किसी भी सौंदर्य्य-गर्विता षोडशी की आँखों को मात कर सकती हैं? गोरा-चिट्टा, सुडौल, सर्वाङ्ग-सुन्दर पुरुष यह कहाँ से आ गया? इसका यह भक्ति-विह्वल क्रन्दन पत्थर को भी पिघला दे सकता है। इसके भुवनमोहन रूप को, भूल से भी, जो आँखे एक बार भी देख लेंगी, वे किसी अन्य को देखना गवारा नहीं कर सकतीं। ऐसे असाधारण, अनिन्द्य पुरुष को रोते देखकर, जो न रो पड़े, वह इस धरती पर कौन हो सकता है? उपस्थित दर्शनार्थियों की भीड़ इसी प्रकार की चिन्ता से, स्तंभित हो गई।

मंदिर के गर्भगृह के एक कोने में चुपचाप हाथ जोड़े खड़े हैं, प्रसिद्ध संन्यासी ईश्वरपुरी। निमाई पण्डित के समकालीन वैष्णव आचार्यों में ईश्वरपुरी अग्रगण्य माने जाते हैं। पर इस समय वे एकटक निमाई पंडित को ही देख रहे हैं और आँसू बहा रहे हैं। एक भी शब्द बोल पाना उनके लिए, इस समय, संभव नहीं हो पा रहा है। महात्मा माधवेन्द्र पुरी ने, भक्ति के प्रेमधर्म को उत्तर भारत में प्रतिष्ठित कर देने के बाद, अपने इसी अन्तरंग शिष्य ईश्वरपुरी पर ही, उसके प्रचार-प्रसार का दायित्व सौंप दिया है। भारत के तीर्थों की यात्रा के क्रम में, पूरे देश की परिक्रमा कर, इस समय, वे ही ईश्वरपुरी गया के उक्त विष्णु-पद-मंदिर के उसी गर्भ-गृह में, संयोगवश उपस्थित हैं।

क्या यह रूपवान् तेजस्वी तरुण, ईश्वरपुरी से पूर्व-परिचित हैं? तो क्या वे बहुत दिनों से एक-दूसरे की ही खोज में थे? ईश्वरपुरी की स्निग्ध साकांक्ष दृष्टि से तो ऐसा ही जान पड़ता है। अन्यथा, विष्णु-पद को एकटक देखती रहनेवाली उनकी आँखें, अब, उसी तरह, निमाई पंडित पर क्यों ठहर जातीं?

यों ईश्वरपुरी का नवद्वीप आना-जाना तो लगा ही रहता है। वहीं तरुण

अध्यापक निमाई पंडित से, कई बार उनकी बातें भी हो चुकी हैं। उन्हें अच्छी तरह मालूम है कि केवल व्यापक और गंभीर स्वाध्याय के ही कारण नहीं, अद्भुत, अनुपम और उज्ज्वल प्रतिभा के भी कारण, निमाई पंडित, विद्या-बुद्धि और सूझ-समझ के क्षेत्र में, पूरे भारत की पंडित-मण्डली के द्वारा माने-जाने जा चुके हैं। इतनी छोटी उम्र में नवद्वीप ने यह सम्मान किसी दूसरे को, इसके पहले, प्रदान नहीं किया था। वे ही निमाई पंडित गया के इस विष्णु-पद मंदिर में आकर क्या-से-क्या हो गये ? प्रभु की अहैतुकी कृपा की लीला सचमुच जानी नहीं जा सकती। कुछ इसी प्रकार की बातें याद आ जाने पर ही, ईश्वरपुरीजी, अकस्मात् निमाई पंडित को संभाल लेने के लिए, आगे बढ़े।

निमाई पण्डित ने, देखते ही, ईश्वरपुरी को पहचान लिया। उन्होंने सोचा—बड़े भाग्य से, इस समय, इनका आगमन हुआ है। वैष्णव महापुरुष के दर्शन को विष्णु-पद-दर्शन के अलौकिक पुण्य का ही प्रसाद मानना चाहिए। उन्होंने परम दैन्य-भाव से, चरण-स्पर्श-पूर्वक, ईश्वरपुरी को प्रणाम निवेदित किया और बोले—"जान पड़ता है कि मुझे आर्त्त जानकर प्रभु ने ही इस अनुरूप मुहूर्त्त में, आपको यहाँ ला दिया है। विष्णु-पद के साथ-साथ परम भागवत वैष्णव आचार्य का दर्शन हो जाना, निरा संयोग नहीं हो सकता। मेरी प्रार्थना है कि कृपा-पूर्वक मुझे इसी क्षण, इसी पुण्य-स्थान पर, मंत्र प्रदानकर, चरणों में आश्रय दिया जाय। मैं अपने आपको आपके चरणों में अर्पित करता हूँ। संसार-सागर से मुझे उबार कर, प्रभु के पाद-पद्मों तक कृपया पहुँचा दें।"

ईश्वरपुरी ने स्निग्ध कण्ठ से कहा—"आयुष्मन् निमाई, तुम्हारे पाण्डित्य और प्रतिभा की प्रखरता देखकर मैं नवद्वीप में अनेक वार पुलकित हो चुका था। अब देखता हूँ कि तुम्हारे हृदय में प्रभु के प्रति भक्ति का रस-स्रोत भी उद्गत होता जा रहा है। कृपामय श्रीकृष्ण तुम्हारे अभीष्ट की पूर्त्ति करना चाहते हैं, ऐसा अब स्पष्ट भासित हो रहा है, मुझे।"

ईश्वरपुरी ने शुभ-मुहूर्त्त निश्चित कर निमाई पण्डित को नाम-मंत्र की दीक्षा दी और शक्ति-संचार-पूर्वक उन्हें साधन-भजन के गूढ़ पथ का निर्देश दे दिया। इस प्रकार परम भागवत श्री माधवेन्द्र पुरी के अपूर्व ऐश्वर्य का भक्ति-बीज, उनके अन्तरंग शिष्य श्री ईश्वरपुरी के द्वारा, उसकाल के सर्वोत्तम आधार-पात्र में स्थापित कर दिया गया। उसी भक्ति-बीज के पल्लवित, पुष्पित और फलित माधुर्य-वितान के आमोद को भारत की जनता ने आगे चलकर श्री चैतन्य या गौरांग महाप्रभु के नाम से जाना-पहचाना। प्रेम-मय भक्तिधर्म का जो

लीला-रस जयदेव के गीत-गोविन्द और चण्डीदास-विद्यापति की वैष्णव-पदावली के ब्याज से उत्तर भारत के पूर्वाञ्चल को प्राप्त हुआ था, चैतन्य महाप्रभु को सहस्र-दल कमल बनाकर उसने दिग्व्यापिनी सार्थकता प्राप्त कर ली।

ख्रिस्ताब्द की पन्द्रहवीं शताब्दी के उस युग में बिहार और बंगाल के दो अलग-अलग सांस्कृतिक क्षेत्र निर्दिष्ट नहीं हो पाये थे। काशी, मिथिला और नवद्वीप को संस्कृत शिक्षा-पीठ के रूप में, उस समय, लगभग एक जैसी ही प्रतिष्ठा प्राप्त थी। उसके पहले भी मिथिला और नवद्वीप के बीच सारस्वत आदान-प्रदान की परिपाटी आधी सहस्राब्दी से कम पुरानी न थी। इस अन्त-रंगता के बावजूद भारत के सार्वदेशिक सारस्वत केंद्र काशी से उनका संबंध अव्याहत था। पर इन विद्याकेंद्रों के विद्वानों, संन्यासियों, सन्तों और कवियों को वैष्णव भक्तिधारा के माध्यम से भारतव्यापी आदान-प्रदान का अवसर प्राप्त हुआ था पुरी के जगन्नाथ-मंदिर को केंद्र बनाकर, जो उत्कल के नीलाचल क्षेत्र या पुरुषोत्तम-क्षेत्र के नाम से विख्यात भूभाग में अवस्थित है। वहाँ संपूर्ण दक्षिण भारत के तीर्थयात्रीगण के साथ-साथ असम, नेपाल और मध्यदेश के तीर्थयात्री-गण भी प्रतिवर्ष रथ-यात्रा के अवसर पर एकत्र हुआ करते थे। भारत वर्ष के प्रत्येक आध्यात्मिक महापुरुष कभी-न-कभी पुरी के जगन्नाथ-मंदिर में उपस्थित होना, अपना कर्त्तव्य मानते थे—इस धारणा को विवादास्पद नहीं कहा जा सकता। कुछ जानकारों का तो कहना है कि ईसाई धर्म के प्रवर्त्तक महापुरुष यीशु ख्रिस्त भी अपने जीवन के उत्तरकाल में वहाँ आये थे और बौद्ध साधुओं ने भी उसे सिद्धपीठ के रूप में स्वीकृत किया था। मिथिला और बंगाल के वैष्णवों का तो वह प्रधान तीर्थ था ही। चैतन्य महाप्रभु के प्रधान लीलाक्षेत्र के रूप में पुरी के जगन्नाथ-मंदिर की प्रसिद्धि की पृष्ठभूमि के रूप में उक्त परंपरा का योगदान भी निश्चय ही महत्त्वपूर्ण रहा होगा।

कहते हैं कि चैतन्य देव के पूर्वज उसी परंपरा के कारण मिथिला से आकर नवद्वीप में बसे थे। नवद्वीप और मिथिला के पंडितों के आश्रयदाता के रूप में वल्लाल सेन की उदारता और विद्याप्रेम की दन्तकथाएँ बंगाल की ही तरह, मिथिलांचल में भी प्रसिद्ध हैं। वल्लाल सेन की राजधानी यद्यपि बंगाल में थी, तथापि मिथिला, अंग और मगध में भी उनके राजकीय अधिष्ठान थे, जहाँ उनका आना-जाना लगा रहता था। उत्तर बिहार के मधुबनी जिले के फुलपरास अंचल में उनके एक ऐसे ही राजकीय अधिष्ठान का भग्नावशेष इस समय बलराज गढ़ के नाम से विख्यात है। भग्नावशेष के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि अपने राजकीय आवास के अहाते में ही उस विद्याप्रेमी नरेश ने छात्रों और उपाध्यायों को

अध्ययन-अध्यापन और निवास की सुविधा दे रखी थी। अन्तेवासियों के छोटे-छोटे कक्षों की पंक्तियों के बीच षट्कोणाकार कुएँ का जो अवशेष वहाँ प्राप्त हुआ है, नालंदा के खण्डहर में प्राप्त वैसे ही कुएँ और अन्तेवासी-कक्षों के अवस्थान से, इसीलिए, उसकी तुलना सुगमता-पूर्वक की जा सकती है। कहते हैं कि चैतन्यदेव के पितृकुल और श्वसुरकुल के पूर्व-पुरुषगण भी इसी अंचल के आस-पास के किसी गाँव में निवास करते थे जो राजाश्रय पाकर नवद्वीप में जा बसे थे। मिथिला की पंजी-प्रथा के अभिलेख इस धारणा की पुष्टि कर चुके हैं।

खिृस्ताब्द १४८६ ई० का आरंभिक काल। फाल्गुनी पूर्णिमा की उत्सवमयी संध्या आकाश से धीरे-धीरे उतर रही है। उसकी श्याम आभा पर अस्तंगामी सूर्य की मीठी, लाल-लाल धूप, कुंकुम-गुलाल की वर्षा करती हुई द्रुत गति से भागी जा रही है। नवद्वीप के आकाश और गंगा की धारा के बीच की दूरी को, उदय-कालीन चंद्रमा के उज्ज्वल हास ने आप्लावित कर रखा है। गंगा के तट से होकर नर-नारियों के झुंड आ-जा रहे हैं। आज चंद्र-ग्रहण का योग है। अत: गंगा स्नान करनेवालों का ताता देर तक लगा ही रहेगा। हरि-स्मरण और संध्यावन्दन में रत श्रद्धालुओं के कण्ठ-स्वर ने नीड़-गामी पक्षियों के कोलाहल को दबा दिया है।

ऐसे ही समय में मायापुर-पल्ली के श्रीहट्ट टोले में नारी-कंठों के मंगल-स्वर ने किसी पुत्र-संतान के जन्म की सूचना दी। उलू-ध्वनि और शंखनाद का उत्सवमय समारोह यही बता रहा है।

पंडित जगन्नाथ मिश्र को नवद्वीप में कौन नहीं जानता ? उन्हीं की सुलक्षणा धर्मपत्नी ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया है। यह समाचार जानकर सब को प्रसन्नता हुई।

जगन्नाथ मिश्रकी पत्नी शची देवी की सहेलियों के आनंद की सीमा नहीं। नीलाम्बर चक्रवर्त्ती शची देवी के पिता हैं। ज्योतिर्विद्या में उनकी असाधारण निपुणता ने उन्हें नवद्वीप की पंडित-मण्डली में विश्रुत कर रखा है। दौहित्र के जन्म का समाचार पाकर पोथी-पत्रे के साथ वे भी आ गये। जन्मकाल की गणना करने के बाद उन्होंने शिशु के होनहारपन को विज्ञापित करते हुए कहा —"जातक की कुण्डली देखकर तो मैं दंग रह गया।केवल विद्या-बुद्धि की दृष्टि से नहीं, आध्यात्मिक उपलब्धि और धार्मिक महत्त्व की दृष्टि से भी इसका महिमावान् होना निश्चित है। लोग इसे देवता मानकर पूजेंगे।"

जगन्नाथ मिश्र के उस नवजात पुत्र का रंग-रूप भी अनूठा ही था। जिसने

भी देखा, देखता ही रह गया। वह जिस पूर्णिमा को धरती पर उतरा, उसी पूर्णिमा की कान्ति ने मानो, उसके रूप में शरीर धारण कर लिया था। बिलकुल चाँद-जैसा ही मुखड़ा ! कुन्दन-जैसा शरीर का वर्ण ! बड़ी-बड़ी आँखें कान तक फैली हुई ! भवें भी वैसी ही निराली। उसके भुवन-मोहन रूप को देखकर आँखें जुड़ा जाती हैं। नदिया का वह चाँद बचपन से ही परिपूर्ण उज्ज्वलता की प्रतिमा था।

कालान्तर में नवद्वीप के नर-नारियों ने इसी नयन-मोहन शिशु को 'गौरांग-चांद' कहकर पुकारा और नीलाचल के सागर तट के वैष्णव तीर्थ-यात्रियों ने उसे ही श्रीकृष्ण चैतन्य के रूप में अभिज्ञापित किया। विश्व-हृदय के भक्ति-रस-सागर में ज्वार उठानेवाले पूर्णचंद्र को ऐसे अनेक नामों से पुकारा जाना स्वाभाविक ही था।

मधुर रूप के उस आनन्दघन उल्लास के चारों ओर मधुर प्रेम, मधुर करुणा और मधुर सत्य की जो इन्द्रधनुषी ज्योतिलीला उद्‌भासित होती रही, उसका वर्णन संभव न था। प्रभु की कृपा और युग-युग-संचित लोक-पुण्य के फल के रूप में भारतवर्ष ने विश्व की मानव-जाति को चैतन्य के नाम से एक ऐसी अनूठी धरोहर दी, जिसकी तुलना, इतिहास के किसी दूसरे महापुरुष के साथ, अब तक भी संभव नहीं हो पायी है।

जगन्नाथ मिश्र के पिता का घर था श्रीहट्ट के ढाकादक्षिण ग्राम में। वहीं से वे विद्या-अर्जन के निमित्त पं० नीलाम्बर चक्रवर्त्ती के चटसार में आये थे। चक्रवर्त्ती महाशय की कन्या शची के रूप और गुण के अनुरूप वर खोजने की समस्या पिता-माता के लिए कम कठिन न थी। अतः जगन्नाथ मिश्र जैसे सत्कुलजात रूप-गुण-संपन्न कृतविद्य शिष्य को जामाता के रूप में प्राप्त कर लेना उन्हें हृदय से पसंद था। विवाह के पश्चात जगन्नाथमिश्र ससुराल में ही बस गये थे।

पंडित जगन्नाथ मिश्र के प्रथम पुत्र का नाम था विश्वरुप। इसके बाद जो भी संतान पैदा हुई, उनका निधन शैशव-काल में ही होता रहा। इस नये शिशु का नाम, इसीलिए, 'निमाई' रखा गया। जन्म-कुण्डली की गणना के हिसाब से एक दूसरा नाम—'विश्वंभर'—पसंद किया गया था। पर वह नाम अभिलेख में ही पड़ा रहा। लोक प्रचलित नाम 'निमाई' की भाँति, उस नाम की प्रसिद्धि नहीं हो सकी।

निमाई की निश्छल, सौम्य, लोकमोहन हँसी का प्रकाश केवल पं० जगन्नाथ मिश्र के घर-आंगन का खानगी सौभाग्य न था, उस गाँव के प्रत्येक परिवार ने इस प्रकाश को स्वकीय धरोहर मानकर जुगाया-जगाया था। फिर जब अक्षरारंभ

के पश्चात् बालक निमाई अपनी अद्भुत प्रतिभा और श्रुतधरी मेधा का परिचय देने लगे, तो मिश्र-परिवार के उस गौरव-बोध में भी पूरे गाँव ने अपनी भागीदारी कायम रखी।

उस समय निमाई की उम्र सात साल की ही रही होगी, जिस समय मिश्र-परिवार पर एक आकस्मिक आफत आ गई। विश्वरूप ने भी उसी वर्ष सोलहवाँ पार किया था। उनका उपनयन हो चुका था। वस्तुतः उपनयन के बाद से ही विश्वरूप के विचार-व्यवहार में तीव्र वैराग्य के लक्षण प्रकट होने लग गये थे। एक दिन वे अपने माता-पिता से गृह-त्याग करने की अनुमति माँगने आये, तो जगन्नाथ मिश्र और शची देवी के सिर पर, एकवारगी विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। फिर पिता-माता की आज्ञा माँगकर विश्वरूप उसी दिन जब घर से निकले, तो फिर कभी लौटकर नहीं आये। बाद में पता चला कि उन्होंने संन्यास की दीक्षा ले ली है। नये आश्रम में संन्यासी विश्वरूप का नाम पड़ा—'शंकरारण्य पुरी'!

इसके तीन वर्ष बाद परिवार पर एक दूसरी भयंकर विपत्ति फिर आ गई। पं० जगन्नाथ मिश्र को एक सांघातिक रोग ने धर दबाया और अन्ततः उसी रोग के चपेटे में पड़े-पड़े उनका देहान्त हो गया। उस समय निमाई का ग्यारहवाँ वर्ष चल रहा था। उनकी एकमात्र आश्रय-दात्री जननी शची देवी के दुःख की सीमा नहीं थी। फिर भी निमाई की पढ़ाई-लिखाई को उन्होंने बाधित नही होने दिया।

पं० गंगा दास की चतुष्पाठी में निमाई की पढ़ाई-लिखाई पूर्ववत् चलती रही। उनकी प्रतिभा और बुद्धि से उसके सहपाठीगण ही नहीं, अध्यापक महाशय भी चकित थे। मगर उनके उत्पातों, उपद्रवों और नटखटपन की भी कोई सीमा नहीं थी। पाठशाला हो या गंगातट, अथवा घाट-बाट का कोई मनपसंद अड्डा, निमाई का एक-न-एक ऊधम, वहाँ नित्य घटित होता रहता। किसी श्रद्धालु की फुलडाली के सारे फूल गायब कर, आँख की मटक में छू-मंतर हो जाना; गंगा स्नान से लौटते पुजार्थी के सूखे वस्त्र को जल के छींटों से गीला करने के बाद अदृश्य हो जाना, और खेत-बाग में लगाये गये बिरवों को उखाड़ कर चम्पत हो जाना तो निमाई के बायें हाथ का खेल था। ऊधमी बेटे की हरकतों के खिलाफ शिकायतों का ताता लगा ही रहता। मगर पड़ोसी-पड़ोसिनों की मिन्नत करके शची देवी, किसी तरह वातावरण को शान्त रखने की चेष्टा करतीं। निमाई भी, हर ऊधम के बाद, तब तक गायब रहते, जब तक कि अभियोगी पक्ष शची देवी को उलाहना देकर वापस न लौट गया हो, और कार्य-व्यस्तता के

कारण शची देवी पुत्र के अपराध को भूल न गई हों।

चतुष्पाठी की पढ़ाई समाप्त होते-होते निमाई को 'निमाई पंडित' के नाम से जानना-पहचानना शुरु हो चुका था। उस समय उनकी उम्र १८ वें वर्ष में प्रवेश कर रही थी और बचपन का ऊधमी स्वभाव अपनी चंचलता के साथ अन्तर्धान हो चुका था। किशोर-अवस्था के आरम्भ के साथ उनकी कृतविद्यता की धाक अड़ोस-पड़ोस में जमती जा रही थी। उनके कूट-तर्क का कौशल अमोघ था। शास्त्रार्थ के द्वन्द्व-युद्ध में उनकी अपराजेयता प्रमाणित हो चुकी थी। बात-की-बात में वे कठिन-से-कठिन गुत्थियों को उधेड़ कर रख देते। वाक्पटुता, तत्त्व-ग्राहिता, उपस्थित-मतित्व और अमोघ स्मरण-शक्ति के कारण वे नवद्वीप के तरुण पंडितों में अग्रगण्य मान लिये गये और इस यश के कारण उनके दुर्धर्ष पाण्डित्य को एक उदात्त गर्व-बोध ने आक्रामक, प्रचण्ड और उदग्र बन जाने की सुविधा दे दी थी।

निमाई के पाण्डित्य का आतंक केवल नयी पीढ़ी के तरुण पंडितों को ही नहीं, पुरानी पीढ़ी के बयोवृद्ध विद्वानों को भी विस्मित, विमूढ और निरूपाय करने लगा है। तर्क-कौशल और उपस्थापन-चातुर्य के सहारे निमाई पंडित किसी भी प्रतिपक्षी को घपले में डालकर उसकी बोलती बन्द कर सकते हैं। कूट-प्रश्नों के जरिये किसी को भी चक्कर में डाल देना उनके बायें हाथ का खेल है। उनके सामने आ जाने पर किसी की भी मिट्टी पलीद हो सकती है। इसीलिए जिस राह से वे आते दिखाई पड़ जाते हैं, नवद्वीप के पण्डितगण उस पथ को छोड़कर दूसरी पंगडंडी पकड़ लेते हैं।

चतुष्पाठी का छात्र-जीवन व्यतीत करने के बाद निमाई पंडित ने अध्यापक की जीविका ही चुनी। नवद्वीप के शहरी हिस्से में मुकुन्द संजय नामक एक संपन्न सज्जन रहते थे। उनके द्वारा स्थापित चण्डीमण्डप का अहाता सुरम्य और विशाल था। निमाई पंडित ने अध्यापन का कार्य आरंभ करने के लिए, उसे ही, अपने नये 'टोल' के रूप में चुना। उनकी विद्वत्ता पहले से ही विश्रुत थी। अतः दूर-दूर से आनेवाले ज्ञान-पिपासु छात्रों को भी निमाई पंडित के 'टोल' में ही प्रवेश पाने की ललक होने लगी और देखते-देखते वह टोल प्रसिद्ध हो उठा।

निमाई पंडित की विधवा माता शची देवी यशस्वी पुत्र की प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा से आह्लादित और तुष्ट थीं। अब उन्हें चिन्ता थी, तो केवल एक बात की। निमाई के लिए अनुरूप वधू की खोज कर, वे गृह-भार से मुक्त हो जाना चाहती थीं। वल्लभ आचार्य की सुलक्षणा कन्या लक्ष्मी देवी पर उनकी दृष्टि

उसी क्रम में पड़ी। वल्लभ आचार्य भी निमाई पंडित को जामाता के रूप में पसंद कर चुके थे। शुभ लग्न में विवाह-विधि संपन्न हुई और शची देवी की पुत्रवधू बनकर लक्ष्मी देवी निमाई पंडित के घर आ गई।

अध्यापन का कार्य निमाई पंडित ने अभी-अभी शुरू किया है। मगर इससे क्या होता है ? उनके व्यक्तित्व, कृतविद्यता और क्षमता की असाधारणता का लोहा तो सब मानते हैं। बीच-बीच में उनकी प्रतिभा के अलौकिक प्रकाश की छटा भी प्रकट होती ही रहती है। पंडित-मंडली में प्रचलित किंबदन्तियों ने उन्हें अपने नायकों की सूची में दाखिल कर लिया है। यह सौभाग्य नवद्वीप में किसी बिरले को ही प्राप्त होता होगा। इसी समय एक नवीन प्रसंग उपस्थित हो गया।

कश्मीर-अंचल के एक प्रौढ पंडित हैं, आचार्य केशव। अपनी शिष्य-मण्डली के साथ, संपूर्ण भारतवर्ष में, वे पर्य्यटन करने निकले हैं। उनके पाण्डित्य की धाक पूरे देश में स्थापित हो चुकी है। उनसे तर्क-युद्ध करने का साहस जिसने भी दिखाया, उसे मुँहकी खानी ही पड़ी। और वे ही आचार्य केशव, संयोगवश, नवद्वीप आ पहुँचे हैं। इसलिए नवद्वीप की पण्डित-मण्डली को इस समाचार ने यदि आतंकित कर दिया है, तो आश्चर्य नहीं। आचार्य केशव केवल शास्त्रज्ञता और वाक् कौशल के क्षेत्र में ही बेजोड़ नहीं हैं, वे संस्कृत के यशस्वी कवि और साहित्यकार भी हैं। उनके आमने-सामने होना, अपार साहस के बिना, किसी के लिए, क्या संभव है ? नवद्वीप की पण्डित-मंडली के सामने यह प्रश्न बार-बार खड़ा हो जाता है।

मगर निमाई पण्डित गंगा के तट पर निश्चिंत बैठे शास्त्र-चर्चा में निमग्न हैं। छात्रों के दल उन्हें चारों ओर से घेर कर बैठे हैं। तभी कश्मीर-केसरी आचार्य केशव की पालकी उसी पथ से आती दिखाई पड़ी। आचार्य केशव की दृष्टि तरुण अध्यापक निमाई पंडित पर पड़े, यह स्वाभाविक ही था। उन्होंने अपनी पालकी रुकवा दी और निमाई पंडित के पास आकर उन्हें अपना परिचय दिया।

भारत-विश्रुत वयोवृद्ध विद्वान् को हठात् सामने पाकर निमाई का चकित और प्रसन्न होना अप्रत्याशित नहीं था। अनुरूप आदर और सत्कार के शिष्टाचार का पालन निमाई पंण्डित ने नम्रतापूर्वक किया। थोड़ी देर तक परिचयोत्तर संलाप होता रहा। उसी क्रम में निमाई पंडित ने कहा—"आचार्यवर,

आपकी काव्य-प्रतिभा की प्रशंसा सुनकर मैं अतीव उत्कंठित हूँ। हमारी आंखों के सामने हैं मुक्तिदायिनी भागीरथी और आप। क्यों न भगवती भागीरथी की आराधना में रची गई आपकी काव्य-पंक्तियों को सुनकर हम इस समय पाप-ताप से मुक्त हो जाने का सुख, लगे हाथों, प्राप्त कर लें ?"

अनुरोध होने भर की देर थी। आशु-कवि आचार्य केशव की सद्यः-स्फूर्त्त काव्य-मन्दाकिनी, गंगा की अविरल अजस्र धारा की ही तरह, बह चली। क्षण भर का भी विराव नहीं। गंगा की स्तुति में रची गई उन पंक्तियों को सुनने-वाले, आश्चर्य और उल्लास से अवाक् हो गये। स्तोत्र जितना दीर्घ था, उतना ही मधुर और सरस !

उस काव्य-पाठ के बाद आचार्य केशव ने अपनी ध्यान-मुद्रित आँखें खोलीं और निमाई पंडित की ओर साकांक्ष दृष्टि से देखा। मानो शिखर-चारी गरुड़ ने मानसरोवर में तैरनेवाले हंस-शावक के डैनों का पर्य्यवेक्षण करना चाहा हो।

आचार्य केशव के मनोभाव को ताड़ने में निमाई पंडित को कोई कठिनाई नहीं हुई। उनकी एक-एक पंक्ति को वे अब इस प्रकार दुहराने लगे, जैसे किसी पढ़ी-पढ़ाई पुस्तक की कंठस्थ पंक्तियों की सस्वर आवृत्ति कर रहे हों। इस आवृत्ति के क्रम में ही एक-एक पंक्ति का सार-गर्भ सिंहावलोकन भी होता रहा। शब्द, अर्थ, रीति, गुण, छन्द, अलंकार आदि की दृष्टि से उनकी खूबियों और खामियों की समीक्षा करने में एक पहर से अधिक समय व्यतीत हो गया। किंतु निमाई पण्डित की आलोचना का अन्त नहीं। शास्त्र की मर्य्यादा का उल्लंघन कर ठकुरसुहाती करना, निमाई पंडित की नम्रता किंवा शिष्टाचार की रीति नहीं। अतः यह तो स्पष्ट हो ही गया कि स्तोत्र के नाम पर जो कर्ण-मधुर नादावली कश्मीरी महाकवि के द्वारा नवद्वीप की गंगा को अर्पित की गई थी, उसके गुणों की ही गणना संभव थी, दोषों की नहीं। वे तो अनगिनत थे ! कम-से-कम पाणिनि और पतञ्जलि की तो यही अभिमति हो सकती थी। कश्मीर-वासी होने के बावजूद, आनंद वर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट को भी अलग राय देने में कठिनाई ही होती। निमाई पंडित को आचार्य केशव के गंगा-स्तव की एक-एक पंक्ति को दुहराने की आवश्यकता, इसी निष्कर्ष पर पहुँचने के क्रम में हुई थी !

श्रुतिमधुर, सरल और स्वच्छ देववाणी की अपनी अजस्र वाग्धारा को जब निमाई पंडित ने विश्राम दिया, तो उपस्थित पंडित-मण्डली, देरतक, 'साधु-साधु' करती ही रह गई।

आचार्य केशव थोड़ी देर तक विस्मित-विमूढ़ बने मौन बैठे रहे। किन्तु

चुप रहना उनके पक्ष में न था। अतः उन्होंने अपने पक्ष के प्रतिपादन के लिए, निमाई पंडित की युक्तियों का खण्डन करना चाहा। किन्तु आचार्य केशव के द्वारा उपस्थापित एक भी युक्ति, निमाई पंडित के सामने, मुहूर्त्त भर के लिए भी, ठहर नहीं पाई।

आचार्य केशव को निरुपाय देखकर निमाई पंडित ने आदरपूर्वक कहा : "महाशय, आज इस चर्चा को यहीं स्थगित कर दिया जाय। हम फिर कभी मिल लेंगे। आज काफी विलम्ब हो गया है और आप थक भी गये हैं। फिर, यह भी तो है कि आपकी पालकी किसी अन्य स्थान के लिए विदा हुई थी। मेरे कारण उसमें भी वाधा पड़ गई। हमारा परस्पर परिचय हो गया है और आप अभी नवद्वीप में आये ही हैं। अतः आप से वार-वार मिलते रहने का सौभाग्य तो मैं प्राप्त कर ही लूँगा।"

कश्मीर के भारत-दिग्विजयी पंडित आचार्य केशव, निमाई पंडित का अनुरोध मानकर अपनी पालकी में जा बैठे, तो उपस्थित पंडित-मंडली ने उनकी सम्मिलित अभ्यर्थना की।

मगर इसके बाद नवद्वीप में उनसे वार-वार मिलते रहने की अपनी आशा, निमाई पंडित किसी भी तरह, पूरी नहीं कर पाये। दूसरे दिन मध्याह्न काल से पहले ही, आचार्य केशव, नवद्वीप छोड़कर, कश्मीर लौट गये थे। फिर उस दिग्-विजयी आचार्य का किसी को पता ही न चला!

लेकिन नवद्वीप से जाने के पहले, वे निमाई पण्डित से एकान्त में मिलने, अकेले ही, आ गये थे। दोनों में क्या बातें हुई, इसका पता किसी तीसरे को चल जाय, ऐसा कोई उपाय न था। ऐसी स्थिति में अनुमान को एक मात्र प्रमाण मानकर आप्त वाक्यों का सहारा लेना ही पड़ता है। अद्भुत किंबदन्तियों का उद्भव और विकास, ऐसी ही स्थिति में संभव होता है। आचार्य केशव और निमाई पण्डित के उस एकान्त-संलाप के संबंध में भी ऐसा ही हुआ।

नवद्वीप की गंगा के किनारे, अलग-अलग चटसारों के छात्र-पण्डितों की टोलियाँ जब सायं-कालीन मिलन-स्थली पर एकत्र हुईं तो तबतक, आचार्य केशव और निमाई पण्डित के उस एकान्त-संलाप का वृतान्त संपादित हो चुका था।

उसके अनुसार, आचार्य केशव ने निमाई पण्डित को अपने एक स्वप्न की कथा सुनाई थी। स्वप्न में उन्हें विद्या की देवी सरस्वती ने प्रकट होकर कहा था कि निमाई पण्डित तो लोकोत्तर सत्ता के प्रकाश हैं। पाण्डित्य के गर्वावेश में आकर उनके प्रति आचार्य केशव ने अपराध किया था। वैसी स्थिति में क्षमा-याचना-पूर्वक नवद्वीप का त्याग ही निष्कृति का एक मात्र उपाय है।

निमाई पण्डित जब कभी अपने अमोघ पाण्डित्य के बल पर विजय-लाभ करते, तो गंगा-तट की उस किंबदन्ती-सभा को एक-न-एक अद्‌भुत वृत्तान्त की सृष्टि करने का अवसर अवश्य प्राप्त हो जाता। कहना न होगा कि नवद्वीप के उस पण्डित-पञ्चानन के यश को भारत-व्यापी प्रसार प्रदान करने में, ऐसी किंबदन्तियों का योग-दान भी कम न था।

मुसलमानी हुकूमत के जिस युग में क्षत्रियों की रण-वीरता को प्रकट होते रहने की सुविधा प्राप्त न थी, उस युग में भी, पण्डितों की दिग्-विजय-यात्रा पूर्ववत् जारी थी। निमाई पण्डित ने भी दिग्-विजय-यात्रा के प्रति पर्य्याप्त रुचि दिखाई थी। अनेक दिग्गज पंडितों को पराजित करने के बाद, पूर्व-बंग का पर्य्यटन करने जब वे निकले थे, तो उनकी नवोढा पत्नी लक्ष्मीदेवी हर्षातिरेक से विह्वल हो उठी थीं। विधवा हो जाने के बावजूद, निमाई पंडित की माता शची देवी ने जिस दिन को देखने के लिए, जीवित रहना स्वीकार कर लिया था, क्या वह दिन अब दूर नहीं है ? अध्यापक के रूप में निमाई पंडित के यश का दिनानुदिन विस्तार होता जा रहा है। पूर्व-बंग के राजा ने उन्हें आदर-पूर्वक निमंत्रित किया है। यह गौरव शची और लक्ष्मी को रह-रहकर विभोर कर देता है।

कुछ दिन बाद, निमाई पंडित जब दिग्विजय-यात्रा से नवद्वीप लौटे, तो चारों ओर तहलका मच गया। यश के विस्तार के साथ-साथ, विदाई में, उन्हें प्रचुर संपत्ति भी मिली थी। शची देवी को यह जानकर अपार प्रसन्नता अवश्य होती। मगर इस समय उनके होठों पर प्रसन्नता की स्मिति-रेखा नहीं, आँखों से अश्रु-धारा बही जा रही है। घर की लक्ष्मी ही जो चली गई। कुछ ही दिन पहले, रात की अँधियाली में साँप ने उसे काट लिया था। झाड़-फूँक और विषोपचार का कोई वश नहीं चला। अन्ततः विषैले साँप का वह दंश, लक्ष्मी के लिए, जानलेवा साबित हुआ। सरस्वती के घर में लक्ष्मी रह नहीं पाई।

निमाई पंडित को जब पत्नी के असामयिक निधन का समाचार मिला, तो वे विह्वल हो उठे। किन्तु विधाता के विधान पर मनुष्य का वश ही क्या है ? लक्ष्मी आज होती, तो पति की दिग्विजय-कथा सुनकर, प्रसन्न होती। सती नारी के जीवन में पति के अतिरिक्त, हर्ष और गौरव का कोई दूसरा अधिष्ठान था भी तो नहीं। निमाई पंडित की बड़ी-बड़ी आँखें, यही याद करके, छलछला उठी हैं।

लक्ष्मी के आकस्मिक निधन के बाद से शची उदास रहने लगीं। सूना घर उन्हें रह-रहकर सालता था। उनकी इस स्थिति को देखते हुए निमाई पंडित

को दूसरी वार विवाह करने के प्रस्ताव पर अपनी मौन सहमति दे-देनी पड़ी। माता का अनुरोध टालते रहना अब संभव न था।

सुलक्षणा कन्या की खोज इस वार भी शची ने ही की थी। सनातन पंडित के नाम से प्रसिद्ध थे, उस कन्या के पिता। जनता उन्हें 'राज-पंडित' कह कर सम्मान देती थी। उनके पूर्वज भी मिथिलांचल के ही किसी गाँव के मूल-निवासी थे और राजाश्रय पाकर नवद्वीप में बस गये थे। सनातन पण्डित की चपुष्पाठी भी नवद्वीप में ही थी। अतः निमाई पंडित के कुल-परिवार से वे अच्छी तरह परिचित थे।

विष्णु प्रिया–जैसी रूपवती और गुणशालिनी ग्राम-कन्या को पुत्रवधू बनाकर शची देवी की प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। विवाह का उत्सव सज-धज के साथ संपन्न हुआ। निमाई पंडित को जामाता के रूप में पाकर राजपंडित सनातन ने धन्यता का अनुभव किया। शची देवी का सूना घर-आँगन मंगल-उत्सव से आप्लावित हो उठा। विष्णुप्रिया के सौम्य व्यवहार से निमाई पंडित और शची देवी समान रूप से संतुष्ट और तृप्त थे।

इस वार मिश्र परिवार उत्सवमय वातावरण से फिर मनोहर और मधुमय हो उठा है। एक-एक कर घटित होनेवाले संकटों और आघातों का जो सिल-सिला शची देवी को रह-रह कर मर्माहत करता रहा, विष्णुप्रिया के आगमन से, उसकी याद भी मिटने लग गई है। अब वे गृह देवता रघुनाथ के विग्रह के सामने बैठ कर माला जपते रहने में ही अपना अधिकांश समय व्यतीत कर देती हैं। वृद्धा शची के हृदय में अपने यशस्वी पुत्र निमाई पंडित के लिए अगाध कल्याण-कामना है। नित्य प्रातःकाल, गंगा-स्नान करने के बाद, तुलसी-चबूतरे पर अर्घ्य निवेदित करते समय, वे पुत्र के प्रति अपनी आशीर्वादमय कामनाओं को प्रार्थना बनाकर प्रभु के चरणों में अर्पित करती हैं। निमाई के घर-संसार के आह्लादक समाचार से उन्हें असीम तृप्ति का अनुभव होता है।

और किशोरी विष्णु प्रिया? उसके जीवनाकाश में तो मानो अमृतधारा की अविरल वृष्टि होने लगी है। समूचे नवद्वीप में उससे अधिक सौभाग्यशालिनी वधू कोई और नहीं। वह निमाई पंडित की पत्नी जो है। रूप, विद्या, यश, प्रतिभा, प्रतिष्ठा, जिस दृष्टि से भी विचार किया जाय, उसके पति पूरे नवद्वीप में अद्वितीय और अतुलनीय सिद्ध होंगे। वैसे पति की पत्नी होना साधारण सौभाग्य नहीं। फिर कुन्ती जैसी धर्मप्राणा वात्सल्यमयी सास की सेवा का मनोवांछित अवसर! मातृहृदया शची अपनी नवोढा पुत्रवधू को प्राणों से बढ़कर मानती है।

युवक निमाई के जीवन में सुख, सम्मान, प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य की सुगंध पोर-पोर भींग रही है। उनकी विद्या, प्रतिभा, अध्यापन-कौशल और प्रगल्भ पाण्डित्य की कीर्त्ति-कथा, नवद्वीप में ही नहीं, पूरे उत्तर भारत में व्याप्त है। विद्वत्समाज में प्रचलित अनुश्रुतियों के वे एकच्छत्र नायक बन बैठे हैं। विपक्षी उनके पाण्डित्य से आतंकित हैं और स्वपक्षी उन्हें सारस्वत सामर्थ्य का दिव्य अवतार मानकर श्रद्धा-विह्वल हो रहे हैं।

गृह-जीवन की दृष्टि से भी देखा जाय, तो निमाई जैसे भाग्यशाली पुरुष विरले ही मिलेंगे। कल्याणमयी जननी की वैसी स्नेहच्छाया सामान्य पुण्य का परिणाम नहीं। फिर विष्णुप्रिया जैसी मनोवृत्तानुसारिणी रूपसी पत्नी की साज-सँभाल का कस्तूरिका मोह! कुल, शील, रूप, विवेक, बोध, नैपुण्य, जिस दृष्टि से भी विचार किया जाय, विष्णुप्रिया-जैसी सुलक्षणा वधू का पति होना साधारण सौभाग्य की बात नहीं। रूप से शरीर और रस से हृदय को ओतप्रोत करनेवाली उस अलौकिक आभा को पाकर निमाई पंडित फूले नहीं समाते।

सामाजिक जीवन में वैसा सम्मान और पारिवारिक जीवन में वैसी तुष्टि, नवद्वीप में भी, क्या सबके लिए संभव है?

किन्तु सुख-सौभाग्य के उस अनिंद्य कुसुम-कानन में कुछ ही वर्ष बाद एक दिन एक भयंकर आँधी आ धमकी। इस विपर्य्यय के मूल में किसी का यदि दोष था, तो एक मात्र नियति का ही। पर उसे दुर्नियति कहना भी अनुचित ही होगा। भगवत्प्रेम की जो एकाग्रता निमाई पंडित को वैराग्य और गृहत्याग के पथ पर ले गई, उससे बड़े सौभाग्य की कल्पना भी तो नहीं की जा सकती?

निमाई पंडित की जिस गया-यात्रा का चित्र आरंभ में ही उपस्थापित किया जा चुका है, वस्तुतः उसीने इस प्रसंग में निर्णायक काम किया था। विष्णुपद के मंदिर में और ईश्वरपुरी की मन्त्र-दीक्षा में निमाई पंडित का पुराना व्यक्तित्व केंचुली की तरह, एकबारगी उतरकर, कहीं खो गया। अब अध्यापन शाला के सारस्वत वातावरण में किंवा मिश्र-परिवार के घर-आँगन के आकर्षण में यह शक्ति न थी, कि उस खोये पुरुष को वापस लौटा सके। कृष्ण-प्रेम के अंजन ने निमाई पंडित की दृष्टि में अलौकिक परिवर्त्तन उपस्थित कर दिया। जगत् का रस और रंग अपना आकर्षण खो चुका था। अब तो—

'अनुखन माधव-माधव जपइत राधा भेलि मधाइ
ओ निज भाव सुभावहि बिसरलि अपनहि गुण लुबधाइ
भोरहि सखि दिसि कातर दिठि हेरि छल-छल लोचन पानि
राधा राधा राधा रटइत आधा-आधा बानि!

वृद्धा माता शची और नव-वधू विष्णु-प्रिया इस नये निमाई का वृत्त जानकर स्वभावतः अवाक् हो गई होंगी। झंझा-छिन्न लता से नियति ने एक ही झटके में उसका आश्रय-तरु छीन लिया था।

पूर्व-परिचित निमाई पंडित गया से लौट कर नवद्वीप में वापस नहीं आये। कहाँ गया वह छात्र-वल्लभ अध्यापक ? निमाई पण्डित के छात्रों के इस प्रश्न का उत्तर कौन देता ? वृद्धा माता शची रानी तथा नवोढ़ा वधू विष्णुप्रिया को भी अपने सुपरिचित आलंबन के दर्शन संभव नहीं हुए। यों निमाई पंडित गया से लौटकर आये तो हैं, किन्तु सर्वथा नये रूप में। अपने-पराये के पुराने भेदों से सर्वथा अपरिचित हैं वे। कृष्ण के वियोग में विधुर महाप्रेमी साधक कहकर ही अब उनका एक मात्र परिचय देना संभव रह गया है।

प्रेम-भक्ति की साधना में वे आपादमस्तक मग्न हैं। अध्यापक की वृत्ति का उन्होंने त्याग कर दिया है। विद्या-वैभव का तेज दृप्त उनकी दृष्टि में तुच्छ होकर विरमित हो गया। वे तो प्रेम के भिखारी हैं। प्राणिमात्र के हृदय में परमात्मा के प्रति जो अनादि विरह-वेदना है, उसी के दैन्य और आर्तता से वे दिनानुदिन अभिभूत होते जा रहे हैं। माता शची का लाड़ला पुत्र भारत के अनगिनत मानवों के लिए प्रेम का आनन्द-घन रूप बन बैठा है। विष्णुप्रिया के प्राणेश्वर प्राणि मात्र के प्रेम ठाकुर के रूप में विख्यात हो उठे हैं।

उस दिन गया-धाम में पूज्यपाद ईश्वरपुरी निमाई पण्डित के सम्मुख अकस्मात ही आविर्भूत हुए थे। प्रभु-प्रेरित अनुष्ठान समाप्त करने के पश्चात् वे उसी प्रकार हठात् अन्तर्धान भी हो गये। उसके बाद फिर उन्हें ढूँढ़ पाना किसी के लिए संभव नहीं हुआ।

उस दिन निमाई पण्डित के कान में वैष्णव-भक्ति का जो सिद्ध-मंत्र, उन्होंने, एकान्त में डाल दिया था, उसका प्रभाव शनैः शनैः प्रकट होने लगा। निमाई पण्डित का विद्याभिमान उस मंत्र के प्रभाव से क्षण मात्र में विगलित हो गया। वे व्याकुल हो उठे कृष्ण-मिलन की पिपासा से। विरह की असह्य मदन-ज्वाला से वे रह-रह कर अधीर हो जाते हैं। उनका रह-रहकर रोना राह की धरती को आँसुओं से भिगाता रहता है। शरीर के प्रत्येक अवयव से अश्रु-कंप और रोमांच के चिह्न प्रकट होकर उनके सात्विक प्रेम को प्रकाशित कर रहे हैं।

पूज्यपाद ईश्वरपुरी ने उस दिन जो आशीर्वाद दिया था, वह वस्तुतः अमोघ था। उसे फलित होते देर नहीं लगी। निमाई पण्डित ने गुरु-कृपा से

अपने प्राणेश्वर का दुर्लभ दर्शन प्राप्त कर लिया। नवकिशोर नटवर मुरलीधर, मनोहर रूप में उनके प्राण-प्रभु श्रीकृष्ण, उसी क्रम में, उनके समक्ष आविर्भूत हुए थे। निमाई ने युग-युग से जिस इष्ट के विग्रह का ध्यान किया था, उसे पहचानने में उन्हें कठिनाई नहीं हुई। उन्हें लगा कि वे अपने प्रियतम के रूपालोक के असीम सौन्दर्य के समुद्र में ऊभ-चूभ होकर अन्ततः विलीन होते जा रहे हैं।

उस रूप ने—उस माधुर्य ने उन्हें पागल कर दिया। किन्तु उसके बाद वह सहसा अन्तर्धान हो गया। कहाँ खो गया निमाई का भुवन-मोहन प्राणेश्वर? उसके दर्शन पुनर्वार किस उपाय से प्राप्त होंगे? वियोग की उत्कंठा-ज्वाला में निमाई पंडित उन्मत्त हो उठे। वे अधीर स्वर में विलाप करने लगे, 'कृष्ण रे, बाप रे'। निमाई पंडित का प्राण-मन चुराकर पता नहीं, उनका प्राणेश्वर कहाँ छिप रहा? वे पुकार उठे—'हे प्राणों के ईश्वर, आओ-आओ, कृपा करो, अपना वही रूप फिर से दिखा दो।'

साथ के लोगों ने मिलकर निमाई पण्डित को संभालना चाहा, पर उनके प्रबोध-वाक्यों पर निमाई पण्डित का ध्यान नहीं जाता। कृष्ण-विरह की ज्वाला में उनकी व्यक्ति-सत्ता जलकर भस्म होती जा रही है। उस ज्वाला को भला कौन बुझा सकेगा?

निमाई ने रो-रो कर कहा—"भाई रे, अब तुम लोग अपने-अपने घर लौट जाओ। अब लौट कर मैं नवद्वीप नहीं जा पाऊँगा। मुझ पर यदि तुम्हें सममुच तरस आता है तो कृपा करके इतना ही बता दो कि अपने प्राण-सर्वस्व कृष्ण को मैं कैसे और कहाँ पाऊँगा! क्या मेरे हृदय-वृन्दावन को छोड़कर वे मथुरा में जा छिपे हैं? यदि ऐसा है, तब तो मुझे आज ही मथुरा की राह पकड़नी होगी। तुम लोग कृपा करके मुझे छोड़ दो। तुम लोग नहीं समझ पा रहे हो कि मैं वियोग की कैसी दुस्सह ज्वाला में तिल-तिलकर जल रहा हूँ।

मगर साथ के बन्धुओं ने अनेक युक्तियों का अवलंबन करके सान्त्वना और अनुनय-विनय के सहारे निमाई पण्डित को नवद्वीप लौटा लाने में सफलता प्राप्त कर ली।

नवद्वीप में उसके पहले ही निमाई पंडित के इस अद्भुत परिवर्त्तन की कहानी फैल चुकी थी। पांडित्य-गौरव से उद्धत निमाई पंडित को इस आर्त्त-रूप में पहचानना, नवद्वीप-वासियों के लिए नितान्त कठिन हो गया। अब निमाई पण्डित नवद्वीप की पण्डित-मंडली के लिए आतंक के विषय नहीं, वैष्णवोचित दैन्य के मूर्त्त विग्रह बन गये। गया-धाम ने कैसा अद्भुत रूपान्तर घटित कर दिया! ये तो प्राण-प्रभु कृष्ण के विरह में रो रहे हैं। उन्हें रोते देख कर अपने को रोने से रोकना, नवद्वीप के नर-नारियों के लिए संभव नहीं हो रहा है।

निमाई पंडित के इस रूप ने नवद्वीप के वैष्णव-भक्तों के बीच उत्साह की आँधी बहा दी। आपस में बातें होतीं; नवद्वीप के असाधारण पंडित, प्रगल्भ विद्वान् निमाई पंडित को देखो। अब इनकी मति भक्तिमार्ग की ओर बड़े वेग से अग्रसर हो चुकी है। भक्त-समाज के लिए इससे बढ़कर आशा और आनन्द की बात और क्या होगी ?

दूसरे दिन नवद्वीपवासी वैष्णवों की मण्डली निमाई के मुख से उनके अलौकिक अनुभवों की कहानी सुनने इकट्ठी हुई। उस मण्डली में निमाई के समवयस्क मित्रों और सहपाठियों की टोली भी सम्मिलित हो गई। मगर कुछ कहना-सुनना अब निमाई पंडित के वश की बात तो नहीं है। अपने हृदय की वर्णनातीत पीड़ा को वे केवल रो-रोकर ही प्रकट कर सकते हैं। रह-रहकर रो पड़ना ही उनकी एक मात्र चेष्टा है। शुक्लांबर ब्रह्मचारी के घर पर उन्हें चारों ओर से घेर कर वह मण्डली बैठी, तो घंटों चुपचाप बैठी ही रह गई।

पूर्व-परिचित बन्धुओं को देखकर निमाई के कृष्ण-विरह की ज्वाला और अधिक उद्दीपित हो उठी। श्रीमद्भागवत के श्लोकों को गा-गाकर वे फूट-फूट कर रोने लगे। तीव्र भगवत्प्रेम के आवेश में वे हठात् उठकर खड़े हुए और पछाड़ खाकर गिर पड़े। उनका कनक-गौर शरीर तबतक धूल में लोटता रहा, जब तक कि वे मूच्छित न हो गये। क्रन्दन का प्रेमोन्माद मूर्च्छा की स्थिति में भी उनके अविरल अश्रु से पृथ्वी को भिगोता रहा।

"मेरे कृष्ण कहाँ गये ? कहाँ गये मेरे कृष्ण ?" कह कर वे झटके से सहसा फिर खड़े हो गये। घर के खंभे को उन्होंने बाहु-पाश में जकड़ लिया। खंभा गाढालिंगन के जोर को सह नहीं सका; बीच से ही कड़-कड़ाकर टूट गया। इसके बाद, 'हा कृष्ण ! हा कृष्ण !' का वही मर्म भेदी विलाप ! निमाई के भगवत्प्रेम की यह उन्माद-दशा देखकर वैष्णवों की दर्शक-मण्डली भौंचक थी।

आपस में हौले-हौले काना फूसी चल रही थी; "इसे ही दिव्य प्रेम का सात्विक विकार कहते हैं। अत्युच्च कोटि के अवतारी महापुरुषों में ही ऐसे सात्विक विकार प्रकट होते हैं। भागवत में सिद्ध भक्त के जिन भावों और दशाओं का वर्णन किया गया है, वे सब इनमें स्वतः विद्यमान हैं। दीर्घ साधना और अनवरत तपस्या के बाद भी, किसी-किसी विरले सिद्धों में ही जो चिह्न देखे जाते हैं, वह तरुण निमाई पण्डित में अनायास ही कैसे दिखाई देने लग गये ? यही तो आश्चर्य है !"

मुरारि, सदाशिव, दामोदर आदि अनेक साधक अन्ततः इसी निष्कर्ष पर

पहुँचे कि गया-धाम में निमाई पंडित को निश्चय ही इष्ट का दर्शन प्राप्त हो चुका है। तभी तो पूर्व जन्म के पुण्यमय संस्कार इतने प्रचण्ड वेग से इनके इस जीवन को अभिभूत कर, इस तरह हठात् प्रकट हो रहे हैं।

बन्धु-मंडली के बीच ऊहापोह चलता रहा। परमेश्वर किसके हाथों क्या करना चाहते हैं, यह किसे मालूम ? पर यह स्पष्ट जान पड़ता है कि निमाई पंडित अब निरे पंडित नहीं रह गये हैं; उन्हें भगवत्-प्रेरित शक्तिधर महापुरुष मानने के पर्य्याप्त आधार हैं। संभव है कि भारतवर्ष में उस भक्तिमार्ग को पुनरुत्थापित करने के लिए ही निमाई का अवतरण हुआ हो, जो भक्तिमार्ग काल प्रवाह की विपरीत धारा के कारण, उत्तर भारत में धूमिल पड़ता जा रहा था। ऐसा निर्धारण करके चकित वैष्णव-मंडली अवश्य ही आश्वस्त हुई होगी।

निमाई सहसा फूट-फूट कर फिर रो-पड़े : "भाई गदाधर, तुम धन्य हो। तुम पहले से ही कृष्ण भजन में लीन रहते आये हो। मगर मेरी जिन्दगी तो अन्य कामों में लगी रहकर व्यर्थ ही बीतती रही। गया जाकर, भाग्यवशात् मुझे श्रीकृष्ण की झलक मिली भी, तो मैंने उस सौभाग्य को फिर गँवा दिया। मुझे तुम लोग जरा बता दो कि कहाँ जाकर, किस उपाय के सहारे, अपने प्राण-प्रभु को मैं फिर देख पाऊँगा।"

वाण-विद्ध पंछी के तड़फड़ाते डैनों की तरह, कृष्ण-विरह की पीड़ा में, निमाई पंडित रह-रहकर छटपटा उठते हैं। संगी-साथी उन्हें चारों ओर से घेर कर खड़े हैं। लोकोत्तर भक्ति के उच्छ्वास का अनुभव कर, वे विस्मित और अवाक् हैं।

मित्रों के प्रबोध-अनुरोध, अनुनय-विनय से निमाई पंडित जब कुछ-कुछ शान्त हुए, तो कुछ लोग उन्हें सहारा देकर घर तक पहुँचा आये।

टोला की पढ़ाई ढाई-तीन महीनों से ठप्प पड़ी हुई थी। निमाई पंडित को अध्यापक के अपने पुराने आसन पर बैठा दिया गया। किन्तु तेजोदृप्त प्रगल्भ वाग्मिता की वह अजस्र धारा अब कहाँ ? अध्यापक की प्रचण्ड प्रगल्भता को विरही भक्त की कातर दीनता ने आच्छादित कर दिया है। कृष्ण-विरह की अधीरता आँसू बनकर आँखों से बरस रही है।

जिज्ञासु छात्रों की आशान्वित टोलियाँ सबक पाने की उत्कण्ठा से उमड़ पड़ी हैं। पर सबक देनेवाला वह तरुण अध्यापक तो व्याकरण-ग्रंथ को देखते ही, 'कृष्ण, कृष्ण,' कह कर मूर्च्छित हो गया ! भावावेश की प्रगाढ अवस्था में

घंटों गुमसुम बीत गये। भागवत के श्लोक और श्रीकृष्ण के नाम स्मरण के अतिरिक्त और कुछ बोल पाना निमाई के लिए अब संभव जो नहीं है। बड़ी-बड़ी आँखों से अविरल अश्रुधारा बही जा रही है।

थोड़ी देर के लिए प्रकृतिस्थ होकर, सामने उपस्थित छात्र को निमाई पंडित ने बड़े गौर से देखा और बोले—"सौम्य, अब अध्यापन का यह काम मेरे लिए संभव नहीं रह गया है। ग्रंथ को देखकर अब पाठ और व्याख्या की रुचि नहीं जगती। जगे भी तो कैसे? आँखें खुलते ही वह साँवला शिशु सामने आकर बैठ जाता है। उसके हाथ में मुरली, शिर पर मोर-मुकुट, गले में वनमाला देख कर फिर सुधबुध खो देता हूँ। होश में नहीं रह पाता। उसके चारों तरफ अमृत की ज्योति छिटकती रहती है। उसकी मीठी मुसकान मन-प्राणों को चुरा लेती है। वह मुरली को टेरते-टेरते मेरे हाथ पकड़कर, खेलने के लिए जब मचलने लगता है, तब पूरी दुनिया ही अचानक अदृश्य हो जाती है। अब मुझे छुट्टी दे-दो, सौम्य! मैं तुम लोगों को आशीर्वाद दे रहा हूँ कि तुम्हारी मति श्रीकृष्ण के चरणों के प्रति शीघ्र ही समर्पित हो जाय! यह आशीर्वाद मैं पूरे हृदय को खोलकर दे रहा हूँ।"

छात्रगण ग्रंथ समेट लेते हैं और निमाई पंडित के कीर्त्तन में अश्रुविगलित कण्ठ-स्वर से योगदान देते हुए, नाचने-गाने लगते हैं!

हरि हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः
गोपाल, गोविन्द, राम, श्रीमधुसूदन!'

निमाई का हृदय भावोच्छ्वास के समुद्र-से उद्वेलित हो रहा है। वार-वार धरती पर लोट-पोट होते रहने के कारण उनके सुवर्ण-गौर अंगों में धूल लग जाती है। अश्रु-प्रवाह से उनके वस्त्र गीले हो गये हैं। कभी-कभी, घड़ी भर के लिए, वे होश में आते भी हैं, तो दिव्योन्माद की दशा, उन्हें दूसरे ही क्षण, फिर घेर लेती है। छात्रों की टोलियाँ रोज आती हैं, पर बँधी पोथियों को खुलने का अवसर ही नहीं मिलता। अध्ययन-अध्यापन का काल कीर्त्तन करने में ही व्यतीत हो जाता है। धीरे-धीरे अध्यापन का वह टोल, एक दिन, आप ही बन्द हो गया।

निमाई पण्डित जिस कृष्ण-प्रेम की पीड़ा में दिन-रात अधीर रहा करते है, उसका रहस्य शची देवी की समझ में नहीं समा पाता। वे उस दिन की प्रतीक्षा बड़ी अधीरता से कर रही हैं, जिस दिन उनके पुत्र की मति, पहले की ही तरह, अध्ययन-अध्यापन की अपनी कुलोचित वृत्ति में दृढ हो जायगी। वे अपने पुत्र की प्रगाढ़ प्रेम-दशा को व्याधि से अधिक महत्त्व नहीं देतीं। पुत्र-वत्सला माता की मनोव्यथा और दुश्चिन्ताओं का अन्त करनेवाली वह शुभ घड़ी कब

आयगी ? यह कौन कहेगा ?

पति को प्राणों से अधिक चाहनेवाली नववधू विष्णु-प्रिया के जीवन का कैशोर्य-काल अभी तक व्यतीत नहीं हुआ है। उसके लिए उस रहस्य को समझ पाना और भी कठिन है। अज्ञात भय और आशंका से उसका हृदय रह-रहकर कातर हो उठता है। कैसा अबूझ परिवर्त्तन घटित हो गया है उसके प्राणेश्वर में ! गया जाने से पहले तो वे पूर्णतः स्वस्थ थे। उन्माद का कोई चिह्न उनमें कभी किसी ने लक्ष्य नहीं किया था। पर गया से लौटने के बाद से, इस तरह रह-रह कर रो पड़ना और 'कृष्ण, कृष्ण' कहकर मूर्च्छित हो जाना, यदि उन्माद नहीं, तो और क्या है ? कठिनाई यह है कि अपने भय और संदेह को मिटाने के लिए, वह मुँह खोलकर किसी से जिज्ञासा भी तो नहीं कर सकती।

पड़ोस के श्रीवास पंडित के साथ मिश्र-परिवार की पुश्तैनी मित्रता है। वे वैष्णव भक्त और विद्वान् के रूप में जाने-माने जाते हैं। शची देवी के मन में उनके प्रति आदर और श्रद्धा के भाव हैं। वह उनकी बातों पर भरोसा करती हैं। निमाई की मनोदशा में अबूझ परिवर्त्तन का समाचार उन्होंने श्रीवास पंडित को सूचित कराया। वे एक दिन कुशल-जिज्ञासा के क्रम में स्वयं उपस्थित हुए।

निमाई के पास बैठकर और सब वृत्तान्तों से अवगत होकर, श्रीवास पंडित के विस्मय की कोई सीमा नहीं रही। वे सोचने लगे निमाई में तो भक्त की सिद्धावस्था के सारे अद्‌भुत चिह्न एक बारगी प्रकट हो आये हैं। जन्मान्तर के पुण्य-संस्कारों के अभाव में ऐसा होना क्या संभव है ?

शची देवी ने श्रीवास पंडित को रो-रोकर पूरा हाल बता दिया : "पंडित जी, एक इसी बेटे का मुँह देखने के लोभ से मैंने जीवन-धारण कर रखा था। विधवा होकर जीवित रहना, दूसरे कारण से, शायद संभव भी न होता। पर अब मैं क्या करूँ ? निमाई को क्या हो गया है, यह, मुझे ही नहीं, किसी को भी मालूम नहीं। गया जाने के पहले तक तो वह पूरी तरह से भला-चंगा था। क्या जीवन के अन्त में मुझे ये दिन भी देखने ही पड़ेंगे ? क्या सचमुच यह व्याधि असाध्य है ?"

श्रीवास पंडित हँसने लगे, बोले : "नहीं, नहीं, उन्माद या व्याधि तो यह नहीं है। यह दिव्य संस्कारों का जन्मान्तरीण प्रादुर्भाव, अपने-आप में, सुदुर्लभ सौभाग्य ही माना जाना चाहिए। इस सौभाग्य का एक कण भी जिसे प्राप्त हो जाता है, उसके हाथों पूरी धरती पवित्र हो जाती है। तुम व्यर्थ की चिन्ता मत करो। तुम्हारे निमाई के शरीर में भगवद् भक्ति के सुदुर्लभ चिह्न प्रकट हो रहे हैं। इसे वायु-रोग या उन्माद मानकर चिन्तित होना अनुचित है।"

निमाई के घर में उसी दिन से नाम-कीर्त्तन किया जाने लगा। यों नवद्वीप में वैष्णव-भक्तों की एक कीर्तन-गोष्ठी पहले से ही चली आ रही थी। किन्तु सामान्य जनता का उससे कोई लगाव न था। अब, जब निमाई पंडित—जैसे विख्यात पंडित स्वयं श्रीकृष्ण का नाम ले-लेकर अपनी कीर्त्तन-मंडली में नाचने-गाने लगे, तो उस शुभ-संवाद के प्रति समूचे नवद्वीप की जनता उत्साहित हुई। श्रीवास, गदाधर, मुकुन्द प्रभृति उस कीर्त्तन में सम्मिलित होने स्वयं पहुँच जाते। करताल, मृदंग, मंजीरा और अन्य वाद्य लेकर श्रद्धालु वैष्णव भक्तगण वहाँ प्रतिदिन घंटों कीर्त्तन करते रहते।

कुछ दिनों बाद इस कीर्त्तन-मण्डली का आयोजन, निमाई के घर से उठकर, श्रीवास पंडित के घर में जा पहुँचा।

उन दिनों वैष्णवों के बीच, विशेषतः बंग प्रान्त में, अद्वैत आचार्य की बड़ी प्रतिष्ठा थी। ज्ञान और भक्ति के अपूर्व मणि-काञ्चन-योग के प्रतीक थे, वे अद्वैत आचार्य। प्रेम-भक्ति के सिद्ध साधक माधवेन्द्रपुरी के ज्येष्ठ शिष्य होने के नाते, बंगाल के वैष्णव उन्हें अपना नेता मानते थे। गीता और भागवत की अद्भुत व्याख्या जिसने भी उनसे कभी सुन ली, वह उन्हें कभी भूल नहीं सका। उसकाल के अनेक भक्तों को उस वैष्णव आचार्य ने अपना आश्रय प्रदान कर उन्हें कृतार्थ कर दिया था। ऐसे ही भक्तों में एक अन्यतम पुरुष 'यवन हरिदास' के नाम से प्रख्यात थे।

अद्वैत आचार्य का मूल-निवास-स्थान था श्रीहट्ट में। पर बाद में, उन दिनों, वे शान्तिपुर को ही अपना स्थायी निवास-स्थान बनाकर साधन-भजन में निरत रहा करते थे। नवद्वीप में भी उनका एक विश्राम-कुटीर था, जहाँ वे बीच-बीच में आकर, कुछ दिनों तक रह लेते थे। वहीं, निमाई पंडित, अपने सखा गदाधर के साथ, एक दिन, उनसे मिलने जा पहुँचे।

अद्वैताचार्य उस समय तुलसी-मण्डप में बैठे ध्यान-पूजा में व्यस्त थे। गदाधर के साथ निमाई को आते देखकर वे स्वभावतः आह्लादित हुए। निमाई में भी सात्त्विक भाव-तरंगों की उत्तालता प्रकट हुई। वे धरती पर लोट-लोट कर, कृष्ण-विरह की पीड़ा को प्रकट करते रहे।

निमाई की दशा देखकर अद्वैताचार्य चकित और भावाभिभूत हो उठे। वे सोचने लगे: क्या साधारण नर-देह के लिए, भगवत्प्रेम का ऐसा दिव्य रूप संभव है? इस देव-दुर्लभ अंग-कान्तिवाले तरुण में तो महाभाव के वे सारे

चिह्न एक-एक कर प्रकट हो रहे हैं, जिनका सांगोपांग वर्णन श्रीमद्भागवत में मैंने पढ़ा था !

अद्वैताचार्य को अपनी वह कातर प्रार्थना याद हो आई, जिसे अपने इष्टदेव के चरणों के प्रति वे अर्से से प्रतिदिन निवेदित करते आये हैं। तुलसीदल, पुष्प, चंदन हाथ में लेकर आज भी तो उन्होंने वही प्रार्थना की थी ! उन्होंने रो-रोकर भगवान् श्रीकृष्ण को पुकारा था और कहा था : "हे गोपीजन-वल्लभ पुरुषोत्तम, तुम्हारी सिरजी हुई धरती पर अब प्रेम नहीं रह गया है, भक्ति नहीं रह गई है। जीवन के प्रत्येक स्तर को क्लेश और कलुश की काई निगलती जा रही है, प्रभो ! आ जाओ मेरे नाथ बस, एक वार ही आ तो जाओ। अपनी कृपा की अजस्र धारा से एक वार पूरी धरती को पखार दो। सब कुछ को पवित्र और स्निग्ध कर दो। प्रवाह-पतित जीवों को अपनी करुणा का आश्रय दो; उनका उद्धार करो।" क्या निमाई पंडित उनकी उसी प्रार्थना का उत्तर बनकर ही आये हैं ?

क्या निमाई की देह-कान्ति भगवत्कृपा की ज्योति का ही कोई दिव्य विग्रह है ? लावण्य के समुद्र को मथ कर नवनीत निकालनेवाले नवनीत-प्रिय के इस अद्भुत कौशल को एकटक देखते रहना, निश्चय ही, इस जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य जान पड़ता है। इसकी आबद्ध आँखों की अर्ध-निमीलित छवि सचमुच अद्भुत है। श्रीकृष्ण के विरह में इन आँखों में उमड़ते आँसू यमुना की याद दिला देते हैं। आर्त्ति, दैन्य और समर्पण का यह आकुल क्रंदन पाषाण को भी विगलित कर सकता है।

अद्वैताचार्य मन-ही-मन अपने इष्ट-देव से पूछ रहे हैं : 'हे लीलामय प्रभो, क्या मेरी आँखों के सामने यह तुम्हारी ही छवि वेष बदल कर उपस्थित हुई है ? तुम्हारा बहु-प्रार्थित प्रेममय विग्रह क्या यही है ? निखिल विश्व के मानव-प्राणियों की आर्त्ति और वेदना को अपने हृदय में भरकर कृष्ण-विरह की मर्म-पीड़ा बना लेने की यह क्षमता, तुम्हारे सिवा और किसमें है ? मर्म-विदारक क्रन्दन, अश्रुपात और मूर्च्छा के इस चित्त-निरोध-कारी दृश्य की ओट में क्या तुम्हारी ही लीला-चातुरी बिहँस रही है ?

वृद्ध आचार्य आनन्द के असह्य आवेग से अधीर हो उठे। निमाई में उन्होंने क्या देख लिया, यह उनके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं जान सका। वे निमाई के सामने बैठ गये और पाद्य-अर्घ्य निवेदित कर उन्हीं की पूजा में निमग्न हो गये।

अद्वैत आचार्य के हाथों निमाई के पूजित किये जाने की चर्चा उसी दिन

बंगाल के पूरे वैष्णव-समाज में फैल गई। निमाई पंडित की महिमा उसी दिन नये रूप में फिर से स्थापित हुई। पहले वे नवद्वीप की पण्डित-मंडली के मुकुट-रत्न थे, अब वे भारत वर्ष के वैष्णवों के प्राणवल्लभ बन बैठे। प्रेम-भक्ति की धर्म-साधना उन्हें आलम्बन बना कर पूरे भारत में फैलने लगी।

निमाई पंडित का पुराना परिचय शनैः शनैः खो गया। भक्त-जन के इस हृदयेश्वर को अब भारत की जनता एक नये नाम से पुकारने लगी। 'गौराङ्ग महाप्रभु' 'गौर-सुन्दर', 'श्रीकृष्ण चैतन्य' जैसे अनेक नाम उसी के परवर्ती प्रकारान्तर बनकर विख्यात होते रहे हैं।

अब गौरांग-महाप्रभु की अन्तरंग अपूर्व लीला और कीर्त्तन-मंडली का दैनंदिन अधिष्ठान है श्रीवास के ही आँगन में।

कभी लोगों को गौरांग परम भगवद् भक्त के रूप में दिखाई देते हैं तो कभी श्रीकृष्ण-विरह की अधीर आर्त्तता के मूर्त्त विग्रह के रूप में। वे वियोग-पीड़ा से विगलित हृदय की एक-एक वेदना की कथा सरल चित्त से अपने पार्श्ववर्त्तियों को बताते हैं और अकस्मात् मर्म-विदारक आर्त्तनाद कर, रो उठते हैं। उनकी रुलाई सबको रुला देती है। फिर भक्त की लीला का स्थान ले-लेती है भगवान् की लीला। यह लीला भी अद्भुत, अनुपम और आकर्षणमयी है। चुंबक जिस तरह लोहे को अपनी तरफ खींच लेता है, उसी तरह यह लीला गौराङ्ग के जन्म-जन्म के अन्तरंग पार्षदों को खींचकर, उन्हें गौरांग के निकट पहुँचा देती है। यह लीला चेतना की उद्बुद्ध, उपरमदायिनी, रसदशा की रास-कला है, जिसके माध्यम से प्रकाशित होती है, भावैश्वर्य मयी भगवत्-सत्ता की अनुपम भुवन मोहकता। इस लीला में गौरांग भक्त की आश्रय-दशा में नहीं, स्वयं भगवान् की आलंबन-दशा में प्रकाशित हो उठते हैं। उस समय वे भक्तों के परम आराध्य, हृदयेश्वर, वैष्णव भक्तों के परम जीवन-सर्वस्व बन जाते हैं। यह उनके प्रभु-स्वरूप की विभुता की लीला जो है! वे स्वयं ही प्रभु भी तो हैं।

गौरांग की आरंभिक लीला-भूमि नवद्वीप को भक्त और भगवान् की युगनद्धता के इस ऐश्वर्य और माधुर्य का आस्वाद, एक वर्ष से भी कम अवधि के लिए ही प्राप्त हो सका था। किन्तु इस अल्प-काल में ही गौरांग महाप्रभु के प्रेम-धर्म के विराट् संगठन का आचार बन चुका था। मधुर भजन, रागानुगा प्रेम-साधना और नाम-कीर्त्तन की अपूर्व माधुरी को, बड़ी निपुणता के साथ, इस अल्प-समय में ही व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठा प्राप्त कराई जा चुकी थी।

गौरांग के चिह्नित लीला-सखागण एक-एक कर, इसी अवधि में, उनके निकट आ पहुँचे। उनमें अनेक ऐसे थे, जिनका गौराङ्ग से जन्म-जन्मान्तर का

प्रेम-संबंध था और वे उनसे, अनजाने ही, स्वभावतः आवद्ध थे। मगर कुछ ऐसे लोग भी आये, जिन्हें गौरांग की वर्त्तमान जीवन-लीला के सहचर की हैसियत से काम करने के लिए ही, अदृष्ट दैवी-योजना के हाथों तैयार किया गया था। इन सभी ने समवेत होकर गौरांग महाप्रभु को अपने परम आश्रय के रूप में पहचान लिया और उन्हें अपना अनन्य आराध्य कह कर घोषित किया। इस प्रकार भक्ति की गंगा नवद्वीप में उद्गत हो कर, प्रबल प्रवाह के साथ, देश की अशेष दिशाओं को प्रक्षालित करने के लिए अग्रसर हुई।

गौरांग की भुवनमोहिनी मूर्त्ति और नाम-कीर्त्तन का भुवन-मंगल-कारी लोक-सहज साधन ! इनकी प्रबलता, अमोघता और अनिवार्य आकर्षण का क्या कहना। श्रीवास के आंगन में गौरांग अपनी पार्षद-मंडली से दिन-रात घिरे रहते हैं। महान् प्रेम-मय, महाशक्तिधर गौरांग प्रभु को केन्द्र बनाकर एक विराट् भागवत–गोष्ठी शनैः शनैः आप ही गठित हो गई। इसके साथ ही आरंभ हुआ भारत की भक्ति-साधना का एक महत्तर नवीन युग !

गौरांग महाप्रभु के इस विस्मयकारक माहात्म्य का उत्स कहाँ है ? वे यौगिक ऐश्वर्य को तो भूलकर भी प्रकट नहीं होने देते। शास्त्र–रचना और शास्त्रीय अन्वाख्यान के प्रति भी वे पूर्णतः विरत हैं। फिर उनमें कौन-सा आकर्षण है, जिसके प्रभाव से दूर-दूर के भगवद् भक्तों की मंडली उनकी ओर आप ही खिची चली आती है ? संभवतः इस आश्चर्यकारी समारोह के पीछे, निमाई के सर्व-हृदय-आकर्षण-कारी, सर्व-भाव-द्रावक असीम प्रेम की ही शक्ति की करामात है। उनके प्रेम की थाह नहीं, सीमा नहीं। यह सर्व-प्राणी-वल्लभ सम्मोहन उसी प्रेम की उपज है।

निमाई की अंग-कान्ति में मोती के पानी-जैसा एक अनिर्वचनीय लावण्य आरंभ से ही विद्यमान था। उसके रूप में विश्वमोहक सम्मोहन था और था हृदय को द्रवित कर देनेवाला अनुपम माधुर्य। उन्हें देखते ही सैकड़ो की टक-टकी लग जाती थी और हजारों का झुंड एकत्र हो जाता था। एक वार जो उनके आकर्षण-पाश में फँस जाता, वह जीवन भर के लिए उनके साथ आबद्ध हो जाने के लिए विवश हो जाता था। वह उनके कृष्ण-विरह की पीड़ा से स्वयं ही पीड़ित हो उठता और उन्हें रोते देखकर खुद भी फूट-फूटकर रोता रह जाता। गौरांग सहज ही उसके जीवन-सर्वस्व बन जाते। वे उसके अहरह ध्यान का केंद्र बन जाते। गौरांग प्रभु के इस सम्मोहन की रहस्यमयता को वैष्णव-भक्तों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकृत किया है।

क्या गौरांग के रूपमें कृष्ण-प्रेम का उज्ज्वल स्वरूप ही निरन्तर भासमान हो रहा है ? आर्त्ति, क्रन्दन, आनंद-प्रलाप और प्रियतम की प्रतीक्षा से सिक्त दिन एक-एक कर, किस प्रकार बीतते जा रहे हैं, इसका पता नहीं चलता। दिन-रात का अन्तर भी मिट गया है। वे कभी बेसुध और मूर्च्छित रहते हैं, तो कभी आधी बेहोशी में मग्न। इसके बावजूद अपने चिह्नित जीवन-सहचरों के चुनाव में, भक्ति का यह उन्माद, उनके लिए बाधक नहीं हो पाता। इसमें उनसे तनिक भी चूक नहीं होती।

अन्तरंग पार्षदों में श्रीवास, मुरारि, गदाधर, नरहरि, पुरुषोत्तम, संजय आदि आरंभ में ही आ चुके थे। इसके बाद अद्वैत आचार्य और हरिदास भी गौरांग की लीला-मंडली में सम्मिलित हो गये। इसके बाद प्रतीक्षा हो रही थी नित्यानन्द की, जो कालान्तर में उनके प्रधान पार्षद के रूप में ही नहीं, प्रतिनिधि के रूप में भी विख्यात होनेवाले थे।

उक्त दिन श्रीवास के आंगन में कीर्त्तन की समाप्ति के पश्चात्, भक्तों के साथ गौरांग प्रभु की इष्ट-गोष्ठी चल रही थी। सहसा, किंचित् तीव्र स्वर में सब को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा : "तुमलोग, सब-के-सब, सुनलो। एक अत्युच्च कोटि के महापुरुष इस समय नवद्वीप में पदार्पण कर रहे हैं। उनकी इच्छा है कि वे अपने को अप्रकट ही रखें। मगर तुमलोगों को चाहिए कि तुम उन्हें ढूँढ़कर पहचान लो। मेरे प्राण उनसे मिलने के लिए तड़पने लगे हैं।"

इस कथन से भक्तगण चिन्ता में पड़ गये। नवद्वीप के असंख्य लोगों के बीच नवागन्तुक महापुरुष कहाँ छिपे हैं, इसका पता कैसे चले ? उन्हें ढूँढ लेना कोई आसान काम तो नहीं है। लोगों ने खोजने की चेष्टा अवश्य की। मगर उनका पता नहीं लग सका।

अन्ततः अपने पार्षदों को साथ लेकर, गौरांग प्रभु स्वयं ही उनकी खोज में नगर की ओर चल पड़े। अनिर्वचनीय भावावेश की दशा में वे सीधे वहाँ जा पहुँचे, जहाँ नन्दन आचार्य का घर था। वहाँ जाकर पार्षदों की टोली ने एक तरुण अवधूत को ध्यानमग्न अवस्था में बैठे देखा। उनकी अंगकान्ति शरत्काल की चाँदनी की तरह निर्मल और शुभ्र थी। उस अनिंद्य रूपवान् अवधूत को देखकर आगतगण विस्मित थे। सब उनके सामने हाथ जोड़कर चुपचाप खड़े हो गये। गौरांग प्रभु का निर्देश ऐसा ही था।

इधर गौरांग प्रभु की दशा और भी अद्भुत हो गई। वे अपलक दृष्टि से उस तरुण अवधूत को देखते-देखते भाव-मग्न हो उठे। तरुण अवधूत की

निर्निमेश दृष्टि भी गौरांग प्रभु पर ही टिकी थी। बड़ी देर तक दोनों एक-दूसरे को टकटकी बाँध कर देखते रहे। मगर किसी के मुख से एक शब्द नहीं निकला। विस्मयकर चुप्पी का सन्नाटापन देर तक छाया रहा।

गौरांग की इच्छा हुई कि उस रूपवान् तरुण अवधूत की हृदय-ग्रंथि को अब खोल दिया जाय। इसकी युक्ति भी उन्हें सूझ गई। उन्होंने श्रीवास की ओर संकेत-पूर्ण दृष्टि डाली, जिसे भाँपकर श्रीवास बड़े ही मधुरस्वर में, श्रीमद्-भागवत का एक भक्ति-रसात्मक श्लोक, गाने लगे।

श्लोक-गान के साथ ही एक अपूर्व दृश्य उपस्थित हो गया। ऐसा लगा मानो दिव्य प्रेम के किसी दुर्वार प्रवाह में तरुण अवधूत बहता चला जा रहा है। दोनों आँखों ने आँसुओं की झड़ी लगा दी। अंग-प्रत्यंग में रोमांच और कंप की भाव-विह्वलता प्रकट होने लगी। फिर गौरांग प्रभु ने हाथ बढ़ाकर उसके शरीर का ज्यों ही स्पर्श किया, त्यों ही वह तरुण अवधूत बेसुध होकर धरती पर गिर पड़ा।

इसके बाद उक्त तरुण अवधूत का परिचय छिपा नहीं रह सका। भक्तों को मालूम हो गया कि इन्हीं की प्रतीक्षा में गौरांग महाप्रभु अबतक नवद्वीप में रुके हुए थे। ये तरुण अवधूत ही हैं,महाप्रभु के बहुदिन-प्रतीक्षित लीला-सहचर—श्री नित्यानन्द अवधूत।

महाप्रभु के स्पर्श में कैसी अमोघ दिव्यता है, इसका परिचय भी भक्तों को उसी दिन मिल गया था।

संन्यासी नित्यानन्द को गौर-सुन्दर ने उसी क्षण से अपने प्रेम के अमोघ-पाश में दृढता-पूर्वक आबद्ध कर लिया था। सर्वस्व-त्यागी नित्यानन्द अब गौरांग के अक्षय प्रेम-भाण्डार के भण्डार-पाल बना लिये गये। संन्यास की सीढी उन्हें कर्म-यज्ञ के नूतन शिखर पर प्रतिष्ठित कर, अनावश्यक बन गई। वे गौरांग महाप्रभु के प्रधान पार्षद के रूप में विश्रुत हुए।

ऐसे ही, एक-के-बाद एक कर, अनेक दूर-वासी भक्तगण गौरांग महाप्रभु के आलोक-मण्डल में सम्मिलित होते रहे। विश्व में भक्तिधर्म को स्थापित करने वाले दिक्पालों के रूप में उनमें से बहुतेरों की चर्चा दीर्घ-काल पर्य्यन्त की जाती रही। किन्तु किसी को यह नहीं मालूम है कि उन्हें महाप्रभु के निकट एकत्र करनेवाली अज्ञात योजना किसने बनाई थी। सच तो यह है कि आध्यात्मिक जगत के रहस्यों को जान पाना जन-साधारण के बूते की बात नहीं है। वैष्णव-भक्तों की धारणा तो यह भी है कि चैतन्य महाप्रभु की लीला में सम्मिलित जिन अभिज्ञात महापुरुषों को हम जानते हैं, उनसे कहीं अधिक संख्या में, उस

काल में ऐसे भक्त और महापुरुष भी विद्यमान थे, जो अप्रकट रहकर ही उस लीला में योगदान करते रहे।

किन्तु महाप्रभु के जिन पार्षदों को प्रकट रूप में लीला-सहचर बनना था, उनके रहस्य यथासमय महाप्रभु स्वयं ही प्रकट कर देते थे। ऐसे पार्षदों में कुछ के आने की प्रतीक्षा अभी भी जारी थी। किन्तु निर्दिष्ट शुभ लग्न के उपस्थित होने से पहले वे नही आयेंगे। यह बात भी महाप्रभु ने स्वयं ही बता दी थी।

उस दिन गौर-सुन्दर की सुन्दर आँखों ने फिर आँसू की झड़ी लगा रखी थी। बीच-बीच में 'पुण्डरीक, पुण्डरीक' कह कर वे किसी अज्ञात व्यक्ति को पुकारते जा रहे हैं। यह पुण्डरीक कौन है ?

"हाय रे, पुण्डरीक को देखे विना मेरी छाती फटी जा रही है। यह कैसी निष्ठुरता है तुम्हारी ? शीघ्र आ जाओ, पुण्डरीक ! मैं तुम्हारे विना नहीं रह सकता। अब और विलम्ब मत करो।"—महाप्रभु की इस पुकार को समझ पाना मित्र-मण्डली के किसी सदस्य के लिए संभव नहीं हो पा रहा है।

कौन है वह भाग्यवान् जिसकी प्रतीक्षा में गौरांग-सुन्दर आज प्रातः काल से ही इस तरह अधीर हैं ? भक्तों ने तरह-तरह की युक्तियों के सहारे गौरांग प्रभु से इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करना चाहा। अन्ततः इतना अवश्य मालूम हुआ कि चट्टग्राम अंचल में पुण्डरीक विद्यानिधि नामक एक वैष्णव भक्त सचमुच विद्यमान हैं। प्रचुर संपत्ति और सामाजिक प्रतिष्ठावाले उस सद्‌गृहस्थ की गणना उस क्षेत्र के रईसों में की जाती है। किन्तु साधुओं, पण्डितों और पर्य्यटकों के स्वागत सम्मान में उनकी मुक्त-हस्तता से प्रमाणित होता है कि सामन्तोचित ठाट-बाट के बावजूद, वे वैराग्य और विवेक के आध्यात्मिक रस से अन्तः सिक्त रहा करते हैं। यह दूसरी बात है कि उनके व्यक्तित्व के इस अन्तरंग पक्ष पर जन-साधारण का ध्यान, साधारणतः, नहीं जाता।

गौरांग महाप्रभु ने अश्रु-सिंचित स्वर में अपने भक्तों को संबोधित करते हुए कहा—"आप लोग पुण्डरीक के पास खुद जायँ और मेरे पास उन्हें शीघ्र ले आवें। मेरा वियोग-तप्त चित्त पुण्डरीक को देखे विना शान्त नहीं हो पाता।"

यह सुनकर उपस्थित भक्तगण विस्मित होकर एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। चट्टगाँव और नवद्वीप के बीच की दूरी पैदल चलकर दो-चार दिनों में तो तय नहीं की जा सकती। तो क्या पुण्डरीक कहीं नवद्वीप में ही टिके हुए हैं ? ऐसा हो भी, तो भी उनका पता कैसे लगेगा ? कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि महाप्रभु की आज्ञा का पालन किस प्रकार संभव हो पायगा।

संयोग की ही बात थी कि असंभव काम स्वतः संभव होता जान पड़ा।

उस दिन मुकुन्द नामक भक्त उस कीर्त्तन-गोष्ठी में उपस्थित नहीं हो सके थे। वे भी चट्टगाँव के ही रहनेवाले हैं। पुण्डरीक विद्यानिधि से उनका अच्छा-खासा संपर्क भी है। यदि पुण्डरीक किसी काम से नवद्वीप आ गये होंगे, तो मुकुन्द को इसका पता रहना चाहिए। वैसी स्थिति में पुण्डरीक विद्यानिधि को वे खोजकर प्रभु के पास ले आ सकते हैं।

गदाधर ने खुद जाकर मुकुंद को सारी स्थिति से अवगत करा दिया। मुकुंद के ही मुख से एक वार गदाधर ने पुण्डरीक की धर्म-भीरुता की एक अनूठी कहानी सुनी थी। उन्हें कहा गया था कि पुण्डरीक गंगा की धारा में पैठकर स्नान करना इसलिए अनुचित मानते हैं कि वैसा करने पर गंगाजल के पैर से छू जाने की संभावना है! गदाधर की भी प्रबल इच्छा थी कि वैसे धर्म-भीरु भक्त के साथ, संयोग मिल जाने पर, संपर्क साधने की चेष्टा अवश्य करनी चाहिए। लगता है वह संयोग अब स्वयं ही उपस्थित हो रहा है।

किन्तु विद्यानिधि के सामने उपस्थित होने पर गदाधर चकित रह गये। जिस ठाट-बाट और भाव-भंगी में वे थे, उसे देखकर उन्हें भक्त समझ लेना किसी के बूते की बात नहीं। गदाधर का निराश हो जाना ही स्वाभाविक था।

चेहरे पर राजपूती रौब लिए पुण्डरीक मसनद से उँगठ कर एक शानदार पलंग पर बैठे थे। पलंग पर काफी मोटा गद्दा था और उसके ऊपर दूध-सी सफेद चादर बिछी थी। ऊपर कारु-शिल्पांकित चँदोवा टँगा था। अंग-वस्त्रों का वेशकीमतीपन भी असाधारण ही कहा जायगा। सुगन्धि-द्रव्यों के विमोहक सुवास से आसपास का वातावरण भींग कर मीठा हो गया था। चाँदी का विशाल ताम्बूलदान पास में ही रखा था। रह-रह कर उसमें से कीमती गिलौरियाँ निकाली जातीं और उन्हें मुखस्थ कर लेने के बाद, बातचीत का सिलसिला जारी हो जाता। मोर-पंख हाथ में लिए सिरहाने, पैताने और अगल-बगल में खड़े होकर कई भृत्य पंखा झलने में व्यस्त थे।

गदाधर आरंभ से ही ठाटबाट के प्रति पराङ्मुख रहनेवाले वैरागी स्वभाव के व्यक्ति हैं। उनकी जान वहाँ जाकर साँसत में पड़ गई। वे मन-ही-मन सोचने लगे—यहाँ आकर मैं व्यर्थ ही फँस गया। ये तो नितान्त विलासी जीव हैं। इनका भगवान् और भगवद्भक्ति से दूर का संबंध भी संभव नहीं जान पड़ता। अब यहाँ से बचकर जल्द घर कैसे वापस पहुँचा जाय, यही सोचना है।

गदाधर की भाव-भंगी देखकर मुकुंद को भीतर-ही-भीतर हँसी आ रही थी। वे सोच रहे थे कि भक्त-प्रवर गदाधर के वैराग्य को पुण्डरीक के अनुराग के आमने-सामने कर देने का सुयोग यों ही खोना नहीं चाहिए। वे अकस्मात्

श्रीमद्भागवत का एक सरस श्लोक गा-गाकर पढ़ने लगे। श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन था।

श्लोक की प्रथम पंक्ति के उच्चरित होते ही वातावरण पूर्णतः परिवर्तित हो गया। पुण्डरीक सात्त्विक भावावेग को संभालने के प्रयत्न में असफल होकर, पलंग से फिसलकर, धरती पर लुढ़क गये और मूर्च्छित हो गये। उनके पाँवों के झटके से ताम्बूल-पात्र छिटक कर नीचे गिर पड़ा और करीने से सजाये गये प्रसाधन तितर-बितर होकर टूट गये। उनके स्वेद और रोमांच से थरथर काँपते शरीर और अस्तव्यस्त वस्त्र को सँभालना संभव नहीं हो सका। शिर के घुँघराले सुवासित केश धूल में सनकर बिखर गये।

प्रेमोन्माद के इस अकृत्रिम आवेग को देखकर गदाधर हक्के-बक्के हो रहे थे। उनकी आँखों से आँसू बह निकले। उन्हें मन-ही-मन पछतावा होने लगा कि इस आत्मगोपनकारी भक्त के प्रति अवज्ञा के भाव पालकर, उन्होंने बहुत बड़ी भूल कर डाली है। उन्हें उस मानसिक अपराध के कारण, थोड़ा-थोड़ा भय भी हो रहा था। उन्होंने निश्चय किया कि मन्त्र-दीक्षा के लिए पुण्डरीक से प्रार्थना कर के वे अपने अपराध का मार्जन करा लेंगे।

मूर्च्छा टूटने के बाद पुण्डरीक विद्यानिधि ने दीन और कातर दृष्टि से मुकुंद की ओर देखा और करुण स्वर में पूछा : "मेरे प्राण-प्रभु, प्राणेश्वर श्रीकृष्ण मेरा उद्धार कब करेंगे ? मेरे प्राण तो काठ की तरह कठोर हैं। भक्ति का लेश भी नहीं है मुझ में। तुम्हारे श्रीकृष्ण मुझपर कब कृपा करेंगे ? कब मिलेंगे वे ? जरा बता दो, भाई।"

उसी रात श्रीवास के आंगन में जाकर पुण्डरीक विद्यानिधि ने गौर-सुन्दर प्रभु के दर्शनों की याचना की। वे प्रभु के पार्श्व में हाथ जोड़कर, साश्रु-नेत्र, बैठे रहे। उस समय उनकी वेश-भूषा भी नितान्त साधारण थी। हठात् वे प्रभु के चरण-प्रान्त में लोट-लोटकर रोने लगे। प्रकृतिस्थ होने पर उन्होंने प्रार्थना की : "प्रभो, अन्यलोगों का आपने जिस तरह उद्धार किया है, कृपया, उसी तरह मेरा उद्धार भी करें। अब मुझे अपने पास से धकेल कर दूर मत करें। वह वञ्चना अब मुझ से सही नहीं जायगी।"

गौरांग प्रभु पुण्डरीक की बातें सुन-सुन कर रो रहे हैं और वारंवार एक ही कथन को दुहराते जा रहे हैं : "पुण्डरीक, मेरे प्रिय, तुम्हें पाकर मेरा जी जुड़ा गया; हृदय शीतल हो गया; तुमने मुझे पुनर्जीवन दे दिया।"

भक्त और भगवान् की इस आपसी लीला ने उपस्थित भक्त-मण्डली को चकित कर रखा है। उनके आनन्द की कोई सीमा नहीं है।

प्रभु ने प्रकृतिस्थ होकर कहा—"आज श्रीकृष्ण की असीम कृपा है, मुझ पर। मेरे पुण्डरीक को मेरे पास लाकर उन्होंने मुझे कृतार्थ कर दिया है। लेकिन तुमलोग इतना जान लो कि आज से इन्हें 'विद्यानिधि' नहीं, 'प्रेमनिधि' कहा जायगा। श्रीकृष्ण ने इन्हें तैयार ही किया है प्रेम-भक्ति के निगूढ रहस्यों को अभिज्ञापित करने के लिए।"

पर इस घोषणा के पहले ही गदाधर ने पुण्डरीक प्रेमनिधि से प्रेम-भक्ति की मन्त्र-दीक्षा पाने का सौभाग्य अर्जित कर लिया था।

इधर आकर श्रीवास के आंगन में, नित्य दिन, प्रेम-भक्ति की नई-नई दृश्य-लीला आयोजित होने लगी है। उसमें आध्यात्मिक साधना के अन्तरंग रहस्य ही नहीं, गौरांग-सुन्दर के कृष्ण-चैतन्य-स्वरूप के लीला-वैचित्र्य भी अनायास ही उद्‌भासित हो जाया करते हैं। सभी भावों के भावुक और सभी रसों के रसिक हैं, हमारे गौर-सुन्दर। भक्त कवि वृन्दावन दास की इस संबंध में स्पष्ट घोषणा है :

"दास्य-भाव की आर्त्ति,
कि प्रभु करते है क्रन्दन,
एक पहर के बाद दूसरा पहर बीत जाता है,
गंगा-स्नान-कृत्य की बेला—
जाती रीत, तीर पर रोते-रोते, यूँ ही !
फिर हँसते, तो पहर-पहर भर
हँसना थमता नहीं, मुग्ध हँसते रह जाते !
मूर्च्छित होते, तो फिर पहरों बेसुध रहते,
चलती साँस नहीं,
पलकों का गिरना-उठना बन्द पहर भर !
दैन्य गर्व में बदल मान करता फिर रूठा :
'कान्हा वह मेरा ही है, मेरा ही केवल,
और किसी का हो वह, ऐसा सहन करूँ क्या ?
नहीं, नहीं !' कहकर हँस पड़ते,
सुध-बुध खोकर।"

गौरांग प्रभु भक्ति और प्रेम के रस में निरंतर इसी तरह, विभोर रहा करते हैं। भक्त के दैन्य और आर्त्तता के तो वे, मानो, मूर्त्त विग्रह ही हैं। पर भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य की परिपूर्ण दीप्ति भी, उन्हें माध्यम बनाकर, प्रकट हो जाया करती है। उस समय उनकी तेजोदृप्त आभा अनुपमेय हो उठती है।

भक्त के शरीर में भगवान् के इस सद्यः अवतरण के साक्षी हैं, मुख्यतः अद्वैत, नित्यानन्द, श्रीवास, मुरारि, मुकुंद, हरिदास आदि भक्त।

महाभाव के आवेश से वार-वार अभिभूत होना गौरांग प्रभु की दिनचर्या का अनिवार्य अंश बन गया है। मगर उस दिन की घटना को आवेश कहना कठिन है। वे पूर्णतः प्रकृतिस्थ थे, जब वे श्रीवास पंडित द्वारा पूजित विष्णु-विग्रह के सिंहासन पर जा बैठे थे। सामने भक्तों की आह्लादित मण्डली नाचने-गान में बेसुध होकर कीर्त्तन कर रही थी। प्रभु इस आयोजन को निश्छल निःशंक भाव से बिहँसते हुए एकटक देख रहे थे। भक्तों ने उस दिन भगवान् मानकर ही गौरांग-सुन्दर का अभिषेक और पूजन किया। विष्णु में और गौरांग-प्रभु में कोई अन्तर नहीं है, इस तथ्य का अनुभव, उस दिन, उपस्थित जन-मंडली के एक-एक सदस्य को प्राप्त हो गया था।

उस दिन उनका सहज भुवन-मोहन रूप भागवत ऐश्वर्य और माधुर्य की असीम आभा से मंडित होकर और भी दिव्य बन गया था। वे साक्षात् कल्प वृक्ष बने उपस्थित थे। अन्तरंग भक्तों को उन्होंने सहज भाव से असीम करुणा और अनन्त विभूति के दर्शन करा दिये। श्रीवास पंडित के घर में उस दिन स्वर्गिक आनन्द की आँधी बह रही थी। वृन्दावन दास ने लिखा है कि उस दिन प्रभु की भगवत्ता का यह उल्लास सात पहर तक धरती और आकाश को व्याप्त किये रहा।

भगवत्प्रकाश से मंडित आभा-मण्डल के मध्य में गौरांग-सुन्दर ध्यानमग्न बैठे हैं। चारों ओर कृतविद्य सार्थकनामा भक्त-जन हाथ जोड़े खड़े हैं। अकस्मात् 'श्रीधर ! श्रीधर !' कहकर गौरांग प्रभु किसी अनुपस्थित, अनभिज्ञापित व्यक्ति को पुकारने लगे। यों उस नाम के एक दरिद्र व्यक्ति को कुछ लोग अवश्य जानते थे, क्योंकि वह नवद्वीप का ही निवासी था। तो क्या उस खोम-चेवाले को ही प्रभु के द्वारा इस तरह पुकारा जा रहा है ? क्या उससे प्रभु का सचमुच परिचय है ? यदि नहीं तो घंटे भर से उसे रह-रह कर पुकार क्यों रहे हैं ?

करुणामय प्रभु भक्तों के हृद्गत भाव को भाँपकर बोले— 'अरे, तुमलोग मेरे परम स्नेही श्रीधर को भी नहीं जानते ! अकिंचन दरिद्र समझकर उसकी अवज्ञा करोगे तुमलोग ? वह खोमचावाला है, तो क्या हुआ ? उसकी भगवद्-भक्ति तो असाधारण है। केले की छेमियाँ तोड़-तोड़कर जिस समय वह ग्राहक के हाथ में देता है और उनके द्वारा दी गई कीमत के पैसे गिनता है, उस समय

भी भगवन्नाम का जप, उसके हृदय में अनवरत चलता रहता है। लोग उसे निरा खोमचावाला मानकर तुच्छ समझ बैठे हैं। वे यह नहीं जानते कि वही तुच्छ खोमचावाला भगवान् के भक्तों का सिरमौर भी तो है। तुमलोग देर मत करो। शीघ्र जाओ मेरे बंधु श्रीधर के पास, और उसे मेरे पास तुरत ले आओ। उसका वियोग अब और सहन नहीं कर सकूँगा, मैं।"

भक्तों की मंडली में हल्ला पड़ गया। कितना भाग्यवान् है वह खोमचा-वाला श्रीधर, जिसके लिए प्रभु इस तरह रह-रहकर अधीर हो रहे हैं। मगर इस विशाल नगरी नवद्वीप में उसका घर कहाँ है, यह तो किसी को मालूम नहीं। राह-बाट में खोमचे में केले, मकोये वगैरह सजाये, कभी-कभी, ग्राहकों की प्रतीक्षा में स्वयं कहीं खड़ा मिल जाय, यह दूसरी बात है। सो भी कोई निश्चित ठिकाना नहीं है। आज यहाँ तो कल वहाँ! फिर महीनों गायब! उसे खोजकर पा लेना तो संभव नहीं लगता। यह दूसरी बात है कि वह खुद ही कहीं, कभी, मिल जाया करे।

फिर भी भक्तों ने हिम्मत नहीं हारी। थोड़ी ही देर बाद, वह उन्हें स्वयं मिल गया। भक्तगण उसे जबरन् पकड़कर ले आये और गौरांग-सुन्दर के आमने-सामने उसे खड़ा कर दिया गया।

बेचारा श्रीधर विस्मय से अवाक् था। किसी ने उसे बताया तक नहीं कि उसे किस कसूर में पकड़ा जा रहा है। मगर जब उसकी दृष्टि गौरांग-सुन्दर पर पड़ी, तो उसके जी-में-जी आया। यह तो निमाई पंडित हैं! बहुत दिनों पर देखा है, इसीलिए बदले-बदले-से दिखाई पड़ रहे है। आज तो इनकी अद्भुत छटा है। इतना भुवन-मोहन माधुर्य्य कभी पहले तो इनमें दिखाई नहीं पड़ा था। आज तो जान पड़ता है कि निमाई पंडित ही साक्षात् श्रीकृष्ण बनकर आ बैठे हैं। अद्भुत चमत्कार है, यह।

श्रीधर को भौंचक और हतवाक् देखकर भक्तगण उसे ढाढस देने लगे— "श्रीधर, प्रभु के तुम इतने प्रिय हो, तुम्हारा ऐसा सौभाग्य है, यह हमें पता न था। आओ, तुम्हारे स्पर्श से हम लोग भी कृतार्थ हो लें।"

प्रभु श्रीधर को देखते ही दो बाहु फैलाये, उसे आलिंगन में आबद्ध करने के लिए, बेतहासा दौड़ पड़े। उसे हृदय से लगाकर उन्होंने कहा—"श्रीधर, क्या तुम मुझे भूल गये? पता नहीं, तुम्हारे खोमचे से मैंने कितना जी भर कर पाया और हमारे बीच कितने स्नेह-कलह होते रहे। फिर आनंद के इस हमारे मेले में तुम क्यों नहीं शरीक हुए? यों कटे-कटे रहकर, तुम अपना पिंड नहीं छुड़ा सकोगे, श्रीधर!"

श्रीधर को पिछले दिनों की स्मृतियाँ विभोर करती जा रही हैं। नवीन अध्यापक बाजार की ओर जब कभी निकलते तो श्रीधर से जरूर मिल लिया करते थे। आपस में व्यंग्य-विनोद और व्याज-कलह किये बिना दोनों को ही संतोष न होता। दो-चार पैसों के केले, लाई वगैरह से ज्यादा खरीदना निमाई के स्वभाव में न था। मगर उतने छोटे सौदे के लिए ही देर तक सौदेबाजी चलती रहती और उतनी देर तक निमाई पण्डित की शब्द-वृष्टि अनवरत चलती ही रहती। बेचारा श्रीधर दरिद्र था। ज्यों-त्यों करके दिन कट जायँ, यही उसकी दिन भर की मिहनत का लक्ष्य था। पर निमाई पण्डित को उसके दारिद्र्य से वास्ता न था। चीज़ खरीद कर, कीमत देते समय टंटा खड़ा करने के लिए ही वे श्रीधर के पीछे पड़े थे। बढ़ा-चढ़ा कर दाम बताना श्रीधर के स्वभाव में न था। फिर भी उसपर मुनाफाखोरी का अभियोग लगाकर तकरार करना निमाई पंडित का रुचिकर विनोद बन गया था। चलते-चलते श्रीधर को वह कह जाते—"तुम राई की कीमत पहाड़ बताया करते हो। इतना मुनाफा लेकर कहाँ रखोगे, श्रीधर ? पूरे नवद्वीप में तुम्हारे—जैसा झाँसेबाज मुझे कहीं नहीं मिलता।"

बाजार आते ही, निमाई पंडित का पहला झपट्टा श्रीधर पर ही पड़ जाता। उसकी हर चीज की कीमत का आधा अंश वे बातों के जोर से उड़ा लिया करते। फिर भी जिस दिन वे नहीं आते, उस दिन श्रीधर को चैन नहीं मिलती थी। निमाई पंडित के उपद्रव, अत्याचार और फिरके उसे रुचिकर प्रतीत होते। प्रतीकार में एक शब्द भी कह पाना उसके वश में न था। मगर उसके बाद अर्से तक निमाई पण्डित का उसे पता नहीं चला। यह दूसरी बात है कि अदर्शन की उस अवधि में भी श्रीधर को निमाई पंडित की याद हर दिन आ जाया करती थी।

अर्से के बाद निमाई पंडित से मिलकर श्रीधर को जो अहेतुकी प्रसन्नता प्राप्त हुई, उसका वर्णन नहीं हो सकता। मगर इसी बीच कैसा परिवर्त्तन हो गया उस झगड़ालू पंडित में ? सौंदर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य के शिखर पर पूनो के निष्कलंक चन्द्रबिम्ब की तरह उसकी भुवन-मोहन मूर्त्ति देखते ही अभिभूत कर लेती है। श्रीधर अपने सौभाग्य को सराहने लगा। यह ठीक है कि वह अकिंचन और दरिद्र है। किन्तु इस तरह खुद बुलाकर गौरांग-सुन्दर ने उसपर कृपा की है, उसे साधारण सौभाग्य की घटना मानना क्या संभव है ?

गौरांग प्रभु की ओर एकटक देखता हुआ श्रीधर हाथ जोड़कर खड़ा रहा।

उसकी दोनों आँखों से कृतार्थता के आनन्दाश्रु बहते रहे। इस प्रकार कितना समय व्यतीत हो गया, इसका उसे पता नहीं चला।

आज गौरांग प्रभु ऐश्वर्य की प्रसाद-दशा की दीप्ति से पुलकित थे। भक्त के प्रति कुछ भी अदेय नहीं। अपनी प्रसन्नोज्वल दृष्टि से इस भक्त के एक-एक अंग का स्पर्श करने के बाद उन्होंने कहा : "श्रीधर, तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। आज तुम्हें मैं कुछ दूँगा। क्या लोगे? बोलो। राज्य लेना चाहो तो वही मिलेगा। अष्ट-सिद्धि की इच्छा करोगे, तो वह भी मिलेगी। जो चाहते हो, वह साफ-साफ बता दो।

श्रीधर ने भरे स्वर से, अश्रु-गद्‌गद् होकर कहा : "प्रभो, अब मुझे नये चक्कर में डालना उचित नहीं। वह तो पहले ही, जरूरत से ज्यादा हो चुका है। आप जो हैं, मेरे लिए वही यथेष्ट है। आपसे अलग होकर कुछ और चाहने की बात मुझे नहीं जँचेगी। ऋद्धि-सिद्धि की बातों में मुझे भुलावा देना क्या आपको पसन्द है?"

मगर प्रभु श्रीधर को आज कुछ-न-कुछ देकर ही छोड़ेंगे। वे वार-वार अनुरोध किये जा रहे हैं : "नहीं, श्रीधर, नहीं। आज कुछ-न-कुछ तो तुम्हें माँगना ही पड़ेगा।"

सहज प्रेम की सहज धारा में बहकर श्रीधर आज अपने परम प्रभु के चरणों तक आ पहुँचा है। दैवी कृपा ने उसे अजाने ही कल्पवृक्ष की छाँह में पहुँचा दिया है। अब और क्या चाहना बाकी रह गया है, उसके लिए? मगर प्रभु तो जोर-जबर्दस्ती की अपनी पुरानी आदत छोड़ नही सकते। अन्ततः श्रीधर को विवश होकर वर माँगना ही पड़ा।

श्रीधर की दोनों आँखों में आँसू छलछला आये हैं। हाथ-जोड़कर उसने गौरांग प्रभु को थोड़ी देर तक चुपचाप देखा और तब भाव-विभोर होकर बोला--

"मेरे खोमचे से, जिस ब्राह्मण ने जो चाहा,
निकाल लिया, वही ब्राह्मण अब जन्म-जन्म तक
मेरा मालिक बना रहे! जो ब्राह्मण
मुझसे तकरार किये बिना चैन नहीं
पाता था, उसीके चरण-युगल अब मेरे
जन्म-जन्म के मालिक बन जायँ।—
"जे ब्राह्मण काड़िलेक मोर खोला पात,
से ब्राह्मण हउक मोर जन्मे-जन्मे नाथ।
जे ब्राह्मण आमार संगे करिले कन्दल,
मोर प्रभु हउ' तार चरण-युगल।"

सिद्धि नहीं, ऐश्वर्य नहीं, केवल भक्ति —शुद्धा भक्ति चाहता है अकिञ्चन, दरिद्र श्रीधर। प्रभु के ऐश्वर्यमय रूप को परखने के लिए वह कोई प्रमाण कतई नहीं चाहता। वह उनके जिस लीला-चपल रूप को कभी भूल नहीं पाता; फटकार-तकरार, कलह-उपालंभ, हास-परिहास के जोर से गौरांग के जिस रूपने श्रीधर के हृदय को अंकित कर रखा है, उस रूप पर ही वह अपने जीवन को न्यौछावर कर देना चाहता है।

उस दरिद्र खोमचेवाले की यह वर-कामना जिस किसी ने भी उस दिन सुनी, वह उसके सौभाग्य को सराहे बग़ैर रह नहीं सका।

किन्तु जिस प्रेम-धर्म का प्रवर्त्तन करने के निमित्त गौरांग महाप्रभु को ऋषियों ने धरती पर उतारा है, वह प्रेम-धर्म क्या इने-गिने अन्तरंग भक्तों तक सीमित रहेगा ? अन्तरंग भक्तों की सीमा का, एक विशेष प्रयोजन से, विशेष अवधि तक स्वीकृत किया जाना, आरंभ में आवश्यक भले ही रहा हो, किन्तु उस सीमा को तोड़कर, प्रेम-धर्म की महिमा मानव-मात्र में प्रतिष्ठित होनी चाहिए। गौरांग-प्रभु इस अपेक्षा के प्रति अब स्वयं भी अभिमुख हैं। प्रेम-धर्म का प्रचार सीमित क्षेत्र और सीमित समाज को लेकर संभव नहीं।

पर प्रचार-कार्य में महाप्रभु स्वयं उतरें यह भी ठीक नहीं। इसलिए उसका दायित्व नित्यानंद और हरिदास ने आगे बढ़कर स्वयं ले लिया। उस कार्य के लिए वे दोनों सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति थे भी। दोनों ही सर्वस्व-त्यागी संन्यासी थे और दोनों ही के हृदय में गौरांग-सुन्दर के प्रति असीम प्रेम था। इससे भी बड़ी बात यह थी कि उनमें एक का जन्म यदि हिंदू परिवार में हुआ था, तो दूसरे मुसलमान खानदान में पैदा हुए थे।

नित्यानन्द और हरिदास को बुलाकर प्रभु ने कहा : "आज से तुम दोनों पूरे नवद्वीप में कृष्ण नाम को प्रचारित करो। प्रत्येक घर के दरवाजे पर जाकर दस्तक दो और पाँव पकड़ उस घर में रहनेवालों से कृष्ण नाम की भीख माँगो। अपने प्रतिदिन की इस भिक्षा-यात्रा के फलाफल का हिसाब तुम दोनों मुझे भी जरूर बता दिया करना।"

उसके तुरत बाद नित्यानन्द और हरिदास घर से बाहर निकलकर नवद्वीप की गली-गली में कृष्ण-नाम का कीर्त्तन करते फेरी देने लगे। रो-कर, गा-कर, लोगों के पांव पकड़ कर, दोनों एक ही प्रार्थना करते : "कृष्ण का नाम-गान करते रहो।"

मगर यह काम आसान नहीं था। व्यंग्य-विद्रूप करनेवालों की कमी न थी। ऐसे लोग भी मिल जाते थे, जिनकी दृष्टि में श्रीकृष्ण नाम की भीख माँगनेवाले भिखारी या तो ठग हों अथवा पागल। ऐसी स्थिति में निन्दा और अपमान के अवसर भी आ ही जाते हैं। लोग कहते—आज तक तो प्रेम का सहज पथ दिखलानेवाले ऐसे लोगों से किसी की भेंट नहीं हुई थी। अध्यात्म-मार्ग में ऐसे माधुर्य और ऐसे आनन्द की बात भी किसी ने कभी नहीं बताई थी। मगर अधिसंख्यक लोगों को उनका नाम-कीर्त्तन अपनी ओर अनायास ही खींच लेता। कृष्ण की पुण्य-कथा और गौरांग-प्रभु के वृत्तान्त सुनकर वैसे लोग भाव-विभोर और मुग्ध हो जाते। वैसे लोगों को नित्यानन्द और हरिदास भक्ति, दैन्य और आर्त्ति के मूर्त विग्रह प्रतीत होते। वे उनके नाम-कीर्त्तन में मुक्तकंठ से योगदान देना अपना परम सौभाग्य समझते थे।

एक दिन प्रभु के ये दोनों पार्षद बड़े संकट में पड़ गये। वे आनन्द के साथ नाम-गान करते-करते साथ-साथ चल पड़े थे। अकस्मात् उन्होंने देखा कि थोड़ी ही दूर पर यमदूत की तरह दो भयंकर व्यक्ति खड़े हैं। वे दोनों सहोदर भाई थे—जगन्नाथ और माधव। उनका जन्म ब्राह्मण-वंश में हुआ था, लेकिन भला इससे क्या होता है? उत्पात, पाप और उपद्रव के अनुष्ठान में इस जोड़ी का मुकाबला करनेवाला कोई पूरे नवद्वीप में न था। हरि नाम लेनेवालों पर वे उसी तरह भड़क उठते थे, जैसे लाल कपड़े पर कोई अलमस्त साँड़। हत्या और लूट तो उनका पेशा ही है। शराब के नशे में धुत्त होकर वे उस दिन यदि नुक्कड़ पर खड़े थे, तो यह कोई शुभ बात न थी।

किन्तु निमाई पंडित के पुराने नाम को नये अर्थ के साथ धारण करनेवाले नित्यानन्द ने भी इधर मन-ही-मन तय कर लिया है कि दुष्टों और पापियों के उन दोनों सरदारों को आज हरि-नाम की दीक्षा अवश्य दे देनी है। सो वे उसके सामने जाकर उच्च स्वर से कृष्ण-नाम का गान करने लगे। उनके नाम-कीर्त्तन से कुपित होकर दोनों भाई—जगन्नाथ और माधव की आँखें क्रोध और शराब के गुलाबी नशे से लाल हो उठीं। वे हरि नाम का गान करनेवाले साधुओं की ओर बड़े वेग से दौड़ पड़े।

नित्यानन्द जैसे विनोदी हैं वैसे ही लीला-पटु। किसी-न-किसी तरह झंझट-फसाद में पड़ जाने पर वे असीम प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। अतः दोनों दस्युओं को अपनी ओर दौड़ते देखकर उन्होंने तय कर लिया कि आज अच्छा मौका हाथ लगा है। हरिदास का हाथ पकड़े, वे प्राण की बाजी लगाकर अपने परमाराध्य गौरांग महाप्रभु के निवास-स्थल की

ओर भाग चले। किन्तु उनका नाम-गान और भी उच्च-स्वर से जारी हो गया। हाँफते-हाँफते, दोनों महाप्रभु के सम्मुख उपस्थित हुए।

नित्यानन्द ने रोष और प्रेम से विगलित स्वर में कहा: "प्रभु! आपका मत ही विपरीत व्यापार है। भक्त और साधु यदि भगवान् का नाम गान करें ही तो इसमें आपका कृतित्व क्या हुआ, क्योंकि वे तो हरि-स्मरण करने के लिए स्वयं ही प्रस्तुत हैं। हाँ! यदि आप जगाई और मधाई जैसे दुर्वृत्तों के मुख से भगवन्नाम का उच्चारण करा सकें, तभी कुछ पता चले। इस बार यही कर दिखाइये, प्रभु!"

कई दिनों बाद का वृत्तान्त है, नाम-कीर्त्तन करते-करते निताई (नित्यानंद) ने दिन को रात कर दिया था। लौटते-लौटते काफी देर हो गई। रात की गहरी आँधियारी चारों ओर छा गई थी, मगर उस निविड़-निर्जन पथ में उन दोनों का समवेत स्वर हरि-नाम का गान करता, दूर से ही सुनाई पड़ रहा था। अकस्मात् जगाई और मधाई को उन्होंने बीच राह में, ठूँठ की तरह, खड़े देखा। दोनों शराबी भाई लूट-मार के अपने पेशे के शिकार की तलाश में इसी तरह घात लगाये बटमारी किया करते थे। कृष्ण का नाम कान में पड़ते ही उनकी देह में आग लग गई और वे गर्जन करते हुए चिल्ला पड़े: "किसके सिर पर सामत सवार हुई है रे! यमराज के पास जाने के लिए इस तरह आतुर होकर, किसने हमें नाम-कीर्त्तन सुनाने की गुस्ताखी की है? तुम दोनों आखिर हो कौन?"

नित्यानन्द की इच्छा है ही कि आज कुछ होकर रहे। वे उन दोनों दुष्टों की ओर प्रेम-प्रसन्न मुख के साथ अग्रसर हुए और बोले: "भैया मैं तो एक अवधूत हूँ। देखा, कि तुम श्रीकृष्ण से रूठे हुए हो, इसलिए इच्छा हुई कि आज भगवान् से तुम्हारे मन-मुटाव का अन्त हो जाय और मेल-मिलाप करा दिया जाय। इसलिए तुम-दोनों को कृष्ण नाम सुनाने के लिए ही इतनी देर राह में भटकता रह गया।"

अब क्या किया जाए? पापियों के सरदार मधाई के माथे पर तो खून सवार हो गया। रास्ते में पास ही, एक गन्दा घड़ा पड़ा हुआ था। उसे उठाकर मधाई ने नित्यानन्द के सिर पर दे मारा।

निताई के मस्तक से रक्त का फव्वारा बहने लगा। फिर भी, उन्होंने उफ तक नहीं किया। सिर के आहत स्थान को अपनी तलहथी से दबाये वे मुस्कुराते खड़े रहे। आज उन पापी दस्युओं के ऊपर वे गौरांग महाप्रभु की अहेतुकी कृपा की वृष्टि करा देना चाहते हैं। अपनी इस इच्छा की पूर्त्ति के

लिए ही इस संकट का उन्होंने आवाहन किया। थोड़ी ही देर में राह चलने-वालों की भीड़ इकट्ठी हो गई। किसी ने गौरांग महाप्रभु के पास भी, चुपके से, इस घटना का समाचार पहुँचा दिया। उन्हें बता दिया गया कि नित्यानन्द आज जगाई और मधाई-जैसे प्रसिद्ध दुष्ट के फेरे में पड़ गये हैं। वे आज उनकी जान बचने नहीं देंगे। नित्यानन्द का सिर फूट गया है और बहते खून से लथ-पथ वे खड़े हैं।

मधाई का क्रोध इस दुर्घटना के बाद भी शांत नहीं हो रहा है। वह इस बात पर कुपित था कि वैसी गहरी मार खाकर भी नित्यानन्द मुस्कुराते खड़े हैं और उसकी दस्यु-सत्ता को चुनौती दे रहे हैं। वह अत्यन्त उत्तेजित होकर उन पर पुनः प्रहार करने के लिए उद्यत हुआ।

मगर जगाई को झूठ-मूठ की मार-धार पसंद नहीं। जो खुद ही भीख मांगकर खाता है, जिसके पास माल-पत्तो की गठरी नहीं है, उस पर वार-वार प्रहार करना बल का अपव्यय मात्र है। निरस्त्र और शान्त-स्वभाव नित्यानन्द को मार कर भला क्या मिलेगा? मन-ही-मन ऐसा सोचकर, उसने मधाई को रोका और कहा : "अजी क्यों विदेशी संन्यासी को व्यर्थ ही मार रहे हो? इसके पास तो कानी.कौड़ी भी नहीं है। ऐसी हालत में बल का अपव्यय करने से क्या लाभ?

मधाई को जगाई ने थाम लिया और दोनों की बाता-बाती गुथ्थम-गुथ्थी में बदल गई। उसी घड़ी, वहाँ अकस्मात् गौरांग प्रभु उपस्थित हो गये।

नित्यानन्द के आहत सिर से रक्त की धारा अभीतक बही जा रही है। यह दृश्य देखकर गौरांग महाप्रभु भी अपना रोष रोक नहीं सके। उन्होंने हुंकार के साथ कहा : "नित्यानन्द का खून जिनके हाथों बहा है, उन पाखंडियों को इसकी सजा दिये बिना मैं नहीं रह सकता।"

नित्यानन्द तो घबरा गये। प्रभु की करुणा-लीला को वे सब लोगों के सामने प्रकटित करना अवश्य चाहते हैं, किन्तु प्रभु का वहाँ अकस्मात् उपस्थित हो जाना, उन्हें भौंचक कर रहा है। यह दूसरी बात है कि इस पूरी दुर्घटना के पीछे उनकी योजना इतनी ही थी कि उन दोनों पापयुक्त दुष्टों का, प्रभु की कृपा से उद्धार हो जाय।

प्रभु के सम्मुख उपस्थित होकर उन्होंने गुहार की : "प्रभु! आप शान्त हो जायँ। ये दोनों बड़े पापी हैं। इन्हें आपका कोप नहीं, आपकी कृपा की आवश्य-कता है। इनका उद्धार आप नही करेंगे, तो कौन करेगा? साथ-ही-साथ यह बात भी तो है कि ये निरे डकैत नहीं, अन्यथा इनके हाथों मैं बहुत पहले ही मारा गया होता। जगाई भी तो मधाई का भाई ही है मगर उसी जगाई ने तो

मेरी रक्षा की है। उसने मधाई को रोका नहीं होता, तो मेरी प्राण-रक्षा नहीं हो पाती। मेरा सिर फूट गया या थोड़ा रक्त बह गया, इसका मुझे कोई कष्ट नहीं है। मैं इनकी ओर से भीख मांगता हूँ कि आप इनका उद्धार करें।"

नित्यानन्द के वाक्य सुनते ही गौरांग महाप्रभु करुणार्द्र हो उठे। सच ही तो! उनके प्राणाधिक भक्त की रक्षा तो जगाई ने ही की है और मधाई उसी का भाई है। ऐसी स्थिति में उन्हें परम उपकारी बांधव नहीं तो और क्या माना जाय? प्रभु की आँखों से आँसू बहने लगे। वे बोले: "भैया जगाई! तुमने नित्यानन्द की प्राण-रक्षा की है। इसलिए तुमसे बढ़कर मेरा अपना कौन होगा? मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि करुणामय भगवान् श्रीकृष्ण तुम पर कृपा करें और तुम्हें उनकी प्रेम-भक्ति का लाभ मिले।"

यह कहकर गौरांग महाप्रभु ने दोनों बाँह फैलाकर जगाई को अपने गाढ़ आलिंगन में ले लिया।

गौरांग महाप्रभु के दर्शन और स्पर्श में कौन-सी अलौकिक शक्ति है यह कोई नहीं जानता। प्रेमालिंगन पाकर जगाई मूर्च्छित हो गया और प्रभु के चरणों के पास पृथ्वी पर लुंठित हो गया।

दस्युकर्मा जगाई के इस सौभाग्य को देखकर भक्तों के आनन्द की सीमा न रही। गौरांग महाप्रभु का जय–जयकार वे करने लगे और नाम-कीर्त्तन के मधुर कोलाहल से सारा अंचल आप्यायित हो उठा।

किन्तु निष्करुण मधाई का क्या हुआ? उसके मन-प्राण भी हठात् चंचल हो उठे। कैसे अद्‌भुत पुरुष हैं ये निमाई पंडित! ऐसे महापुरुष का दर्शन सच-मुच दुर्लभ है। उसकी आँखों से भी अश्रु-धारा बहने लगी। उसने अनुभव किया कि श्री कृष्ण का नाम, सचमुच, अत्यन्त मधुर है। उस नाम से प्रेम की मधु-वृष्टि हो रही है और वह उसमें आप्राण भींगता चला जा रहा है। उसने प्रभु की ओर कातर दृष्टि से देखा। दस्यु-बुद्धि, हठात्, प्रेम-बोध में परिवर्त्तित हो गई। उसने उस अवधूत की ओर भी पश्चात्ताप के साथ देखा, जिनके सिर पर उसने, थोड़ी ही देर पहले, क्रूरतापूर्वक प्रहार किया था। वैसे सांघातिक प्रहार को भी झेलकर, नित्यानन्द यदि मुस्कुराते खड़े हैं, तो यह असाधारण बात अवश्य है। क्या ये कृष्ण-नाम का कीर्त्तन करनेवाले लोग मनुष्य नहीं; स्वर्ग से उतरे देव-गण हैं? यह प्रश्न उसके मन-प्राणों को बार-बार कुरेदने लगा।

मधाई का पाषाणमय हृदय विगलित होता जा रहा है। उसकी आँखों के आँसू उसके विशाल कठोर वक्षस्थल को भिगोते चले जा रहे हैं। वह वार-वार कातर स्वर में प्रार्थना करता हुआ प्रभु के चरणों पर गिर पड़ा। गौरांग

महाप्रभु ने उसके समस्त अपराधों को उसी समय क्षमा कर दिया और उसे उठाकर छाती से लगा लिया।

जगाई और मधाई—दोनों भाइयों को ढाढ़स देते हुए प्रभु ने कहा : "भैया ! तुम दोनों अपने पाप की गठरी मेरे सिर पर डाल दो और निर्भय होकर श्रीकृष्ण के नाम का कीर्त्तन करते रहो। तुम दोनों को प्रभु की कृपा प्राप्त होगी। तुम्हारे अभीष्ट पूरे होंगे।

प्रभु की कृपा के प्रसाद से पापपरायण दुर्वृत्त जगाई और मधाई उसी क्षण परम भागवत् पुरुष के रूप में परिवर्त्तित हो उठे। दुराचार से अर्जित धन-जन को तिलांजलि देकर कन्थाधारी अकिंचन वैष्णव-भक्त बन जाने में उन्होंने विलंब नहीं किया। अब वे जप, ध्यान और वैष्णव-सेवा को अपने संपूर्ण जीवन का व्रत बना चुके हैं। उनके इस रूपान्तर को देखकर नवद्वीप की जनता चकित और मुग्ध है।

अब प्रतिदिन गंगा के तट पर एक प्राणस्पर्शी दृश्य उपस्थित हो जाया करता है। गंगा-स्नान के लिए जो कोई भी वहाँ जाता है उसके चरणों पर जगाई और मधाई लोटने लगते हैं। प्रणाम करने के बाद प्रत्येक गंगा-स्नायी व्यक्ति से वे प्रार्थना करते हैं : "जाने या अनजाने हम दोनों से यदि आपके प्रति कभी कोई अपराध हुआ है, तो कृपाकर हम दोनों को अब आप क्षमा कर दें।"

मधाई ने कुदाल लेकर स्वयं गंगा के तट पर एक घाट का निर्माण कर दिया था। वह घाट, अब तक 'मधाई का घाट' के नाम से प्रसिद्ध है।

जगाई और मधाई के इस अद्भुत परिवर्त्तन का प्रभाव, पूरे नवद्वीप पर पड़ा। गौरांग के द्वारा नव-प्रवर्त्तित प्रेमाभक्ति-धर्म, धीरे-धीरे प्रबल हो उठा। नाम-कीर्त्तन का मधुर कोलाहल अब इस अंचल की हर गली में सुनाई पड़ती है। मृदंग, करताल, मंजीर की आवाज और भक्तों के सम्मिलित कंठ-स्वर की मनोमुग्धकारी पुकार हर नुक्कड़ पर, हर ओर से, आती रहती है—'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे !'

उस समय नवद्वीप का शासन काजी बारबाख के हाथ में था। हिंदू-धर्म पर उसे बहुत अधिक आपत्ति न थी, किन्तु वैष्णव भक्तों के द्वारा किये जानेवाले उस अहर्निश कोलाहल को वह पसन्द नहीं करता था, जिसे काफिर लोग 'कीर्त्तन' के नाम से पुकारते थे ! जब बहुत सारे वैष्णव भक्त कीर्त्तन के नाम पर एकत्र होकर नाम-गान करते-करते, आवेश में आकर नाचने लग जाते, तो गगन-वेधी

जयकार का नाद होना भी अनिवार्य हो जाता। यह हरकत और भी आपत्ति-जनक थी। पराजित जाति के मुख से विजय-घोष होना, निश्चय ही परले सिरे की गुस्ताखी है। काज़ी साहब के इस मनोभाव को ताड़कर उसके कर्मचारियों ने वैष्णव भक्तों को सताने का सुराग पा लिया। एक दिन राज-चरों का सशस्त्र-दल कीर्त्तन-गोष्ठियों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर भंग करने आ पहुँचा। उनके मृदंग, करताल, मंजीर आदि वाद्य छीनकर नष्ट कर दिये गये और साथ-साथ यह फरमान भी जारी कर दिया गया कि कीर्त्तन या नाम-गान के लिए एक स्थान पर अनेक व्यक्तियों का एकत्र होना और मिलकर शोर-गुल मचाना कानून की निगाह में अपराध माना जायगा।

इस फरमान से वैष्णव भक्तों में हड़कंप मचना अस्वाभाविक न था। बहुतेरे भक्त भयभीत होकर विचार करने लगे कि विधर्मी शासक के देश में रहकर केवल प्राण पर ही संकट नहीं है, धन, मान और धर्म पर भी हर घड़ी खतरा उपस्थित हो रहा है। उनमें से कुछ ने महाप्रभु गौरांग के पास जाकर फरियाद की—"प्रभो, काजी के कर्मचारीगण पूरे शहर में दिन-रात चक्कर लगाते फिर रहे हैं और भगवन्नाम की गान मण्डलियों को भंग कर दिया करते हैं। कृपया यह बतायें कि ऐसी स्थिति में हमलोग क्या करें। अब नवद्वीप में रहकर समवेत भाव से उच्च स्वर में नाम-गान करना तो संभव नहीं रहा। उसे काजी के कर्मचारियों ने कानूनन अपराध ठहरा दिया है। हमलोगों को क्या नवद्वीप छोड़ कर कहीं अन्यत्र जाना पड़ेगा?"

भक्तों की इस बेवशी ने महाप्रभु के रोषानल को उद्दीप्त कर दिया। उन्होंने नित्यानन्द को बुलाकर कहा—"श्रीपाद, तुम आज ही सर्वत्र यह संकल्प प्रचारित करवा दो कि नवद्वीप के प्रधान राज-मार्ग पर आज संध्या समय नगर-कीर्त्तन होगा। हरि-नाम के कीर्त्तन में कौन विघ्न उपस्थित करता है, उसे आज जरा मैं अपनी आँखों से स्वयं ही देख लेता हूँ।"

महाप्रभु के इस वचन ने भक्तों में उत्साह की लहर उठा दी। उनके आदेश के सामने काजी की हुकूमत की बिसात ही क्या है? ऐसा सोचकर नवद्वीप के वैष्णव भक्त नगर-कीर्त्तन के आयोजन में निर्भय होकर व्यस्त हो गये।

सहस्र-सहस्र नर-नारियों का हृदय उमंग से भर उठा। हरि-नाम के स्मरण के अपने जन्म-सिद्ध अधिकार की रक्षा के निमित्त वे प्रत्येक संकट का मुकाबला करने के लिए जी-जान से आ जुटे हैं। महाप्रभु के वचन के प्रभाव और नित्यानन्द की संगठन-क्षमता ने असंभव को संभव कर दिया। शाम होने

से पहले ही नवद्वीप का प्रधान राज-पथ भक्तों की निरस्त्र वाहिनी की अपार भीड़ से भर उठा।

कौन रोक सकेगा भक्तों को भगवन्नाम का स्मरण और गान करने से ? इस भीड़ में क्या केवल महाप्रभु के अनुयायीगण हैं ? नहीं, इस जन-समुद्र में नवद्वीप के आबाल वृद्ध-वनिता समग्र निवासीगण आ मिले हैं। नवद्वीप के प्रत्येक घर से आये लोगों की यह भीड़ लगातार बढ़ती ही जा रही है। दैवीशक्ति के चमत्कार के विना राजाज्ञा का ऐसा सार्वजनिक उल्लंघन क्या संभव था ?

ढोल, करताल, झांझ, मृदंग, मंजीर और शंख हाथ में लेकर, चारो तरफ से लोगों की भीड़ उमड़ी आ रही है, श्रीवास के आँगन की ओर। जिनके हाथ में कोई वाद्य नहीं है, उनके हाथ में भी या तो आरती-दीप हैं अथवा जलती हुई मशाल। अगुरु, चंदन और पुष्पमाल्य की सुगन्धि से सारा वातावरण सुरभित हो उठा है।

नवद्वीप की नारियों ने अपने घर-द्वार को आज बड़े उत्साह से सँवारा-सजाया है। एक भी द्वार ऐसा नहीं, जिस पर दीप-दीप्त आम्रपल्लवों से आच्छादित मंगल-कलश स्थापित न हों। प्रत्येक आंगन में कदली-स्तंभ गड़े हैं और चूर्णाङ्कित अल्पना की चित्रकारी फैली है। जो नव-वधू घर से बाहर नहीं निकलतीं, वे भी वार-वार शंख बजाकर, अपने अन्तःपुर से ही, इस महान् उत्सव में योगदान कर रही हैं।

हुकूमत की खुली हुक्म-उदूली तो हो रही है, मगर अपराधियों के मन में न तो द्वेष, रोष या तर्रारी की ऊष्मा है और न ही उनके हाथों में अस्त्र-शस्त्र हैं। उत्साह और उद्दीपन के इस पवित्र महासमारोह तथा इस सर्व-प्लावी उमंग के उत्स-केंद्र में भगवद् भक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हाँ, महाप्रभु गौरांग-सुन्दर की भुवन-मोहन माधुर्य-मूर्त्ति के अमोघ आकर्षण के अभाव में ऐसा अपूर्व अनुत्तर समारोह संभव न था, यह तो स्पष्ट ही है।

राजद्रोह का ऐसा मोहक, अहिंसक और मधुर समारोह द्वापर में श्रीकृष्ण ने और कलि-काल में श्रीकृष्ण चैतन्य ने—महाप्रभु गौरांग ने—किस प्रकार आयोजित किया था, यह कौन बता सकता है ? क्या विद्रोह की वही प्रेममयी मधुर पद्धति कालान्तर में महात्मा गाँधी की सविनय अवज्ञा की प्रेरणा बनी ? ऐसे प्रश्नों पर यहाँ विचार करना प्रासंगिक नहीं होगा। यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि उस समारोह के द्वारा महाप्रभु ने राज शक्ति के ऊपर लोक-शक्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए भगवद् भक्ति के संबल और भगवत्कृपा के आश्रय की जिस अमोघता को प्रमाणित कर दिखाया था, ब्रह्मर्षि विनोबा के

द्वारा घोषित अवतार–युग की आगमनी से उसका गहरा संबंध अवश्य है।

भक्त कवि वृन्दावन दास की अमोघ लेखनी ने उस अमोघ समारोह का वर्णन बड़े अनूठे ढंग से किया है। उस समारोह के केंद्र में उन्होंने महाप्रभु को उसी तरह अधिष्ठित कर दिया है, जिस तरह वृन्दावन के रासोत्सव के केंन्द्र में व्यास देव ने श्रीकृष्ण को अधिष्ठित कर दिखाया था :

"ज्योतिर्मय कनक-विग्रह वेद-सार।
चंदने भूषित येन चन्द्रे र आकार॥
चांचर चिकुर शोभे मालतीर माला।
मधुर-मधुर हासे जिनि सर्वकला॥
ललाटे चंदन शोभे फाग-विन्दु सने।
बाहु तूलि 'हरि हरि, बोले श्रीवदने॥
आजानु-लम्बित माला सर्व-अंगे दोले।
सर्व अंग तिति पद्मनयनेर जले॥
दुइ महाभुज येन कनकेर स्तंभ।
पुलकेर शोभा येन कनक-कदम्ब॥
सुरंग अधर अति सुन्दर दशन।
श्रुतिमूल शोभा करे भ्रू भंगे पतन॥
गजेन्द्र जिनिया स्कंध, हृदय सुपीन।
तँहि शोभे शुक्ल यज्ञ-सूत्र अति क्षीण॥"

अर्थात् चैतन्य महाप्रभु का कनक-गौर शरीर चारों वेदों का सार बन बैठा है। जैसे श्रीखण्ड चन्दन से चंद्रमा की आकृति गढ़ी गई हो, वैसी ही उज्ज्वल और स्निग्ध छटा है, उनकी चंदन-लिप्त अंग-कान्ति की। उनके काले घुंघराले बालों में मालती-पुष्पों की माला गुँथी हुई है। सोलहों कला से पूर्ण चन्द्रमा उनकी मुसकान में रसा-वसा है। उनके ललाट में कुंकुम-मिश्रित चंदन अंकित है और दोनों हाथ उठाये वे 'हरि-हरि' पुकार रहे हैं। उनके गले की पुष्प-माला घुटनों तक लटक आई है। उनके अंग-प्रत्यंग प्रेमोल्लास की उमंग से कांप रहे हैं और आँखों से बहनेवाली अविरल प्रेमाश्रु धारा से वे पोर-पोर भींग रहे हैं। महाप्रभु की विशाल बाँहे कदली-स्तंभ की तरह चिकने, सुडौल और पुष्ट हैं और कदम्ब-पुष्प के केशर-तन्तु की तरह उनका शरीर रोमांचित हो रहा है। जैसे सुन्दर उनके लाल-लाल होठ हैं, उतने ही खूबसूरत हैं उनके उजले, चमकीले महीन दांत। उनकी भँवे कानों तक फैली हैं। सुडौल कन्धो की हाथी-जैसी मस्त मांसलता और वक्ष की सुपुष्ट चौड़ाई को रेखांकित करनेवाला उजला यज्ञोपवीत

उन्होंने धारण कर रखा है। आज के इस महा-समारोह के अधिष्ठाता हैं हमारे ऐसे ही भुवन-मोहन पुरुषोत्तम—गौरांग-सुन्दर श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु !

ऐसे सर्वाङ्ग-सुन्दर, सुकुमार तरुण ने उस दिन, उस समारोह को आयोजित कर, एक नृशंस राज-सत्ता को चुनौती दी थी, इसका अहसास किसी को नहीं है। पर तथ्य तो यही है कि प्रेम धर्म के प्रवर्त्तक ने राजोन्माद की दुष्टता के विरुद्ध उस दिन एक अभिनव, सौम्य अभियान का आरंभ किया था। बादशाह के प्रतिनिधि काजी के खिलाफ एक अहिंसक समर का आरंभ वे करने जा रहे थे। पर वह संघर्ष उनके प्रेम का ही तकाजा था और प्रेम से ही ओतप्रोत था।

निदान महाप्रभु की वह प्रेममयी अहिंस्र समर-लीला शुरू हुई। नाम-गान के तुमुल-नाद से आकाश को कंपित करनेवाली उस भीड़ के आगे-आगे वे प्रधान राजपथ पर चल पड़े। कीर्त्तन-कारियों की उस भीड़ की अलग-अलग अनेक टोलियों का नेतृत्व कर रहे हैं, महाप्रभु के ही पार्षद-गण। अद्वैत, नित्यानन्द, श्रीवास प्रभृति उन टोलियों के आगे-आगे नाचते-गाते, साथ-साथ, चल रहे हैं।

मुख्य राजपथ पर आ जाने के बाद महाप्रभु को चारो ओर से घेर कर, उन टोलियों ने अपने बीच में कर लिया। एक अद्‌भुत दिव्य उन्माद की उज्ज्वल दीप्ति से उनका अंग-प्रत्यंग कौंध रहा है।

कीर्त्तन-कारी प्रेमोन्मत्त जनता की विशाल भीड़ पूरे नवद्वीप को नाम-गान के रस मे आप्लावित करती, काजी के महल के सामने आकर खड़ी हो गई। भीड़ का ओर-छोर दिखाई नहीं देता। नवद्वीप ही क्यों, पूरे भारत में इसके पहले, कभी इतनी बड़ी भीड़ इकट्ठी नहीं हुई थी, जिसमें एक क्षेत्र विशेष की पूरी आवादी ने, निरस्त्र और अनुशासित रहकर, राजादेश का खुला उल्लंघन करने के बाद, अपने अपराध का दण्ड पाने की खातिर, प्रसन्नता और उत्साह के साथ, दण्ड-नायक के पास स्वयं उपस्थित होने का साहस दिखाया हो। इस अकल्पनीय जन-समुद्र को देखकर काजी भयभीत हो गया। वह अन्तः पुर में जा छिपा।

महाप्रभु ने युक्ति-पूर्वक काज़ी की तलाश की और उसके सामने स्वयं उपस्थित हुए। उन्हें देखते ही काजी भावाभिभूत हो गया। वैसी देव-दुर्लभ कान्ति, वैसा विश्वमोहन नागर-वेश, प्रेम की दीप्ति से ओत-प्रोत वैसी आयत आँखें, उसने जीवन में पहली बार देखी थी। भय, विस्मय और आकर्षण के आवेग से उसका चित्त थरथर काँपने लगा। क्या यह धरती का कोई मामूली आदमी नहीं, जन्नत से उतरा हुआ कोई खुदाई फरिश्ता है ? क्या इसके खिलाफ जंग करना नादानी नहीं है ? ऐसे ही प्रश्न उसके मन में रह-रह कर उठते रहे।

उसे भौंचक देखकर महाप्रभु ने शान्त मधुर स्वर में उलाहना दिया—"मैं आपके घर पर आया और आप घर के भीतर छिप रहे। ऐसा शिष्टाचार किसी नवद्वीप-वासी को क्या शोभा दे सकता है? मुझे आप अपना मुखड़ा नहीं दिखाना चाहते। ऐसा क्यों? क्या मैं इतना गैर हो गया हूँ आपकी निगाह में?"

प्रभु के वचन में अमृत की मधुर स्वादुता है। उस कर्णामृत का पान करते ही काजी निहाल हो गया। उसके अन्तर का पाषाण पिघलकर बहने लग गया।

काजी ने भर्राये स्वर में कहा—"आप तो रुष्ट हो गये हैं मुझसे। तभी तो इतनी विपुल भीड़ के साथ मेरे पास आने की जरूरत हुई। मैं डर कर अगर छिप नहीं जाता तो दूसरा चारा था ही कौन-सा? जब पता चला कि आपका रोष शान्त हो गया, तब मुझे हिम्मत हुई कि आपके सामने हो जाऊँ। फिर आपको यह भी तो मालूम नहीं कि आप मेरे अपने परिजन हैं। तुम्हारे मातामह नीलाम्बर चक्रवर्त्ती गाँव के रिश्ते से मेरे चाचा होते थे। उस नाते से तुम मेरे भानजे हुए। भानजे के क्रोध को मामा न सहे, तो और कौन सहेगा। इसलिए तुम्हारा मान रखना मेरा फर्ज ही है। अब तो जो होना था हो चुका। आगे क्या होना चाहिए, सो मुझे साफ-साफ बता ही दो।"

महाप्रभु के वचन की अद्भुत महिमा है। दो-चार शब्द कहकर ही उन्होंने विधर्मी काजी को अपना मामा बना लिया।

मामा से भानजे की माँग बहुत बड़ी नहीं थी। महाप्रभु ने भिक्षा की माँग करते हुए कहा—"मामा अपने भानजे को कृपा करके एक छोटा-सा दान अब दे ही डालें। ऐसा शासनादेश प्रचारित करा दें कि नवद्वीप की सीमा के भीतर कीर्त्तन को बंद कराने का अपराध कभी कोई नहीं करे।"

काजी ने मंत्रमुग्ध की भाँति सजल स्वर में आश्वासन दिया—"मैं कसम खाकर कहता हूँ कि मेरे खानदान में पैदा होनेवाला कोई भी आदमी तुम्हारे कीर्त्तन में कभी बाधा नहीं देगा।"

चारों ओर जय-जय कार की गगनवेधी पुकार गूँजने लगी। काजी को अटूट प्रेम के पाश में सदा के लिए आबद्ध कर, महाप्रभु अपने अनुयायियों और पार्षदों की भीड़ के साथ, निवास-स्थान पर लौट आये।

मुसलमानी हुकूमत के द्वारा हिंदुओं को धर्माचरण की दी गई उस खुली छूट ने महाप्रभु को केवल नवद्वीप में ही नहीं, पूरे गौड़ देश में विख्यात कर दिया। पूरे उत्तर भारत में उनके भुवन-मोहन व्यक्तित्व की चमत्कार-कथायें, इसके बाद से, अनुश्रुतियों के रूप में फैलने लगीं।

प्रेम के ठाकुर गौरांग महाप्रभु के अद्भुत सम्मोहन की कहानियाँ

अनगिनत हैं। उनकी दृष्टि जिस पर पड़ी, उसीका काया कल्प हो गया। उनके स्पर्श में लौह को कंचन में परिवर्त्तित कर देने की क्षमता थी। उनके संपर्क में जो कोई भी आया, उसका समर्पण अन्ततः पूर्ण होकर ही रहा और मानव-जीवन की दिव्य सार्थकताओं ने उसे देखते-देखते ही निहाल कर दिया।

महाप्रभु के एक समवर्ती पद्यकार वासुदेव ने उनकी अलौकिक लीला के अपने साक्षात् अनुभव की बात बताते हुए लिखा है—

"एमन परसमनि, कि दिबो तुलना
परसमनिर गुणे, जगतेर जीवगण
नाचिया गाइया ह'लो सोना !"

अर्थात् गौरांग महाप्रभु एक अद्भुत स्पर्श-मणि हैं। उनकी तुलना किसी और से नहीं की जा सकती। यह एकमात्र उन्हीं के स्पर्श का चमत्कार है कि साधारण जीव गण का मृन्मय अस्तित्व नृत्य-गीत की सहज साधना के प्रवाह में बहकर ही, स्वर्णमय दिव्यता अर्जित कर लेता है। मिट्टी को सोना बना देनेवाले इस पारस मणि की तुलना भला कौन कर सकता है ?

अन्यान्य दिनों की तरह, उस रोज भी, श्रीवास के अगवासे में नाम-कीर्त्तन का समारोह चल रहा था। महाप्रभु महाभाव में निमग्न थे। दोनों हाथों को एक विशेष मुद्रा में ऊपर उठाकर, उनका नाच उठना उपस्थित भक्त-मंडली को विभोर कर रहा था। श्रीवास का एक शिशु-पुत्र कुछ दिनों से भयंकर बीमारी में पड़ा था। अकस्मात् अन्तःपुर में क्रन्दन-ध्वनि सुनकर श्रीवास द्रुत गति से भीतर की ओर चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि कुछ ही देर पहले शिशु ने देह-त्याग कर दिया है। इसे विस्मयकर ही माना जायगा कि पुत्र-शोक की वेदना ने महावैष्णव श्रीवास को तनिक भी अधीर नहीं होने दिया। वे इसी उधेर बुन में लगे रह गये कि शिशु की मृत्यु के कारण महाप्रभु को किसी प्रकार की असुविधा का सामना न करना पड़ जाए।

घर की स्त्रियों को रोने से रोककर उन्होंने दृढ स्वर में कहा : "देखो जी, महाप्रभु के कंठ से भगन्नाम का गान सुनते-सुनते हमारे पुत्र ने देह-त्याग किया है। इससे बढ़कर उसका भाग्य और क्या होगा ? वह तो ऊर्ध्व-लोक को चला गया। मगर तुमलोग यदि रोना-धोना करती रहोगी तो महाप्रभु के कीर्त्तनानंद में वाधा पड़ेगी और मुझे इस पाप का प्रायश्चित्त गंगा में डूबकर आत्महत्या के द्वारा करना पड़ेगा। इसलिए अभी तो सब चुप हो जाओ। रोना जरूरी ही हो

तो बाद में जितना जी चाहे, रो लेना।"

कीर्त्तन-मंडली के किसी सदस्य को अन्तःपुर के इस संवाद का पता न चला। श्रीवास अन्तःपुर से वापस होकर अगबासे में पुनः आ गये और महाप्रभु के कीर्त्तन में पूर्ववत् योगदान करने लगे। किन्तु थोड़ी ही देर बाद महाप्रभु का भावावेश टूट गया। भक्तों की ओर उन्होंने सावधान दृष्टि से देखा और पूछा : "आज मेरा मन इस तरह, रह-रहकर, उचट क्यों रहा है ? कीर्त्तन के आनन्द में मेरा मन आज रम नहीं पाता। इस रस-भंग का कारण क्या है ? निश्चय ही श्रीवास के घर में कोई अमंगल घटित हुआ है। तुमलोग खुलकर मुझे वह रहस्य बता दो।"

थोड़ी देर के बाद महाप्रभु ने स्वयं कहा : "अजी, पंडित के घर में तो सब-के-सब पुत्र-शोक से विह्वल हो रहे हैं। केवल मेरे कीर्त्तनानन्द में बाधा न पड़ने पावे, ऐसा सोचकर यह दुःसंवाद श्रीवास ने तुमलोगों से छिपा रखा है।" यह कहते-कहते महाप्रभु की दोनों आँखों से झर-झर अश्रु-पात होने लगा। रोते रोते उन्होंने कहा : "हे कृष्ण, हे परम कृपालु श्री कृष्ण ! तुमने श्रीवास जैसा दुर्लभ आत्मजन मुझे प्रदान कर दिया है। मेरे लिए यह सब-कुछ कर सकता है। मुझे लगता है, इसे छोड़कर मैं अब कुछ भी नहीं कर पाऊँगा।"

इसके बाद महाप्रभु दौड़कर मृत शिशु के निकट जा पहुँचे। मृत-शिशु के पास बैठी श्रीवास की पत्नी मालिनी देवी और अन्तःपुर की अन्य महिलाएँ, शोक-विह्वल होकर चुपचाप आँसू बहा रही थी, किन्तु श्रीवास के वारण के कारण खुलकर रोना भी, उनके लिए असंभव हो गया था। कृपामय प्रभु का अन्तर गलने लगा। इस दृश्य को सहन करना उनके लिए कठिन हो गया। अन्तःपुर की शोकार्त्त नारियों को सान्त्वना देने के निमित्त तत्क्षण एक अलौकिक घटना, सबकी आँखों के सामने घटित हुई।

मृत देह की ओर लक्ष्य करके महाप्रभु बोले : "क्यों जी, तुम देख नहीं रहे हो ? तुम्हारे शोक में माता, पिता और आत्मीय जन किस प्रकार शोक-विह्वल हो रहे हैं ? एक बार इन लोगों को इतना तो बता दो कि तुम इन लोगों को छोड़कर क्यों चले गये और कहाँ चले गये हो ?"

उपस्थित लोगों ने आश्चर्यपूर्वक देखा कि मृत-शिशु का शरीर शनैः शनैः सप्राण होता जा रहा है। शिशु ने आँखें खोली और सिर घुमाकर चारों तरफ देखा, फिर बोला : "प्रभु ! जितने दिनों तक मुझे यहाँ रहना था, मैं इस देह में रह चुका। श्रीवास पंडित के पुत्र के रूप में जो भोग भोगने थे, उन्हें मैंने पूरा कर लिया है। यहाँ का प्रारब्ध भोग पूरा कर नयी जगह जाने के लिए मुझे विदा होना ही पड़ेगा। मेरा किसी से कोई नाता या सरोकार तो नहीं है।

तुम्हारे और तुम्हारे पार्षदों के चरणों में मैं अपना अंतिम प्रणाम निवेदित करता हूँ और तुमलोगों से विदा मांगता हूँ।"

इतना कह कर शिशु का निष्प्राण शरीर पुनः मृत्यु-शय्या पर निष्चेष्ट हो गया। प्राण का कोई चिह्न अब उस शरीर में विद्यमान न था।

जीवन और मृत्यु के बीच कोई अन्तराल या पार्थक्य नहीं है, इस रहस्य को विज्ञापित करने के लिए ही महाप्रभ ने यह अलौकिक लीला दिखलायी थी। इस घटना के बाद श्रीवास के अन्तःपुर के नर-नारियों का शोकोच्छ्वास बहुत-कुछ प्रशमित हो गया।

पंडित श्रीवास को और उनकी पत्नी मालिनी देवी को ढाढस देते हुए महाप्रभु ने कहा : "ईश्वर के विधान के अनुसार तुम्हारा एक पुत्र आज चला गया। किंतु आज से तुम्हें दो नये पुत्र मिले—मैं और नित्यानन्द। अब तुमलोग शोक-संताप भूल जाओ; कम-से-कम भूल जाने की चेष्टा करो।"

इतना कहकर भक्त-जनों के साथ, महाप्रभु ने स्वयं खड़े होकर मृत-शिशु का संस्कार संपन्न कराया।

गया-धाम से लौटने के बाद, लगभग एक वर्ष का समय व्यतीत हो गया है। इस अल्प अवधि में ही गौरांग महाप्रभु ने नाम-गान के प्रेम-धर्म के सहारे नवद्वीप को भारत के वैष्णवों की केन्द्रीय भूमि के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। उनके भुवन-मोहन व्यक्तित्व के प्रभाव और प्रतिपत्ति का इसमें यथेष्ट योगदान अवश्य है। आज यदि नवद्वीप के घर-घर में नाम-कीर्त्तन की आनन्द-ध्वनि सुनाई पड़ रही है, तो इसका सारा श्रेय एकमात्र महाप्रभु के व्यक्तित्व के सम्मोहन को है। लेकिन क्या, केवल श्रीवास के अगवासे में चलनेवाली यह अंतरंग लीला ही उस महत्कार्य को पूरा कर सकेगी, जिसके लिए कि महाप्रभु ने देह-धारण किया है? भगवन्नाम का प्रेम-रस केवल नवद्वीप को भिगोता रहे, इससे विश्व के समस्त मुमुक्षु भक्तों को संतोष न होगा और प्रेम-धन-प्रभु को भी इसमें पक्षपात की गंध दिखाई देगी। प्रेम-धर्म के सार्वदेशिक उद्यापन के लिए अब यह आवश्यक हो गया है कि महाप्रभु नवद्वीप से प्रस्थान करें।

महाप्रभु की अंतरात्मा में आह्वान की ध्वनि सुनाई पड़ चुकी है। विश्व की मानव जाति के कल्याण के निमित्त उन्हें प्रेम-भक्ति के प्रवाह को, अपेक्षाकृत बृहत्तर क्षेत्र में प्रवाहित करना पड़ेगा। वे मनुष्य मात्र के दुःख, विरह और आर्त्ति को अपने हृदय में खींच लेंगे। वे पूरे विश्व को अपने प्रेम का आह्वान सुनायेंगे। किन्तु यह तो तभी होगा जब घर का मोह और नवद्वीप का मोह छोड़कर वे पूरी धरती को अपनी आवास-भूमि प्रमाणित करने के निमित्त बाहर निकल पड़ें।

इससे भी बड़ी बात यह है कि गौरांग महाप्रभु संसारी गृहस्थ के बाने में हैं। माता की स्नेहमयी ममता, किशोरी भार्या का प्राण-विह्वलकारी प्रेम और भक्त शिष्यों की शरणागति का दायित्व, उन्हें, चारों ओर से रह-रहकर, घेर रहा है। इस बंधन को तोड़े विना जगत् के शेष लोगों को उनका उन्मत्त प्रेम कैसे प्राप्त हो सकेगा ? वे सम्बन्धों के द्वारा रचित संसार को विना छोड़े सब के अपने कैसे हो पायेंगे ? कुछ ऐसा ही सोच-विचार कर महाप्रभु ने निश्चय किया कि अब वे शीघ्र ही संन्यास-आश्रम में प्रवेश करेंगे। कटिहार के संन्यासी केशव भारती को वे संन्यास-आश्रम के दीक्षा-गुरु के रूप में वरण करेंगे--ऐसा निश्चय भी उन्होंने उसी क्षण कर लिया।

दूसरे ही दिन उन्होंने अपने संकल्प की बात नित्यानन्द को तथा कुछ अन्य सहचरों को बता दी। माता शची देवी को भी उन्होंने अपना संकल्प उसी दिन निवेदित कर दिया। इस निदारुण संवाद ने परिजनों और भक्त-जनों को व्याकुल कर दिया। उन्हें जान पड़ा कि उनके माथे पर आकाश ने पहाड़ गिरा दिया है।

अनुनय, क्रन्दन और अश्रु-जल--किसी में भी इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह गौरांग महाप्रभु को उनके संकल्प से डिगा दे। कुसुम-से कोमल शरीर में वज्र-जैसा दृढ़ चित्त उन्हें सांसारिक सम्बन्धों के प्रति निरपेक्ष कठोरता के धरातल पर टिकाये रहा। इस समय प्रेम की कोमलता ने वज्र-जैसी कठोरता का परिचय देना ही ठान लिया है।

माघ महीने का शुक्ल-पक्ष आ चुका है। एक गंभीर निशीथ के नीरस क्षण में किसी को बिना कुछ बताये गौर सुंदर ने सदा के लिए अपने पैतृक गृह का त्याग कर दिया। सुबह होते ही पूरे नवद्वीप में उनके निदारुण गृह-त्याग की कथा फैल गई। मिश्रपल्ली में वृद्धा विधवा जननी शची देवी का करुण विलाप और तरुणी पत्नी विष्णुप्रिया की हृदयवेधी सिसकी के दृश्य देखनेंवाले भक्त-जनों का क्रन्दन-स्वर व्याप्त हो गया। कटिहार की राह पकड़ कर प्रभु नवद्वीप से अन्तर्धान हो गये।

केशव भारती की कुटी में महाप्रभु के पहुँचने कुछ ही बाद नित्यानन्द, गदाधर, मुकुंद प्रभृति पार्षद भी आ पहुँचे।

महाप्रभु के काले घुँघराले बाल मुड़वा दिये गये। इसके बाद केशव भारती ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी। तरुण संन्यासी का नया नामकरण हुआ--श्रीकृष्ण चैतन्य। उस समय महाप्रभु की उम्र मात्र चौबीस वर्षों की थी।

संन्यास की दीक्षा लेने के बाद महाप्रभु ने कटिहार का भी त्याग कर

दिया। अब उन्हें नवद्वीप लौटना नहीं है। वहाँ से वे सीधे नीलाचल की ओर द्रुतपद से चल पड़े। नील माधव का वंशी-स्वर आज उनके अन्तर के अतःपुर से पुकार रहा है। विरहिणी राधा की भाँति पागल होकर वे माधव की खोज में नीलाचल की ओर दौड़े जा रहे हैं।

नवद्वीप के श्रीवास का अगवासा अब उन्हें वापस नहीं खींच सकता। इस बार दारुब्रह्म जगन्नाथ का महाधाम उन्हें अपने लीला-मंच पर पुकार रहा है। आत्म-प्रकाश का परमलग्न निकट आ गया है। अब भला देर कैसी ?

मार्ग में लगभग दस दिनों तक प्रभु शान्तिपुर के अद्वैत आचार्य के घर में अवस्थान करते रहे। यह समाचार पाते ही वहाँ उनकी जन्मदातृ माता और भक्तों की भीड़ उपस्थित हो गई। नृत्य-कीर्त्तन का महोत्सव-पर्व फिर चल पड़ा। पर शीघ्र ही उत्सव की समाप्ति हुई और महाप्रभु ने स्नेहमयी जननी और भक्तों से विदा मांगी। उत्कल का क्षेत्र अभी दूर था। प्रभु द्रुत पद से उसी ओर चल पड़े।

भाव-विह्वल अवस्था के कारण उन्हें देश और काल की दूरी का एहसास ही नहीं होता। साथ-साथ चल रहे हैं—नित्यानन्द प्रभृति चार भक्तगण। नील-माधव प्रभु के दर्शन कब होंगे, इसी प्रतीक्षा की बेकली उन्हें विश्राम नहीं करने देती।

लम्बी दूरी तय करने के बाद महाप्रभु पुरी-धाम के निकट जा पहुँचे हैं। दूर से ही जगन्नाथ देव मंदिर का उच्च शिखर भाग उन्हें दिखाई पड़ा। यह देखते ही वे उन्मत्त की भाँति मंदिर की दिशा में दौड़ पड़े। उनके साथ-साथ दौड़ने की हिम्मत भला किसमें होती ? निदान संगी-साथी बहुत पीछे छूट गये।

जगन्नाथ देव के मंदिर में प्रवेश करते ही महाप्रभु श्री कृष्ण चैतन्य महाभाव में निमग्न हो गये। उनके ध्यान के इष्ट देवता जगन्नाथदेव की दारु-मूर्त्ति उनके सामने खड़ी है। उन्हें साफ दिखायी पड़ा कि दारुमय प्रतीक मूर्त्ति निरी मूर्त्ति नहीं है, वह तो गोलोक पति मदन मोहन के चिन्मय परम रसोज्ज्वल रूप का ज्योतिर्मय अधिष्ठान है। निखिल लोक-लोकान्तर की समस्त मधुरता और सुन्दरता को एकत्र करके उस विग्रह का निर्माण किया गया है !

अरूप ने यहाँ अपने को रूपायित किया है। सच्चिदानन्द ने विग्रह का रूप धारण कर लिया है। परम प्रभु का चिर प्रकाश यहाँ चिर-विहार में निमग्न है। इस दुर्लभ दिव्य दर्शन को पाकर कोई किस प्रकार अपने को स्थिर रख पायेगा ?

प्रेमोन्मत्त महाप्रभु के घन-घन हुंकार से पुरी का वह प्राचीन मंदिर

प्रकम्पित हो उठा। थोड़ी ही देर बाद महाप्रभु का बाह्यज्ञान जाता रहा। अकस्मात् दोनों बाँह फैलाकर जगन्नाथदेव के दारु-विग्रह को उन्होंने अपने वक्ष-स्थल में चिपका लेना चाहा।

मंदिर के पंडों और प्रहरियों के बीच शोर मच गया। कैसा दुस्साहसी है यह तरुण संन्यासी ? पुरुषोत्तम के महाविग्रह को यह अपने स्पर्श से कलुषित करना चाहता है। महाप्रभु के प्रयास में बाधा देने के लिए वे सभी एक साथ इकट्ठे हुए। बाधा पाकर प्रभु संज्ञाशून्य हो गये और पृथ्वी पर गिर पड़े। उन्हें मूर्च्छितावस्था में घेर कर मंदिर के सेवक गण उत्तेजित स्वर में उस दिन देर तक कोलाहल और गर्जन करते रहे।

उसी समय राजपंडित वासुदेव सार्वभौम श्री जगन्नाथ देव के विग्रह को प्रणाम करने आ पहुँचे थे। तरुण संन्यासी के प्रति पंडों, पुजारियों, प्रहरियों का निष्ठुर व्यवहार देखकर उन्हें कष्ट पहुँचा। वे उनकी भीड़ चीर कर पूजा-पीठ की ओर अग्रसर हुए।

उस समय सार्वभौम की पुरी में अद्भुत ख्याति थी। उत्कल राज प्रताप रुद्र ने उन्हें यत्नपूर्वक नवद्वीप से मंगवाकर पुरी में बसा दिया था। राजा उन्हें अपने गुरु की तरह आदर करता था। समग्र भारतवर्ष के नैय्यायिकों और वेदान्तियों के समाज में सार्वभौम को शीर्षस्थ और अग्रगण्य माना जाता था। उनके पास दिग्दिगन्त से छात्रों, आचार्यों और दंडी संन्यासियों की टोलियाँ शास्त्र-अध्ययन के निमित्त निरन्तर आती रहती थीं। उत्कल-क्षेत्र में धर्म-संबंधी कोई विवाद होता तो उसका समाधान वासुदेव सार्वभौम के बिना संभव नहीं हो पाता। उत्कल के धर्मज्ञ पंडित गण सार्वभौम के प्रत्येक वाक्य को परम प्रमाण के रूप में स्वीकार कर लिया करते थे। राजा और प्रजा—दोनों के ही बीच उनकी असीम प्रतिष्ठा थी।

वासुदेव सार्वभौम को सामने आते देख कर पंडे, पुजारी और प्रहरी संत्रस्त हो उठे। सार्वभौम की दृष्टि विग्रह के सामने भू-लुंठित तरुण संन्यासी के निश्चेष्ट शरीर पर पड़ी। दारुण दृश्य देखकर वे चौंक उठे। ऐसी भुवन-मोहन मूर्त्ति इसके पहले उन्होंने कभी और कहीं नहीं देखी थी। उससे भी बड़ी बात थी तरुण संन्यासी की वह प्रेम-विह्वलता, जिसने उसे मूर्च्छित कर रखा था।

पंडित महाशय का मन पिघलने लगा। उन्होंने तुरत वाहकों को बुलाया और उनकी सहायता से मूर्च्छित तरुण-संन्यासी को उठाकर अपने निवास-स्थान पर ले गये। थोड़ी ही देर बाद चैतन्यदेव के भक्त पार्षद-गण उनकी खोज करते-करते पहले मंदिर में आये और वहाँ से वासुदेव सार्वभौम के निवास-स्थान पर

जा पहुँचे। सार्वभौम पंडित को उनलोगों से यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि संन्यासी श्रीकृष्ण चैतन्य नवद्वीप के निवासी हैं। प्रेम-भक्ति के आवेश में सदा विह्वल रहने वाले श्रीकृष्ण चैतन्य की चर्चा वे पहले भी सुन चुके थे। उन्होंने यह भी लक्ष्य किया कि तरुण संन्यासी भक्त के भक्त संगीगण उन्हें परमेश्वर की ही भाँति भक्ति-श्रद्धा करते हैं और उन्हें अपना आराध्य मानते हैं। तरुण संन्यासी के प्रतिभा दीप्त आनन, अपूर्व प्रेमावेश और प्रचंड वैराग्य को देखकर सार्वभौम महाशय उनकी ओर बहुत आकृष्ट हुए।

जब श्रीकृष्ण चैतन्य का बाह्य-ज्ञान लौटा तो पंडित वासुदेव सार्वभौम ने उन्हें बड़े स्नेह के साथ कहा : "देखो भैया ! बहुतेरे दंडी संन्यासी मेरे पास अद्वैत वेदान्त का अध्ययन करने आते रहते हैं। सच्ची बात तो यही है कि कोई प्रकृत संन्यासी ही वेदान्त तत्त्व को आयत्त कर सकता है। यह तो तुम स्वयं भी जानते ही होगे। इसलिए आज से तुम मेरे पास बैठे-बैठे वेद-वेदान्त की व्याख्या सुना करना। क्यों, ठीक कह रहा हूँ ना ? तुम खुद देख लेना तत्त्व-श्रवण से तुम्हारा उपकार ही होगा।"

श्री चैतन्य ने विनयपूर्वक कहा : "आचार्यवर ! आप पंडितों के शिरोमणि महाज्ञानी हैं। आपके सामने तो मैं निरा बालक हूँ। कृपया वही कर दें जिससे मेरा कल्याण हो। आपके हाथों मैंने यहाँ आकर अपने को सौंप दिया। मेरे कल्याण के निमित्त आप जैसा उचित समझें, कृपया वैसा ही करें।"

श्री चैतन्य का वेदान्त-पाठ नये सिरे से फिर शुरू हुआ है। वासुदेव सार्वभौम रोज नाना दुरूह तत्त्वों की व्याख्या करते जा रहे हैं और वे उनके पास बैठे-बैठे बड़े मनोयोग से उन व्याख्याओं को सुनते जा रहे हैं। इस तरह एक सप्ताह से अधिक समय व्यतीत हो गया, किंतु श्री चैतन्य के मुख से एक शब्द भी न निकला। आजतक उन्होंने कोई भी प्रश्न न किया। वे केवल सुनते जा रहे हैं। वासुदेव पंडित के मन में स्वभावतः संदेह हुआ कि तरुण संन्यासी संभवतः वेदान्त-तत्त्व से पूर्णतः अनभिज्ञ व्यक्ति है, इसलिए उनके द्वारा की गई गंभीर व्याख्या उसके पल्ले नहीं पड़ रही है।

एक दिन सार्वभौम महाशय ने पूछ ही दिया—"अजी, रोज-रोज मैं इतनी देर तक जटिल शास्त्र की व्याख्या किये जा रहा हूँ, किंतु तुम्हारे मुख से उस प्रसंग में कभी एक शब्द भी न निकला। मेरी व्याख्या तुम्हारी समझ में आ जाती है ना ? यदि ठीक से नहीं समझ पा रहे हो, तो साफ-साफ बता दो।"

श्री कृष्ण चैतन्य ने विनयपूर्वक निवेदन किया—"आचार्य महाशय, आपने तो आरंभ में ही बता दिया था कि अद्वैत-तत्त्व का श्रद्धापूर्वक श्रवण करना

संन्यासी का कर्त्तव्य है, इसलिए आप जो कुछ कहते जा रहे हैं, उसे सुनना अपना परम कर्त्तव्य मानकर मैं शिरोधार्य करता जा रहा हूँ, लेकिन यह भी ठीक है कि आपका प्रकृत वक्तव्य क्या है, आप मुझे क्या बताना चाहते हैं, यह अब तक मेरी समझ में नहीं आया।"

सार्वभौम महाशय नितान्त रूष्ट होकर बोले —"बात क्या है ? यदि तुम नहीं समझ सके, तब तुम्हें यथासमय प्रश्न पूछकर मेरे तात्पर्य को ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए था। ऐसा न करके तुम चुपचाप सुनते च` गये और समझने की कोशिश न की, यह तो अच्छा न हुआ। ऐसा करके तुमने अन्याय ही किया है।"

चैतन्य महाप्रभु ने सहज भाव से धीर स्वर में कहा—"आचार्य महाशय, सच पूछा जाए तो शास्त्र के मूल सूत्र में तो कहीं कोई कठिनाई थी ही नहीं। मूल सूत्र को तो सहज रूप से मैं समझ जाता हूँ, उसमें कहीं कोई कठिनाई नहीं होती; किंतु मायावादी शंकराचार्य का अनुसरण करते हुए आप जब भाष्य करने लगते हैं, तो पूरी बात ही उलट जाती है। उस समय जान पड़ता है कि सूत्रकार के तात्पर्य को छोड़कर आप काल्पनिक व्याख्या में तल्लीन होते जा रहे हैं। भगवान् व्यास का सूत्र तो अति सरल और सुस्पष्ट है। उन सूत्रों को कल्पना के द्वारा आच्छादित करके अपने निजी मंतव्य को व्याख्या के रूप में उनसे संलग्न कर देना कलात्मक व्यापार अवश्य ही है। फिर उसे श्रवण करना, संन्यासी होने के नाते मेरा कर्त्तव्य भी तो है, जैसाकि आपने बताया था।"

चैतन्य महाप्रभु के वाक्यों को सुनने के साथ ही सार्वभौम महाशय के तन-मन में आग लग गई। वे तिलमिला उठे। मन-ही-मन सोचा, कैसा दुस्साहसी है यह युवक संन्यासी ! क्या इसे पता नहीं है कि मैं, वासुदेव सार्वभौम, भारत-प्रसिद्ध महापंडित के रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति हूँ ! फिर उसे ये हिम्मत क्यों हुई कि मेरी व्याख्या को कल्पित एवं अर्थहीन तथा अनर्थकारी बताकर मुझे अपमानित करना चाहे ! इतना ही नहीं, यह तो शंकराचार्य के भाष्य को भी काल्पनिक मानता है और उस दिग्विजयी आचार्य के मंतव्यों को चुटकी बजाकर उड़ा देना चाहता है !

अंतर में चलनेवाली आवेग की आंधी की उत्तेजना का संवरण करके सार्वभौम महाशय ने इतना ही कहा—"यदि शंकराचार्य का मंतव्य और मेरी व्याख्या व्यासदेव के सूत्रों से अलग-थलग जान पड़ती है तो तुम अपनी बात ही मुझे समझा दो। जरा मैं सुन लूँ कि भगवान् व्यास के स्पष्ट सूत्रों के कौन-से स्पष्ट अर्थ तुमने निर्धारित कर दिये हैं !"

महाप्रभु चैतन्य ने सार्वभौम महाशय के कथन के समाप्त होते ही अपना गुरु-गंभीर भाषण शुरू कर दिया। मुहूर्त-भर के भीतर उनके अंतर में सुप्त पांडित्य का प्रचंड तेज जग पड़ा। अपूर्व व्याख्या और विश्लेशण देते हुए उन्होंने वेदांत-सूत्र की व्याख्या प्रेम-धर्म की प्रधानता को निरूपित करनेवाली पद्धति के साथ उपस्थापित कर दी। उनका तत्त्व-निरूपण था—भगवान् हैं सच्चिदानंद के परम विग्रह, उनके प्रति प्रेम ही इस जीवन का परम पुरुषार्थ है!

अलौकिक प्रतिभा के तेज से चैतन्य महाप्रभु का मुखमंडल प्रदीप्त था। उनके मुख से निकले शब्द चैतन्य से ओत-प्रोत थे। उनके व्यक्तित्व की तरह, उनकी कथन-भंगी में भी अद्भुत मोहकता है। दैवी शक्ति से संपन्न ऐसे महान् पंडित का सामना सार्वभौम महाशय ने जीवन में पहले कभी किया नहीं था। भक्ति, शक्ति और ज्ञान की एकत्र क्षमता चौबीस वर्ष के तरुण संन्यासी में ओत-प्रोत देखकर वे विस्मय-विमूढ़ हो गये। उन्हें कुछ कहते बन नहीं रहा है।

महापंडित वासुदेव सार्वभौम के पास बचाव का कोई साधन रह नहीं गया है। न्याय और वेदांत में उनकी प्रतिभा भारत-विख्यात थी। देश के पंडित-समाज ने उन्हें अग्रगण्य मान लिया है, किंतु इस युवा संन्यासी ने तो उन्हें तिनके की तरह तोड़-मरोड़ कर तुच्छ बना दिया।

भय, विस्मय और श्रद्धा से सार्वभौम महाशय महाप्रभु श्री कृष्ण चैतन्य की ओर निर्निमेष दृष्टि से देख रहे हैं और सोच रहे हैं—मनुष्य के वेश में यह वस्तुतः मनुष्य ही है या कोई परम देवता? पांडित्य के सारे अहंकार और आत्म-प्रचार को प्रेमाभक्ति के प्रतिपादक तरुण संन्यासी ने जैसे ध्वस्त कर दिया है। वेद-शास्त्र में बेजोड़ पंडित को वेद-वेदांत के एक अनभिज्ञ युवक ने इस तरह प्रतिहत कर दिया कि सार्वभौम महाशय का पांडित्य अवश शिशु की भांति भौंचक हो रहा है। उन्होंने श्री कृष्ण चैतन्य के मुख से वेदान्त-सूत्र की जो नयी व्याख्या सुनी है, वह सर्वथा नूतन ही नहीं, सर्वाधिक मधुर और सर्वोत्तम व्याख्या भी है।

वेदांत-सूत्र की प्रेम-परक व्याख्या का प्रवचन तरुण संन्यासी ने समाप्त किया। उन्होंने भाव-गद्गद् कंठ से कहा—"आचार्य महाशय, मानव-जीवन का परम-साध्य है—भगवद्भक्ति। इसीलिए महान् आत्मज्ञानी और सर्वथा मुक्त महा-मुनिगण भी भक्ति के लिए ही लालायित रहते आये हैं। श्रीमद्भागवत ने इसी मंतव्य को घोषित करते हुए कहा है—

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्थाऽप्युरुक्रमे।
कुर्वंत्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूत गुणोहरिः॥

अब पंडित महाशय ने सविनय कहा—"यतिवर, यह श्लोक सचमुच अद्भुत है। इसका वास्तविक तात्पर्य आपके मुख से सुनूँ, इसकी आकांक्षा मेरे अंतर में प्रबल हो उठी है। कृपा करके मुझे इसका निहित तात्पर्य समझा दें।"

सार्वभौम महाशय का पांडित्याभिमान खंडित अवश्य हुआ है, किन्तु अभी उसकी जड़ उखड़ी नहीं है, इसलिए उनके निवेदन में नम्रता के साथ-साथ शंका का भी व्यंग्यार्थ विद्यमान था। इस रहस्य को ताड़ने में महाप्रभु चैतन्य को कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने भी बड़ी चतुरता के साथ कहा—"बात तो बड़ी अच्छी है, किन्तु स्थिति स्पष्ट ही है। आप उम्र में भी मुझ से बड़े हैं, ज्ञानवृद्ध भी हैं और वेदान्त के आचार्य भी हैं, इसलिए उचित तो यही होगा कि इस श्लोक का जो तात्पर्य आपको अभिप्रेत है, पहले वह मुझे बता दें, उसके बाद उस प्रसंग में मैं अपना मंतव्य भी निवेदित कर दूँगा।"

वासुदेव सार्वभौम इस कथन को सुनकर घबरा उठे। उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि पांडित्य के बल से, इस श्लोक के वे अनेक अर्थ सुना सकते हैं। यह भी संभव है कि ऐसा करके वे अपने सम्मान की रक्षा करने में सफल हो जायँ, ऐसा सोचकर उन्होंने भाषा, भाव और तत्त्व-दृष्टि के सहारे उक्त श्लोक की कई व्याख्याएँ गढ़ कर सुना दीं। उन्होंने सोचा कि इस श्लोक की कोई नयी व्याख्या, संभवतः, अब हो भी नहीं सकती।

लेकिन इसके बाद एक नयी विपत्ति आ गई। महाप्रभु चैतन्य ने उनकी आशा-लता पर अपने सहास्य वाक्य से तुषारापात करते हुए कहा—"आचार्य महाशय, यदि मत-मतांतर की सूची ही प्रस्तुत करनी हो तो इस श्लोक के और भी अनेक अर्थ संभव हैं। कृपा करके उनपर भी विचार कर ही लिया जाय।"

चैतन्य महाप्रभु की अभिनव व्याख्यावली शुरू हुई। एक-एक कर श्लोक के अनेक नये अर्थ अविरल धारा प्रवाह के क्रम में, महाप्रभु ने प्रस्तुत कर दिये। पंडित वासुदेव सार्वभौम उन्हें सुन-सुन कर विस्मित होते रहे और सोचते रहे—इस तरुण संन्यासी की प्रतिभा मानव-सामर्थ्य की परिधि में समानेवाली वस्तु नहीं। निश्चय ही यह कोई दैवी-शक्ति-संपन्न महापुरुष हैं।

सार्वभौम महाशय ने पांडित्य-लीला का प्रदर्शन करने के क्रम में उपर्युक्त श्लोक के सोलह अर्थ संभव कर दिखाये थे। महाप्रभु चैतन्य ने बात-की-बात में और नये अट्ठारह अर्थों की संभावनाएँ बतायीं। इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य नयी व्याख्याओं की संभावना को वे निरस्त करना चाहते थे। सार्वभौम भट्टाचार्य की विद्या का दर्प इतने ही से ध्वस्त हो गया। अब तक उनके पांडित्य-गर्व की दीपशिखा को प्रज्वलित रखनेवाली वर्तिका को वे सहला-

सहलाकर सुखा रहे थे। अब फूँक मारकर उसे बुझा देना ही महाप्रभु को उचित जान पड़ा। उन्होंने वैसा ही कर दिखाया।

वासुदेव सर्वभौम के पांडित्याभिमान की आग ठंढी हो गई। उनकी आँखों से प्रेमाभक्ति की अविरल अश्रु-धारा प्रवाहित हो चली। हृदय के स्वच्छ दर्पण में सामने बैठे तरुण संन्यासी का दिव्य रूप उन्हें दिखायी देने लगा। उन्हें स्पष्ट हो गया कि ईश्वरीय भक्ति, ईश्वरीय ज्ञान और ईश्वरीय शक्ति की एकत्र प्रतिमूर्त्ति ही उस तरुण संन्यासी के रूप में धरती पर उपस्थित हुई है।

घड़ी-भर में क्या हो गया, यह कहना कठिन है। सहसा महापंडित वासुदेव सार्वभौम तरुण संन्यासी श्रीकृष्ण चैतन्य के चरणों में लोटने लगे तथा श्रद्धा और प्रेम के आवेग में मूर्च्छित हो पड़े। यह था उत्तर भारत के पूर्वांचल के पंडित पंचानन का एक तरुण संन्यासी के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण। महापंडित ने श्री चैतन्य महाप्रभु को अपने जीवन-मरण के प्रभु के रूप में स्वीकृत कर लिया।

उस दिन श्रीकृष्ण चैतन्य ने वासुदेव सार्वभौम को किस प्रकार आत्मसात कर लिया, इसका रहस्य, उस समय, किसी को ज्ञात न था। बाद में पता चला कि उक्त व्यापार के पीछे केवल भक्त और भगवान् की अहेतुकी लीला न थी, कृपा का प्रकाश-संपात भी उसे कहना यथेष्ट न होगा, क्योंकि उस लीला और करुणा के पीछे कोई और भी अधिक महत्तर तात्पर्य था। शक्तिधर सार्वभौम के आत्म-समर्पण के उपरान्त चैतन्य महाप्रभु ने नीलाचल क्षेत्र में एक नयी लीला का आरंभ कर दिया। केवल उत्कल के राज-परिवार में अथवा विद्वन्मंडली में ही नहीं, सारे भारत में वासुदेव सार्वभौम के उस शास्त्रार्थ की कथा वर्षों तक आलोड़ित होती रही। उसी क्रम में श्री चैतन्य का नाम भी पूरे भारतवर्ष में विख्यात हो गया। प्रेमाभक्ति के भगीरथ के रूप में भारतवर्ष के पंडितों और भक्तों का समाज उन्हें जानने-समझने लगा।

उत्कल के नीलाचल क्षेत्र में चैतन्य महाप्रभु लगभग दो महीनों से निवास कर रहे हैं। एक दिन उन्होंने निश्चय किया कि कुछ दिनों के लिए पुरी को छोड़कर दक्षिण भारत के मुख्य तीर्थों की यात्रा भी पूरी कर ही ली जाए।

उनके निश्चय को जब सार्वभौम महाशय ने सुना तो वे बोले—"प्रभु, आप दक्षिण देश का तीर्थयात्रा के क्रम में भ्रमण करना चाहते हैं तो देर मत करें। वहाँ रामानंद राय नामक एक महापुरुष इन दिनों निवास कर रहे हैं। उनसे मिल लेना आपके लिए जरुरी है। वे उत्कल-राज के प्रतिनिधि के रूप में विद्यानगर में रहकर शासन-कार्य संभाल रहे हैं। उन्हें शूद्र और विषयी, संसारी मानकर अनखाना उचित न होगा। वे प्रेमाभक्ति के साधन-पथ के अधिकारी

पुरुष हैं। ऐसे रसज्ञ भक्त धरती पर इने-गिने ही होंगे, जो रामानन्द राय का मुकाबला कर सकें। पहले कई वार उन्हें 'वैष्णव' कहकर मैं चिढ़ा चुका हूँ। यह आपकी ही कृपा का परिणाम है कि उस भक्त के रहस्य को समझने की बुद्धि मुझमें शनैः शनैः उत्पन्न हो रही है।

महाप्रभु चैतन्य ने वासुदेव सार्वभौम के कथन को ध्यान पूर्वक सुना और यात्रा के पथ पर उनके साथ परिव्राजकों का एक दल दक्षिण भारत की ओर चल पड़ा। यात्रा-पथ पर अग्रसर होनेवाले वैष्णवों की इस टोली में कृष्ण नाम के माधुर्य-रस का समुद्र रह-रहकर उमड़ता रहता है। भक्ति, प्रेम और शरणागति के भाव से दिन-रात विभोर रहते हैं महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य। सहचरों के स्वर में स्वर मिलाकर, दिन-रात इस मंत्र का वे गान करते रहते हैं—

"राम राघव राम राघव राम राघव रक्षमाम्
कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहिमाम्।"

नाम-गान, प्रेमावेश और नृत्य-कीर्त्तन के रस में मार्ग के प्रत्येक ग्राम, नगर को निमग्न करना महाप्रभु की इस यात्रा का दैनन्दिन कार्य-क्रम बनता जा रहा है। किसी की आँखों को महाप्रभु के दिव्य रूप ने मोह लिया है तो किसी के कर्ण-कुहर महाप्रभु के कण्ठ-स्वर के माधुर्य से ओत-प्रोत होकर आपा खो चुके हैं। महाप्रभु ने अपनी दोनों वाहें फैलाकर राह चलते-चलते जिस बड़भागी को अपने आलिंगन में एक क्षण के लिए बाँध लिया, उसके सौभाग्य का तो कहना ही क्या? प्रत्येक गाँव, प्रत्येक नगर, प्रत्येक गली में परमेश्वर की दिव्य शक्ति का कृपा-संचार उस यात्रा-मंडली के रूप में दिन-रात अपने को प्रकट करता जा रहा है।

समय थोड़ा है और दक्षिण भारत की तीर्थयात्रा की राह है बहुत अधिक लंबी। इसी बीच भगवान् के पुण्यमय कल्याणकारी नाम का पूरे देश में बीज-वपन करना महाप्रभु के लिए आवश्यक है। वैसा करके वे प्रेम-धर्म के रस-स्रोत से भारतवर्ष को सदा के लिए सींच जाना चाहते हैं। महाप्रभु को जो करना है, वह सब-कुछ परमेश्वर के द्वारा पूर्व-निर्धारित है। अल्प अवधि में उस महत् कार्य को पूरा कर लेने के लिए महाप्रभु तत्पर हैं। उनके यात्रा-पथ में विश्राम को बहुत थोड़ा समय मिल पाता है। वे इतनी तीव्र गति से यात्रा पथ पर अग्रसर हो रहे हैं कि उनके साथ चलनेवाले तीर्थयात्रियों को निरंतर दौड़-दौड़कर चलना पड़ता है। जिस तरह नदियाँ समुद्र की ओर बड़े वेग से दौड़ती रहती हैं, उसी तरह तीर्थयात्रियों की यह मंडली दक्षिण भारत की

तीर्थयात्रा के पथ पर बेतहाशा बढ़ी जा रही है।

दक्षिण भारत में दिन-प्रतिदिन किसी-न-किसी तीर्थ की परिक्रमा में लगे हैं चैतन्य महाप्रभु। उनके प्रेममय विश्वमोहन व्यक्तित्व का प्रभाव कोने-कोने को अभिभूत कर रहा है। उस प्रभाव से अभिभूत हुए बिना रह पाना किसी के लिए संभव नहीं हो पा रहा है। तर्क-वेत्ता, शास्त्रज्ञ और पंडित हों किंवा विषयासक्त सेठ और सामंतों का धनी-वर्ग अथवा पाखंडियों, दस्युओं और पतितों की टोलियाँ—प्रभु की मोहिनी शक्ति का उल्लंघन करना किसी के वश की बात नहीं है। जिसने एक बार गौरांग महाप्रभु को देख लिया है, वह उनके पीछे चलने को स्वत: विवश हो जाता है। यह बात केवल वैष्णवों के प्रसंग में ही नहीं है, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन और मायावादी संप्रदायों के तीर्थयात्रियों, परिव्राजकों और संन्यासियों को भी इस तथ्य का अपवाद नहीं माना जा सकाता।

यात्रा-क्रम में एक दिन महाप्रभु विद्यानगर के पूर्व श्रुत क्षेत्र में अपने सहचरों के साथ आ पहुँचे हैं। गोदावरी के तट पर बसे विद्यानगर में विश्राम करने का निश्चय कर लिया गया है, पड़ाव डाला जा चुका है। ऐसे ही समय में रामानन्द राय की पालकी नदी-तट पर आकर रुकी। साथ में अनुचरों और दास-दासियों की भीड़ है। राय महाशय नदी में स्नान करने के लिए ही इतने बड़े समारोह के साथ उपस्थित हुए हैं।

स्नान, तर्पण कर लेने के पश्चात् रामानन्द राय की दृष्टि उस वृक्ष के नीचे जाकर ठहर गई, जहाँ महाप्रभु चैतन्य कीर्त्तन-मंडली के बीच विश्राम की मुद्रा में बैठे थे। रामानन्द राय ने देखा कि दिव्यकान्तिवाले तरुण संन्यासी का व्यक्तित्व वस्तुत: अद्भुत है। उस कोमल-मधुर कांति को जिन आँखों ने एक बार देख लिया, वे सदा के लिए वहीं ठहर जायँगे। रामानन्द राय अपने को रोक नहीं सके। वे उस भुवन-मोहन रूपवाले तरुण संन्यासी के सामने जाकर साष्टांग दंडवत प्रणाम निवेदित करते हुए उपस्थित हुए।

यद्यपि अगणित नौकर-चाकरों की भीड़ में श्री रामानन्द राय खो गये थे, तथापि उन्हें पहचानने में महाप्रभु को कोई कठिनाई नहीं हुई। वे मुस्कुराते हुए बोले—"क्या उत्कल-राज के प्रतिनिधि रामानन्द राय आप ही हैं?"

"जी, इसी शूद्र को लोग रामानन्द राय कहते हैं।"

"वासुदेव सार्वभौम ने मुझे बार-बार कहा था कि दक्षिण भारत आने पर आपसे जरूर मिल लूँ। सच पूछिये तो आपसे ही मिलने के लिए मुझे इस नगर में आना पड़ा है। आप तो परमभागवत हैं ही, आपको देखने से ही लगता है कि श्रीकृष्ण के प्रेम में आप आपादमस्तक निमग्न हैं।"

इतना कहने के बाद चैतन्य महाप्रभु उठकर खड़े हुए और रामानन्द राय को उन्होंने अपने आलिंगन-पाश में कसकर बाँध लिया। रामानन्द राय का संपूर्ण शरीर रोमांचित हो उठा और उनकी दोनों आँखों से अविरल अश्रु-धारा बहने लगी। रामानन्द राय इस क्षेत्र के शासन-कर्त्ता हैं। उनके धैर्य, जिद और दुर्दान्तता की कथा पूरे क्षेत्र में प्रचलित है, किन्तु महाप्रभु का आलिंगन-स्पर्श पाकर राजपुरुष ने सुध-बुध खो दी है। उनके शरीर का एक-एक कण रोमांच, अश्रु और कंप से भींग उठा है।

थोड़ी देर के बाद रामानन्द राय जब प्रकृतिस्थ हुए तो उन्होंने महाप्रभु चैतन्य से वारम्वार कृपा की प्रार्थना की। कातर स्वर में उन्होंने निवेदन किया- "प्रभु, आप इस अधम का उद्धार करने के लिए ही इस नगर में पधारे हैं। कृपाकर कुछ दिनों तक अपनी चरण-धूलि से इस नगर को पवित्र होने दें। आप की यह कृपा मेरे जैसे अनेक अधम व्यक्तियों के उद्धार का कारण बनेगी।"

महाप्रभु चैतन्य सर्वज्ञ हैं। उन्हें पता चल गया है कि राय रामानन्द द्वापर की ब्रज-भूमि के एक प्रसिद्ध लीला-सहचर हैं। श्रीकृष्ण के उस लीला-सहचर को चैतन्य महाप्रभु के लीला-सहचर के रूप में भी, शीघ्र ही आत्म-प्रकाश करना होगा। महाप्रभु यह भी जान गये हैं कि खान-पान और वेश-भूषा में रामानन्द राय राजसी ठाट-बाट वाले रईस हैं। राजनीति और कूटनीति उनके दैनन्दिन कृत्यों का प्रकृत क्षेत्र है, किन्तु सांसारिक आवरण के बीच में उनका जो मूल वैष्णव-रूप छिपा हुआ है, उसे महाप्रभु की आँखों ने पहचान लिया है। महाप्रभु जान गये हैं कि रामानन्द राय प्रेम-भक्ति पथ के असाधारण साधक हैं।

प्रभु ने निश्चय कर लिया है कि वे विद्यानगर में कुछ दिनों के लिए अवश्य ठहरेंगे यह तभी संभव होगा जब कि रामानन्द राय के साथ श्रीकृष्ण के प्रेम-रस का उपभोग किया जा सके। इसी कारण वे रामानन्द राय का आग्रह सुनकर विद्यानगर में कुछ दिनों तक ठहरने की खातिर राजी हो गये। नगर के एक भक्त ब्राह्मण के घर में महाप्रभु को ठहरानेकी व्यवस्था की गई।

विद्यानगर में महाप्रभु पूरे दस दिनों तक निवास करते रहे। प्रत्येक दिन सायंकाल के पश्चात् राय रामानन्द महाप्रभु के सामने उपस्थित हो जाया करते। दोनों के बीच की आपसी बातचीत गंभीर प्रेम के आवेग से उफनती रहती। वैष्णवों के भजन, साधन और साध्य के निगूढ़ तत्त्वों पर भी उसी क्रम में प्रकाश पड़ जाता था।

उस दिन रामानंद राय काफी देर तक प्रभु के सामने बैठे रहे। आधी से

अधिक रात बीत चुकी थी। भगवान् श्री कृष्ण के कथा-रस से दोनों का चित्त भींग रहा था। प्रभु की इच्छा थी कि रामानंद राय के जीवन के अंतराल में भजन के मधुर रस का जो निगूढ़ स्रोत प्रवहमान है, उसे अशेष जीव-जन्तुओं के कल्याण के निमित्त प्रकट और प्रचारित कर दिया जाए। इसी उद्देश्य से वे रह-रहकर रामानंद राय को एक-के-बाद एक प्रश्न पूछते जा रहे हैं। संलाप के इसी क्रम में साध्य-साधन के निगूढ़ तत्त्व भी स्पष्ट होते जा रहे हैं। गौड़ीय वैष्णव धर्म के जिस अमृत का उद्गम चैतन्य महाप्रभु के माध्यम से होने वाला था, उसके अक्षय उत्स पर प्रकाश डालने के लिए ही महाप्रभु ने आज के संलाप को देर तक जारी रखा है।

प्रभु ने कहा—"राम राय, मुझे आज यह साफ-साफ बता दो कि वैष्णव-जीवन की परम-प्राप्ति के निमित्त तुम साधन-भजन के किस माध्यम को सर्वाधिक उपादेय और अमोघ मानते हो।"

हमारे रामानंद राय कृष्ण-प्रेम के परम भागवत रहस्य-वेत्ता साधक हैं। प्रभु की इच्छा है कि वे अपने द्वारा प्रचारित तत्त्व को श्री रामानंद राय के मुख से उद्घाटित करा लें। इसीलिए अपने प्रश्न के उत्तर में रामानंद के किसी बहाने को उन्होंने विघ्न बनने नहीं दिया। राय रामानंद की नम्रता, दीनता, आपत्ति और विनय की प्रत्येक कला को व्यर्थ करते हुए उन्होंने उनसे आग्रह किया कि वे हृद्गत निगूढ़ तत्त्व को लोक-कल्याण के निमित्त, साफ-साफ निवेदित कर दें। अन्ततः रामानंद राय को विवश होकर पूरी बात बता देनी पड़ी। स्वधर्म के आचरण में श्री कृष्ण के प्रति कर्मों का अर्पण, ज्ञान-मिश्रा भक्ति के द्वारा स्वरूप में अवस्थान आदि अनेक तथ्यों का वे उल्लेख कर चुके हैं, किन्तु महाप्रभु चैतन्य उनके कथन से संतुष्ट नहीं होते। वे कहते हैं—"राय, ये इधर-उधर की बातें क्यों कर रहे हो? मुझे फुसलाने की कोशिश मत करो। जिस तत्त्व को छिपाकर तुमने रखा है, वह मुझे साफ-साफ बतला दो।"

रामानंद राय और भी अनेक बातें बता रहे हैं। उन्होंने दास्य, सख्य, वात्सल्य प्रभृति अनेक भावों की उपासना के साधन-मार्ग की सविस्तार व्याख्या कर दी है, पर प्रभु उससे भी संतुष्ट नहीं हुए। वे भावाविष्ट होकर कह रहे हैं—"देखो राम राय, बहानेबाजी से काम नहीं चलेगा। रुको मत। असल मुकाम पर आ जाओ। जिस बात को छिपाना चाहते हो, उसे ही तो मैं तुमसे खुलवाना चाहता हूँ।"

रामानंद राय ने कहा—"प्रभु, इन भावों के परे तो एक ही भाव बच रहता है—कान्ता-भाव का प्रेम और वैष्णव-धर्म में उसे ही परम इष्ट माना जाता है।"

भागवत में वर्णित प्रेम-भक्ति-साधना की एक सीमा से दूसरी सीमा तक रामानन्द राय का चित्त परम तत्त्व की खोज में आलोड़ित हो रहा है। उन्होंने समझ लिया कि अब महाप्रभु उन्हें छुटकारा दे देंगे।

किन्तु रामानन्द राय का ऐसा सोचना भी अन्ततः विफल हो गया। महाप्रभु ने उन्हें बीच में ही रोक कर कहा—"देखो राय महाशय, कान्ता-भाव साधना की सीमा-रेखा है, पराकाष्ठा है, यह बात तुमने ठीक ही बताई, किन्तु इतना ही कह कर संतोष कर लेना तुम्हारे लिए उचित नहीं होगा। इसके बाद की भी कुछ बात बता ही दो।"

रामानन्द राय चौंक पड़े। उन्होंने सोचा इससे आगे का निगूढ़ तत्त्व तो कहने-सुनने की बात ही नहीं है। उस रहस्य को जानने की बात किसी जिज्ञासु के मन में शायद ही कभी उठी हो। प्रकाश्य रूप से उन्होंने प्रभु को उत्तर दिया-"प्रभु, जो बात पराकाष्ठा की है, उसके आगे की बात तो कहने-सुनने की है ही नहीं। उसका यदि कोई नाम संभव है, तो 'राधा-प्रेम' ही। प्रेम के इस परम सार को—साध्य-शिरोमणि को 'राधा-प्रेम' ही कहा जा सकता है। रास-विहारी ब्रज-वल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप ही है सच्चिदानन्दमय। उस सच्चिदानन्दमय स्वरूप के ही आनंद-अंश की ह्लादिनी शक्ति-रूपा हैं श्रीराधा। उस राधा-प्रेम के महाभाव के ही सहारे प्रेम-साधना के शिखर पर आरोहण संभव होता है।"

कृष्ण-रस के परम रसिक, महासाधक श्री रामानन्द राय के मुख से प्रेम-रस का पान करने बैठे हैं स्वयं चैतन्य महाप्रभु। भगवान् के माधुर्य की रस-चर्वणा की अब कोई सीमा नहीं रही। लुब्ध नेत्रों से महाप्रभु ने कहा—"राम-राय, इसके बाद यदि कुछ और बचा है तो वह भी बतला दो। मेरे प्राणों की प्यास आज मिटा ही दो।"

सब-कुछ तो हो गया; अब और बाकी क्या रहा, जो शुरू करूँ?—रामानन्द राय सोच रहे हैं। लगता है, आज वे इस बातचीत का अंत नहीं कर पायेंगे। सहसा उनके कंठ से एक स्वरचित गीत प्रकट हुआ। उस गीत में राधा-कृष्ण के उस तन्मयकारी प्रेम का वर्णन हुआ था, जिसके आवेग में राधा कृष्ण बन जाती हैं और कृष्ण राधा बन जाते हैं। चरम मिलन का परम विरह के रूप में यह एकीभूत रूपान्तर उस गीत में बड़े कौशल के साथ उदाहृत किया गया है। परम प्रेम की एक ऐसी अवस्था भी होती है, जिसमें स्वरूप और शक्ति अलग-अलग नहीं रह जातीं, दोनों के बीच का अंतर मिट जाता है। राधा और कृष्ण की युगल सत्ता वहाँ पहुँचकर एक ही हो जाती है। रामानन्द राय के

उस गीत की पहली पंक्ति थी—"ना से रमण, ना हम रमणि" अर्थात् रस-राज जब महाभाव के रूप में आस्वाद्य होता है तो श्रीकृष्ण और राधा के अलग-अलग रूप कायम नहीं रह पाते, दोनों मिलकर एकरूप हो जाते हैं।

ऐसी अवस्था में लीला का आनन्द भी ठहर नहीं पाता। विषय और आश्रय— आश्रय और आलंबन—रासेश्वर कृष्ण और रासेश्वरी राधा—वहाँ मिलकर एकीभूत हैं। अद्वैत की यह रस-सत्ता विलास की भूमि से ऊपर की वस्तु है। सहसा महाप्रभु अत्यंत व्यग्र हो उठे। चंपक-गौर-करतल बढ़ाकर उन्होंने रामानन्द राय के होठ ढाँक दिये, बोले—"बस रहने दो। यह रहस्य नितान्त निगूढ है, एकाकार करने वाली साधना है यह। इसकी चर्चा कभी होठ पर नहीं आनी चाहिए।"

कृष्ण-रस की विश्व-प्लावनकारिणी भक्ति-धारा उसी दिन पहले-पहल उन्मुक्त हुई। रामानन्द राय और चैतन्य महाप्रभु उस रात बड़ी देर तक सुध-बुध खोये बैठे रहे।

विद्यानगर में रहते-रहते चैतन्य महाप्रभु ने दस दिन व्यतीत कर दिये। रामानन्द के जीवन में इसी बीच अद्भुत परिवर्तन का आविर्भाव हो गया। अब राज-काज में उनका मन नहीं लगता। राज-काज के सारे व्यवसाय उन्होंने कर्मचारियों के कंधे पर छोड़ दिये हैं। अब दिन-रात वे प्रभु के पास ही बैठे रहते हैं।

एक दिन प्रभु ने रामानन्द राय को अपने पास बुलाकर एकान्त में कहा—"देखो राम राय, अधीर मत होना। उकताने से काम नहीं चलेगा। दक्षिण देश के तीर्थों की परिक्रमा करके मुझे लौट आने दो। फिर नीलाचल क्षेत्र के पुरी-मंदिर में हम-दोनों अवश्य मिल लेंगे। हम-दोनों अंतरंग-लीला रस का आस्वादन उस परमक्षण के आये बिना कैसे कर सकेंगे?"

इतना कहने के बाद महाप्रभु ने रामानन्द राय को अपने आलिंगन-पाश से मुक्त कर दिया और सहचरों की टोली के साथ दक्षिण भारत के शेष तीर्थों की यात्रा के निमित्त द्रुत गति से चल पड़े।

चैतन्य महाप्रभु की इस यात्रा का उद्देश्य केवल तीर्थ-दर्शन न था। उसका उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य—भगवद्भक्तों के प्रति भगवत्-कृपा का उदार वितरण। चैतन्य महाप्रभु के भक्तों ने ठीक ही कहा है कि भारत के प्रसिद्ध तीर्थों में स्थापित देव-विग्रहों के दर्शन के बहाने उस तीर्थ-यात्रा में महाप्रभु ने अनगिनत वैष्णव-भक्तों को अपना दर्शन देकर कृतार्थ कर देना पहले

ही मन में ठान लिया था । दक्षिण भारत में वैष्णव भक्तों के जहाँ कहीं आवास-स्थान अथवा संघ-क्षेत्र थे, महाप्रभु उन सभी स्थानों में कभी-न-कभी अवश्य जा पहुँचे । और महाप्रभु जहाँ पहुँचे वहाँ भगवान् के ऐश्वर्य और माधुर्य का निस्तल अपार महासमुद्र उमड़ने लगा और भक्ति के अमृत स्रोत के अभिसार-पथ एकत्र हो गये ।

उस दिन महाप्रभु श्रीरंग-क्षेत्र में अवस्थित हुए थे । पुण्य-सलिला कावेरी नदी में स्नान-तर्पण करने के पश्चात् उन्होंने श्री रंगनाथ जी के दर्शन कर लिये थे । इसके बाद आरंभ हुआ था नृत्य और कीर्त्तन का वह उत्सव, जो महाप्रभु के प्रेमावेग को अलौकिक आनन्द के रस-शिखर पर उत्तोलित कर दिया करता था ।

मंदिर के एक कोने में एक सौम्य दर्शन ब्राह्मण भगवद्गीता का पाठ कर रहे हैं । आपका नाम है–युधिष्ठिर । इन्हें इस क्षेत्र में पहुँचे हुए भक्त के रूप में लोग जानते–मानते हैं ।

ब्राह्मण देवता प्रतिदिन भक्तिपूर्वक एकाग्रचित्त से गीता के अट्ठारहवें अध्याय का यहीं पारायण कर जाया करते हैं । गीता के अट्ठारहवें अध्याय का पारायण करते समय उनकी दोनों आँखों से अविरल अश्रु-धारा बहती रहती है । लोग यह भी जानते हैं कि पंडितजी संस्कृत भाषा का शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण तो सहज स्वाभाविक ढंग से कर लेते हैं, पर संस्कृत भाषा का ज्ञान उन्होंने कभी पाठशाला या विद्यालय में अर्जित नहीं किया । सच तो यह है कि संस्कृत भाषा वे नहीं जानते । ऐसी स्थिति में स्पष्ट ही गीता के श्लोकों का ठीक-ठीक अर्थ समझ पाना उनके वश की बात नहीं है, यह भी स्पष्ट ही है । फिर क्या कारण है कि गीता के श्लोकों को पढ़ते समय वे आरंभ से अंत तक भाव-विह्वल होकर लगातार अश्रु-वर्षण करते रहते हैं । उनकी इस अबूझ हरकत को कुछ लोग नाटक या ढोंग मानकर उनका उपहास करें, यह भी सर्वथा संभव है ।

श्रीरंगनाथ जी को नमस्कार निवेदित करने के बाद चैतन्य महाप्रभु मंदिर से बाहर निकलने लगे । अकस्मात् उनकी दृष्टि गीता-पारायण-रत युधिष्ठिर महाशय की अश्रु-वृष्टि पर पड़ी । गीता-पाठ का काम लगभग समाप्त हो चुका था । अश्रु-धारा के जल से दोनों कपोल अबतक भींगे थे । प्रेमावेश से विह्वल ब्राह्मण देवता का सर्वांग शरीर रोमांच और कंप से स्पन्दित था और क्रन्दन का आवेग रह-रहकर सशब्द हो उठता था । ब्राह्मण युधिष्ठिर के निकट जाकर महाप्रभु ने स्नेहपूर्वक जिज्ञासा की—"विप्रवर, गीता-पाठ करके इस तरह प्रेम-विह्वल हो जाना किसी और के लिए यदि कभी संभव भी हुआ हो तो मैं उसे नहीं जानता । आप कृपया मुझे बतलायें कि गीता के किस श्लोक ने आपको

अपने अपार्थिव आनन्द के आवेग से अधीर करके इस तरह रुला दिया है ? क्या यह बताने की कृपा आप मुझपर करेंगे ?"

ब्राह्मण देवता ने उत्तर दिया—"प्रभु, इस ग्रंथ में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है, जिसका शब्दार्थ मैं जान-समझ सकूँ। किसी श्लोक का अर्थ समझना मेरे वश की बात नहीं है। मैं तो निरा मूर्ख व्यक्ति हूँ। यह भी नहीं जानता कि शुद्ध पढ़ रहा हूँ या अशुद्ध पढ़ रहा हूँ, लेकिन जब यहाँ भगवद्दर्शन के निमित्त आता हूँ तो उच्च कंठ से इस पूरे अध्याय को पढ़े विना मैं रह नहीं पाता और जब पढ़ता हूँ तो रो उठना भी स्वतः स्वाभाविक हो जाता है। मैं न पढ़ने का रहस्य जानता हूँ और न रोने का। गुरु ने जो आज्ञा दे रखी है, उसी का पालन करने के लिए इस मंदिर में नित्य आ जाया करता हूँ। श्लोक का अर्थ लगाऊँ, यह सामर्थ्य मुझमें नहीं है। श्लोक का अर्थ जान लेना आवश्यक है, ऐसा विचार भी कभी मन में नहीं उठा। सच तो यह है कि मैं ज्यों ही इस अद्भुत ग्रंथ को खोलकर पारायण करना आरंभ करता हूँ मेरी आँखों के सामने महाभारत युद्ध का आरंभिक दृश्य उपस्थित हो जाता है। गुरु की कृपा से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे परम प्रियतम श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण रथ के आगे बैठे अर्जुन को परमतत्त्व का उपदेश दे रहे हैं। उस उज्ज्वल दिव्य युगलमूर्ति को देखते-देखते ही मैं प्रेम से आविष्ट होकर सुध-बुध खो देता हूँ। मेरे अन्तर में रुलाई का प्रचंड वेग उठता है, जिसे किसी भी यत्न से रोकना-टोकना संभव नहीं रह जाता। जब तक गीता-पाठ करता रहता हूँ, तबतक अपने परमाराध्य का विश्वमोहन-रूप भी दिखायी पड़ता रहता है। ऐसी स्थिति में किसी श्लोक को जानना-पहचानना और उसका अर्थ लगाना भला कैसे संभव हो सकता है ?"

युधिष्ठिर ब्राह्मण का उपर्युक्त कथन सुनकर चैतन्य महाप्रभु प्रेम से विभोर हो उठे। उन्होंने दोनों बाहें फैलाकर उस ब्राह्मण को गाढ़ आलिंगन में बाँध लिया; फिर प्रेमाश्रुपूरित दृष्टि से उसे देखते हुए कहा—"भैया, तुम्हें भला मूर्ख कौन कहेगा ? तुम्हारा अंतर भगवत्कृपा से स्वयं ही ज्योतिर्मय हो उठा है। गीता का वास्तविक अर्थ तो तुम ही समझते हो। तुम्हारा ही गीता-पारायण हर तरह से सार्थक है। जो गीता-पाठ परमप्रभु का साक्षात् दर्शन करा दे, उसे सार्थक तो मानना ही पड़ेगा।"

श्रीरंगक्षेत्र के बाद महाप्रभु चैतन्यदेव सेतुबंध रामेश्वर, तिरुवांकुर, पंढरपुर प्रभृति अनेक तीर्थों में अपने सहचरों के साथ पर्यटन करते रहे। इस प्रकार, दक्षिण भारत की तीर्थ-यात्रा के मार्ग में पूरे दो वर्ष व्यतीत हो गये। दो वर्षों के पश्चात् अपने सहचरों के साथ महाप्रभु पुनः पुरी के जगन्नाथ-मंदिर में—

नीलाचल क्षेत्र में वापस आ पहुँचे। उनके आगमन से संपूर्ण नीलाचल क्षेत्र उत्साह, उमंग और आनंद के समुद्र में ऊभ-चूभ होने लगा।

महाप्रभु चैतन्य के भक्तों, सहचरों और पार्षदों के दल रह-रहकर गौड़ देश से नीलाचल क्षेत्र में आते-जाते रहते थे। रथ-यात्रा के उत्सव के अवसर पर वैष्णव भक्तों के नृत्य-कीर्त्तन से पुरी-धाम आप्लावित हो उठता था। रथ के आगे-आगे कीर्त्तन करने वाले भक्तों के प्रेमावेश को देखकर लाखों भक्तों और दर्शनार्थियों के हृदय में दिव्य आनन्द की लहर उठने लगती थी।

उत्कल-नरेश प्रतापरुद्र ने एक ऐसे ही अवसर पर चैतन्य महाप्रभु के चरणों में अपने को समर्पित कर दिया। प्रभु की प्रेम-भक्ति-परक उपासना के अन्यतम प्रचारक और धारक के रूप में उत्कल-नरेश को अंचल की जनता, उसी दिन से जानने-पहचानने लग गई।

उस बार प्रभु के गौड़ीय वैष्णव-भक्तों का समय बड़े ही आनंद से व्यतीत हो रहा था। नवद्वीप के आस-पास से वैष्णव यात्रियों की टोलियाँ वारम्वार आ रही थीं। किंतु पुरी से वापस लौटने की बात सुनते ही उनके प्राण विकल हो जाते थे। प्रभु के सान्निध्य का सुख छोड़कर घर वापस लौटना, किसी को भी पसंद न था।

इसी बीच महाप्रभु ने एक दिन श्रीपाद नित्यानन्द को अपने निकट बुला लिया और एकान्त में उन्हें ले जाकर कहा—"श्रीपाद, मैं तो घर-संसार सदा के लिए छोड़कर ही आया हूँ, लेकिन यदि तुम भी अवधूत-वृत्ति का अवलंबन कर इसी तरह जहाँ-तहाँ विचरण करते रहोगे, तो संसारी जीवों का उद्धार कौन करेगा ? मेरी बात पर जरा ध्यान दो। तुम गौड़ देश लौट जाओ और वहीं रहकर भगवान् का कार्य यथाविधि करते रहो। हर वर्ष एक वार अपने मित्रों के साथ नीलाचल आ जाया करना ताकि वर्ष में एक वार मैं भी तुमसे मिल लिया करूँ। एक और रहस्य की बात है। वह भी सुन ही लो। मेरी इच्छा है कि तुम विवाह करो और संसार में रहकर विवाहित जीवन के साथ भगवद्भक्ति का संबंध स्थापित कर दिखाओ। देश के अगणित गृहस्थगण तुम्हें देखकर गार्हस्थ्य धर्म की महिमा को समझेंगे और प्रकृत वैष्णव के रूप में देश के सद्गृहस्थों को अपनी मर्यादा का परिचय मिलेगा। मैं चाहता हूँ कि घर-घर में आदर्श वैष्णव-गृहस्थ की सृष्टि हो। गौड़ देश के सामाजिक जीवन के प्रत्येक स्तर में नाम-कीर्तन का प्रेम-रस ओत-प्रोत करने के लिए तुम्हें मेरा प्रतिनिधि बनकर इस अनुष्ठान को पूरा करना होगा।"

प्रभु को नीलाचल में छोड़कर नवद्वीप अकेले वापस लौटने की बात नित्यानंद को विकल करने लगी। उन्हें ऐसा लगा कि उनके सिर पर अनभ्र वज्राघात हो रहा है। वे आजीवन ब्रह्मचारी अवधूत रहे। अब तारुण्यकाल के अंतिम भाग में वे विवाह करें और घर बसावें, यह सलाह भी उनकी समझ में नहीं समा रही है। वे मन-ही-मन सोचने लगे कि बसे-बसाये घर को छोड़कर संन्यास की दीक्षा लेनेवाले महाप्रभु कहीं उनके साथ परिहास तो नहीं कर रहे हैं? क्या नित्यानंद अवधूत को सद्‌गृहस्थ की भूमिका में सच-मुच उतरना पड़ेगा? महाप्रभु की बात क्या अटपटी नहीं है?"

अन्ततः नित्यानंद ने कातर स्वर में निवेदन किया—"प्रभु, मेरे प्रति ऐसी निठुराई क्या आपको शोभा देगी? यह कठोर दंड आप मुझे क्यों देना चाहते हैं? विपरीत पथ पर मुझे ढकेलने के पीछे आपका अभीष्ट क्या है? यह जरा मैं भी तो जान लूँ!"

"श्रीपाद, यह बात सभी जानते हैं कि हम और तुम देह से भिन्न होकर भी प्राण से अभिन्न हैं। इसलिए यदि तुम गार्हस्थ्य धर्म का ग्रहण करके समाज में सद्‌गृहस्थ की मर्यादा को उदाहृत नहीं करोगे, तो सामाजिक जीवन से मेरा जीवित संपर्क संभव नहीं हो पायेगा। ऐसी स्थिति में प्रेम-धर्म का प्रचार असंभव हो जायगा। तुम्हारे लिए गृहस्थ-जीवन में वापस लौटना कठिन अवश्य होगा। इसमें तुम्हारे वर्तमान व्रत को व्याघात भी पहुँच सकता है। किंतु असंख्य जीवों के कल्याण के निमित्त इतना-सा त्याग करने के लिए तुम्हें निरंतर प्रस्तुत रहना चाहिए। यदि संसारी जीवों पर तुम कृपा न करोगे तो उन्हें परमवस्तु की प्राप्ति कैसे होगी?"

नित्यानंद समझ गये हैं कि यह महाप्रभु का अनुरोध नहीं, अपरिहार्य आदेश है। अन्ततः उन्हें विवश होकर नवद्वीप लौटना ही पड़ा। प्रभु की आज्ञा के अनुसार उन्हें गार्हस्थ्य-धर्म को भी स्वीकार कर लेना पड़ा। इसके बाद संपूर्ण बंगाल में उनके कीर्त्तन, नृत्य और नाम-प्रचार की धूम छा गई। जन-साधारण उन्हें प्रेमी-भक्त—'दयाल निताई' के नाम से पुकारने लगा।

कुछ दिनों के बाद महाप्रभु ने वृन्दावन और मथुरा की यात्रा करनी चाही। वार-वार विघ्न उपस्थित हो जाने के कारण व्रजभूमि की यात्रा में तीन वार बाधा पड़ी। इस वार महाप्रभु ने अकेले ही यात्रा करने का निश्चय किया। विना किसी को बताये अपने साथ केवल एक सेवक को लेकर वे व्रज-भूमि की यात्रा पर चुपके से निकल पड़े।

वृन्दावन पहुँचने के साथ ही महाप्रभु के नृत्य और कीर्त्तन का प्रेमावेश अपने अद्‌भुत और उत्ताल रूप में प्रकट होने लगा। श्रीकृष्ण की लीला-भूमि के

चौरासी कोस ब्रज-मंडल के एक-एक पुण्य स्थान को महाप्रभु देखते-पहचानते और पूर्व-परिचय की स्मृति के उन्माद-रस में आत्म-विस्मृत हो रहते। कभी उन्हें धेनु-मंडली की पुकार स्तंभित कर देती, तो कभी मयूर-मयूरी के नृत्य देखकर वे भाव-विह्वल हो जाते। द्वापर की श्रीकृष्ण-लीला महाप्रभु को कलि-काल में रह-रहकर याद आती और उनका वाह्य-ज्ञान लुप्त हो जाता।

इसी समय दिव्य भावावेश में आविष्ट होकर वे ब्रज-मंडल के बहुतेरे लुप्त प्राचीन तीर्थ-स्थलों का पुनरुद्धार करते रहे। इस जन्मान्तरीण अनुसंधान का उत्तर भारत के वैष्णव तीर्थ-यात्रियों के लिए जो अप्रतिम महत्त्व है, उसे कौन कह सकता है! ब्रज-मंडल के एक प्राचीन विस्मृत पथ पर घूमते-घूमते, एकदिन महाप्रभु ने अत्यंत कातर अवस्था में आस-पास के लोगों से वार-वार पूछा: "राधा कुण्ड कहाँ है?" बहुत दिनों से किसी ने राधा-कुण्ड का नाम ही नहीं सुना था। उस नाम का कोई स्थान ब्रज-भूमि में कभी था भी या नहीं, यह कोई नहीं जानता। ऐसी स्थिति में महाप्रभु को राधा-कुण्ड का पता कैसे चले? राधा-कुण्ड के अनुसंधान की वह कातर उन्माद-दशा महाप्रभु पर कई सप्ताह तक दिन-रात हावी रही। उसी अवधि में एक दिन उन्होंने राधा-कुण्ड को खोज निकाला। राधारानी उनके अन्तस्तल में स्वयं प्रकट होकर, उस पवित्र स्थान को बताने आयी थीं, ऐसा मानने वाले वैष्णवों की आज भी कमी नहीं है।

राह चलते-चलते महाप्रभु एक नयी जगह पर पहुँचकर, अकस्मात् रुक गये। चारों ओर धान के खेत हैं और बीच में है—एक छोटी-सी तलैया। आवेशग्रस्त अवस्था में उन्होंने घोषणा कर डाली—"यही तो है अपनी राधा-रानी की याद को जुगाये रखने वाली स्मृति-भूमि—राधा-कुण्ड!"

उक्त घोषणा के साथ ही महाप्रभु उस तलैया में कूद पड़े और वैष्णव-भक्तों का विशाल अनुयायी-दल उस कुण्ड को चारो ओर से घेरकर कई दिनों तक नृत्य और कीर्त्तन करता रहा।

महाप्रभु के द्वारा आविष्कृत इस राधा-कुण्ड को भारतवर्ष के वैष्णव-तीर्थ-यात्रियों ने एकमत से अपनी स्वीकृति दे-दी है। वृन्दावन और मथुरा के बीच राधा-कुण्ड के सटे पास ही अब कृष्ण-कुण्ड को भी खोज लिया गया है।

महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य जिन दिनों ब्रज-भूमि में श्रीकृष्ण के लीला-स्थानों का अनुसंधान करते फिर रहे थे, उस समय मथुरा, गोकुल और वृन्दावन की अवस्था बड़ी ही दयनीय थी। अनेक शताब्दियों के मुस्लिम शासन ने भारत के जिन तीर्थ-स्थानों की यात्रा पर रोक लगा रखी थी, उनमें से ही एक था—वृन्दावन भी। वहाँ गाँव-घर नाम मात्र को ही थे। इक्के-दुक्के घरों के चारों

ओर अरण्य-ही-अरण्य फैला था। मथुरा और वृन्दावन के प्राचीन नगर को विधर्मी आक्रमणकारियों द्वारा अनेक वार लूटा, जलाया और उजाड़ा जा चुका था। द्वापर के ऐश्वर्य और माधुर्य की वह भारत-प्रसिद्ध नगरी अपने खंडहरों के बीच सदियों पहले सो चुकी थी और उसकी कब्र पर विस्तृत अरण्य फैल गया था।

किन्तु महाप्रभु चैतन्य के ब्रज-भूमि में आगमन के साथ ही जीवन की नयी हलचल और उत्साह-उमंग का नया प्रकाश वृन्दावन को अकस्मात् घेरने लगा। उसके प्राचीन गौरव को महाप्रभु ने भारतवर्ष की धर्मप्राण जनता के हृदय में फिर से प्रतिष्ठित कर दिया। ब्रज-मंडल के लुप्त स्थानों का अनुसंधान—लोक-विस्मृत श्रीकृष्ण-लीला-भूमि के विशिष्ट स्थलों की पहचान में वे दिन-रात निमग्न रहने लगे। चैतन्य महाप्रभु की प्रेरणा से वृन्दावन में नवद्वीप के शक्तिधर गोस्वामियों की भीड़ लग गई और वृन्दावन में श्री राधा-कृष्ण की प्राचीन लीला-भूमियों को नये सिरे से प्रतिष्ठित किया जाने लगा।

यह आश्चर्य की बात है कि पिछली पाँच सदियों के भीतर यमुना नदी की प्राचीन धारा वृन्दावन को छोड़कर काफी दूर हट गई है। किन्तु जिसे महाप्रभु ने 'केशीघाट' के नाम से पहचाना था, वहाँ यमुना की धारा आज भी पूर्ववत् विद्यमान है। कहते हैं कि यमुना की सर्वाधिक गंभीर धारा 'केशी-घाट' में ही है। उसके पास ही है—इमलीतला, जहाँ महाप्रभु से ब्रज-भूमि की यात्रा के प्रसंग में, निवास किया था। यह भी आश्चर्य की ही बात है कि इमलीतला का वह प्राचीन इमली वृक्ष, अब तक, विद्यमान है, जिसके तले महाप्रभु यमुना-स्नान के बाद ध्यान-मग्न होकर बैठे रहते थे।

वृन्दावन में भ्रमण और निवास करने के पश्चात् महाप्रभु सीधे प्रयाग की ओर चल पड़े। उस समय उनके साथ में थे, बलदेव भट्टाचार्य नामक एक नवागत बंगाली भक्त और एक ब्रजवासी सज्जन। उनका घर ब्रज-भूमि के अंचल में ही था। नाम था—कृष्णदास। उनका जन्म राजपूत जाति के किसी संभ्रान्त कुल में हुआ था। ब्रज-भूमि से प्रयाग तक की यात्रा में कृष्णदास ने महाप्रभु की बड़ी सेवा की थी।

एक दिन मार्ग में ही एक वृक्ष के तले महाप्रभु विश्राम कर रहे थे। पास के ही निकुंज से चरकर एक गाय निकली। थोड़ी ही देर बाद जंगल से किसी चरवाहे की बाँसुरी सिसकने लगी। प्रयाग की राह में ब्रज-भूमि की यह छटा महाप्रभु को बेसुध करती रही। वे गोचारण और मुरली-लीला के कथा-प्रसंग को स्मरण कर उन्मत्त हो उठे। महाभाव की उद्दीपना ने उन्हें घंटों तक मूर्च्छित रखा। सांस गायब हो चुकी थी। मुख से रह-रहकर फेन निकल रहा था।

शरीर से चेतना का चिह्न शनैः शनैः लुप्त होता जा रहा था।

कहते हैं कि उसी समय बादशाही पड़ाव का कोई अश्वारोही पाठान महाप्रभु के शरीर के पास आ पहुँचा। अपरिचित संन्यासी के मूर्च्छित शरीर को निर्जन स्थान में पड़ा देखकर उसका शंकित हो उठना स्वाभाविक ही था। उसे लगा कि संभवतः इसके साथियों ने इसे विष खिला दिया हो और इसकी सामग्री-गठरी लेकर चंपत होना चाहा हो; ऐसा ही सोच-विचार कर उसने घोड़े को रोका और महाप्रभु के मूर्च्छित शरीर को अगोर कर बैठे हुए दोनों मित्रों को बंदी बना लिया।

कृष्णदास ने व्याकुल होकर अश्वारोही से फरियाद की—"हम दोनों संन्यासी महाशय के भक्त और सेवक हैं। बटमारी, चोरी हमारा पेशा नहीं है। ये विष आदि के कारण बेहोश नहीं हुए हैं। भगवान् के प्रति असीम भक्ति ने ही इन्हें मूर्च्छित कर दिया है। पहले भी अनेक बार ये इसी प्रकार मूर्च्छित हो जाया करते थे। हम दोनों मिलकर इनकी परिचर्या और देखभाल करते रहते हैं। इस समय भी वही कर रहे थे।"

कृष्णदास की ऐसी कातर कैफियत का भी, पाठान अश्वारोही पर, कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह तो तय कर चुका है कि इन दोनों व्यक्तियों को जहर देने के अपराध में प्राण-दंड दिलाने की व्यवस्था की जाए। बलदेव भट्टाचार्य और कृष्णदास प्राण-भय से थर-थर कांपने लगे। अनुनय-विनय और तर्क-वितर्क चलते रहे। इसी बीच महाप्रभु चैतन्य की मूर्च्छा टूटी। उन्होंने आँखें खोलीं, यह देखकर पाठान अश्वारोही ने कहा—"साधु बाबा, तुम्हारी किस्मत अच्छी है। तुम बच गये। ये दोनों ठग तो तुम्हें मारकर तुम्हारी गठरी ले भागने की पूरी योजना बना चुके थे।"

महाप्रभु अश्वारोही का कथन सुन भौंचक हो उठे। उन्होंने कहा—"नहीं भइया, ऐसी बात नहीं है। ये दोनों रहजन या बटमार नहीं हैं। यह दोनों तो मेरे एकान्त सेवक और परिजन हैं। सच तो यह है कि इन्हीं दोनों की परिचर्या के कारण मैं बार-बार मूर्च्छित होने के बावजूद, अबतक, जीता-जागता बचा हुआ हूँ।"

साधु ने जब उन दोनों को निरपराध बताकर मामला साफ कर दिया तब पाठान अश्वारोही को भी उनपर संदेह न रहा। अन्ततः बलदेव भट्टाचार्य और कृष्णदास के हाथ-पाँव के बंधन खोल दिये गये और कमर में बाँधी गई रस्सी से भी उन्हें मुक्त कर दिया गया।

बातों के सिलसिले में ही यह स्पष्ट हो गया कि अश्वारोही पाठान काफी

समझदार और पढ़ा-लिखा व्यक्ति है। उसे हिन्दू धर्म के शास्त्रों और परम्पराओं से भी गहरा परिचय है। इतना ही नहीं, चैतन्य महाप्रभु के दिव्य कान्ति और अद्भुत प्रेमावेश को देखकर वैष्णव मत के प्रति वह आकृष्ट हो गया है। महाप्रभु के साथ उसने आध्यात्मिक चर्चा शुरू कर दी।

महाप्रभु की अमृत कथा का अद्भुत प्रभाव उस पाठान अश्वारोही पर भी प्रकट होता जा रहा है। महाप्रभु के व्यक्तित्व में, कंठ-स्वर में और प्रेम-दृष्टि में जो अपूर्व सम्मोहन है, उसने उस पाठान की मनोवृत्ति को अभिभूत कर लिया। मुक्ति की इच्छा से चैतन्य महाप्रभु के चरणों में आत्म-समर्पण कर देने की बात उसके दिमाग में आई। वह महाप्रभु से दीक्षा प्राप्त करने के लिए मचलने लगा। पाठान अश्वारोही को महाप्रभु ने अपने चरणों में आश्रय देना स्वीकार कर लिया। गौड़ीय संप्रदाय में उस पाठान भक्त को रामदास के नाम से अब तक स्मरण किया जाता है।

पाठान अश्वारोही की फौजी टुकड़ी में एक धर्मप्राण तरुण और था। उसका नाम था--बिजली खाँ। वह एक विशिष्ट और प्रतिष्ठित मुसलमान रईस का पुत्र था। इस बिजली खाँ ने भी विनयपूर्वक महाप्रभु से प्रेम-धर्म की दीक्षा प्राप्त की। अपने उत्तर जीवन में बिजली खाँ की प्रसिद्धि गौड़ीय संप्रदाय के श्रेष्ठ वैष्णव के रूप में हुई।

मार्ग में प्रेम-धर्म के प्रचार का महान् कार्य करते हुए महाप्रभु प्रयाग पहुँच चुके हैं। उनके आने के समाचार ने तीर्थराज के आस-पास के क्षेत्रों में उत्साह की लहर पैदा कर दी है। महाप्रभु के दर्शनार्थियों की भीड़ बड़ी संख्या में दिन-रात एकत्र होती रहती है। इन्हीं दिनों श्रीरूप का महाप्रभु के निकट प्रयाग में आगमन हुआ। श्रीरूप गौड़ देश के बादशाह हुसैन शाह के सचिव रह चुके थे और अपनी प्रजा के बीच साकर मल्लिक के नाम से प्रसिद्ध थे। उनके ज्येष्ठ भाई का नाम था--सनातन। सनातन भी बादशाह के सचिव-मंडल के ही सदस्य थे। प्रधान सचिव होने के कारण उन्हें जनता 'दबीर-खास' कहकर पुकारती थी।

श्रीरूप की काव्य-प्रतिभा और सनातन का पांडित्य उन दिनों बंगाल के बुद्धिजीवी वर्ग के बीच चर्चा का विषय बन चुका था। इससे भी बड़ी बात यह थी कि राज-सेवी होने के बावजूद श्रीरूप और सनातन विषय-सुख के प्रति पूर्णतः विरक्त थे। वे इसी उद्देश्य से प्रयाग चले आये थे कि महाप्रभु के चरणों में अपने पूर्व जीवन के अर्जित सुख-वैभव और सम्मान को समर्पित कर महाप्रभु की कृपा प्राप्त करें। बहुत दिनों से वे महाप्रभु को पत्र लिखकर अपने अभीष्ट की सूचना देते रहे थे।

महाप्रभु अधिकांश पत्रों के उत्तर नहीं दे पाते। श्रीरूप के पत्रों के साथ भी यही बात हुई। किंतु अन्ततः श्रीरूप के लिए आत्म संवरण करना संभव नहीं हुआ। राज-सचिव की मर्यादा और वैभव-ऐश्वर्य का गर्व छोड़कर वे चैतन्य महाप्रभु की खोज करते उस दिन प्रयाग आ पहुँचे।

श्रीरूप को महाप्रभु अपने चिह्नित पार्षद के रूप में, मन-ही-मन, जानते पहचानते थे। इसलिए उन्हें जब श्रीरूप के आगमन का समाचार दिया गया तो वे अत्यधिक प्रसन्न हुए और वारम्वार कहने लगे—"बहुत अच्छा हुआ। आखिर बहुत दिनों के बाद श्रीरूप पर भगवान् श्रीकृष्ण को कृपा करनी ही पड़ी। इसे विषय-पंक से खींचकर भक्ति के शिखर पर प्रतिष्ठित करने का साहस, श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और किसमें संभव होता?"

श्रीरूप को महाप्रभु ने अपने पास प्रयाग में यथेष्ट समय तक रखकर व्रज-रहस्य-तत्त्व का ज्ञान उन्हें प्रदान कर दिया। इसके बाद एक दिन श्रीरूप में शक्ति-संचारण के पश्चात् उन्हें सीधे वृन्दावन चले जाने की आज्ञा महाप्रभु ने दे-दी। उन्हें यह भी कहा गया कि महाप्रभु जब नीलाचल पहुँच जायँ तो श्रीरूप को भी पुरी के मंदिर में जाकर महाप्रभु के दैनन्दिन उत्सव-समारोह में सम्मिलित हो जाना चाहिए। यही श्रीरूप कालान्तर में रूप गोस्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए। वृन्दावन में इनके द्वारा स्थापित श्रीकृष्ण-मंदिर को वैष्णव-भक्तों द्वारा बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है।

श्रीरूप के वृन्दावन-प्रस्थान करने के कुछ ही दिन बाद उनके भाई सनातन भी महाप्रभु के चरणों में उपस्थित हुए। कालान्तर में सनातन को गौड़ीय संप्रदाय के आचार्यों में अन्यतम महत्त्व प्राप्त हुआ।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि सनातन गोस्वामी और रूप गोस्वामी पूर्वजीवन में गौड़ देश के शासक हुसैन शाह के कुशल और विश्वसनीय सचिव के पद पर कार्य कर चुके थे। रूप गोस्वामी के पद-त्याग के कारण हुसैन शाह को शासन-कार्य में बड़ी कठिनाई होने लगी थी। किंतु जब रूप गोस्वामी के साथ-साथ सनातन गोस्वामी ने भी बादशाह की चाकरी से अपने को अलग कर लिया, तब तो हुसैन शाह की कठिनाई और अधिक बढ गई। उन्होंने निश्चय कर लिया कि किसी-न-किसी तरकीब से सनातन गोस्वामी को राजधानी में ही रोक रखना चाहिए। इस निश्चय के बाद सनातन गोस्वामी को कड़े पहरे में बन्दी बनाकर रख दिया गया।

सनातन और रूप के बीच खत-खितावत का संपर्क कायम था। सनातन को पता था कि श्रीरूप को चैतन्य महाप्रभु ने अपने चरणों में आश्रय दे दिया है।

यह समाचार जानने के बाद उनके प्राण महाप्रभु के दर्शनों के लिए रह-रहकर तड़पने लगे। मन-ही-मन यह भाव उन्हें उत्साहित करने लगा कि इस स्थिति से छुटकारा पाना ही होगा। तभी महाप्रभु के दर्शन की आशा रखी जा सकती है। एक दिन बंदी-गृह से बाहर निकल आने का सुयोग उन्हें स्वतः सुलभ हो गया। उनकी ओर से किसी ने कैदखाने के प्रहरीगण को प्रचुर उत्कोच-राशि प्रदान कर दी। परिणामस्वरूप कारा-गृह का ही एक प्रहरी सनातन गोस्वामी को कारा-गृह से निकाल कर प्रयाग के मार्ग में दूर तक पहुँचा आया।

बंगाल और प्रयाग के बीच की दूरी काफी लम्बी है। हुसैन शाह के कारागार से निकल कर सनातन फकीर के वेश में प्रयाग की ओर बेतहाशा दोड़े जा रहे हैं। ग्रीष्म-काल की लपलपाती धूप और पावस-काल की घनघोर वृष्टि को राह में ही झेलते उन्होंने चार महीने व्यतीत कर दिये। मार्ग में विश्राम करने की इच्छा उन्हें कहीं रोक नहीं पायी। वे उम्मीद कर रहे थे कि प्रभु से मिलन का अवसर उन्हें वाराणसी में प्राप्त हो जायगा।

सनातन को पता था कि बादशाह के भेदिये उनका पीछा करना नहीं छोड़ेंगे। किसी-न-किसी प्रकार से उन्हें, वे, गौड़ देश लौटाकर ले आयेंगे। उनका यह भय निराधार न था। इसलिए उन्होंने जान-बूझ कर ऐसी राह चुनी, जो यात्रियों को प्रिय नहीं थी और जिसे दुर्गम अरण्य और पहाड़ियों ने जन-साधारण के लिए त्याज्य बना दिया था। उनके दोनों पाँव चलते-चलते लहू-लुहान हो चुके हैं। भूख-प्यास से वे अधमरे हो चुके हैं। राह की थकावट ने शरीर को विशीर्ण कर दिया है, पर वे दिन-रात चले जा रहे हैं, चले जा रहे हैं।

उस समय तक महाप्रभु, सचमुच, प्रयाग को छोड़कर वाराणसी चले आये थे। सनातन उनके चरणों में आश्रय ढूँढ़ने वहीं जा पहुँचे। एक-दूसरे को देखकर दोनों ही चकित और आंदोलित हो उठे। दोनों ही की आँखों से अश्रु-धारा बहने लगी। भक्त और भगवान् के इस मर्मस्पर्शी मिलन का वर्णन चैतन्य-संप्रदाय के अनेक चरित्र-ग्रंथों में हुआ है।

महाप्रभु ने सनातन से कहा—"आज का दिन मेरे लिए परम सौभाग्य का दिन है। भगवान् श्रीकृष्ण ने मेरे निकट इस महावैरागी महापुरुष को ला दिया है। अब तुमलोग इस सनातन पंडित के बाल मुड़वा दो। मस्तक-मुंडन के पश्चात् गंगा-स्नान करा कर इसे संन्यासी के अनुरूप एक लंगोटी दे-देने की व्यवस्था भी पहले ही कर लो।"

सनातन के हृदय में जैसी तीव्र मुमुक्षा है, वैसा ही उद्दाम वैराग्य। बार-बार के अनुरोध के बावजूद वे कौपीन तथा झूल के रूप में नये वस्त्र

को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं हो रहे हैं। उनके हठ को देखकर महाप्रभु ने एक प्राचीन वस्त्र के ही दो टुकड़े करवा दिये और लंगोटे की व्यवस्था हो गई।

आहार-व्यवहार के प्रसंग में भी सनातन का व्रत नितांत कठिन है। किसी दिन वे प्रभु के प्रसाद में से ही एकाध कौर पाकर तृप्त हो जाते हैं; किसी दिन उसकी अपेक्षा भी नहीं रखते और मधुकरी की यात्रा में पहले घर के द्वार पर जो कुछ मिल जाता है, उससे ही उदर-पूर्ति की विधि पूरी कर लेते हैं। कभी-कभी कुछ नहीं मिलता, केवल फटकार और अपशब्द मिलते हैं। उस दिन सनातन उसे ही पर्याप्त मान लेते हैं। श्रीकृष्ण चैतन्य के भक्तों के समूह में सनातन के वैराग्य की चर्चा विस्मयपूर्वक की जाती है। महाप्रभु उसे सुन-सुनकर पुलकाकुल हो उठते हैं।

महाप्रभु मुख से तो कुछ नहीं बोलते, किंतु उनके मन में एक प्रश्न रह-रहकर उठ रहा है। वे सनातन के कंधे पर रखे हुए तिब्बती कंबल की ओर जब कभी देखते हैं, तो उस प्रश्न का उठना आवश्यक हो उठता है।

महाप्रभु के अभिप्राय को सनातन गोस्वामी ने ही एक दिन ताड़ लिया। मार्ग में उन्हें बादशाह के एक उच्च पदस्थ कर्मचारी से भेंट हुई थी। वह सनातन गोस्वामी का नितान्त आत्मीयजन था। उसी ने जबर्दस्ती यह तिब्बती कंबल उनके कंधे पर रख दिया था। संन्यासी के शरीर पर कीमती कंबल का रहना अटपटा तो है ही, इसीलिए महाप्रभु की दृष्टि, बार-बार, उसपर ठहर जाती है। सनातन ने मन-ही-मन सोचा, प्रभु की निगाह कदाचित् कह रही है— "सर्वस्व त्याग की प्रतिज्ञा करके कीमती कंबल का यह बोझा कंधे पर क्यों ढो रहे हो ? कंगाल वैष्णव के कंधे पर कीमती कंबल को देखकर, यदि कोई चोरी का माल समझ ले, तो क्या अनुचित होगा ? तुम्हारे कंधे पर तो फटी हुई कंथा चाहिए।"

क्या प्रभु की दृष्टि ने सचमुच ही ऐसा कहा है ?

सनातन गोस्वामी को अब रहा नहीं गया। वे तुरत ही दौड़कर गंगा के किनारे जा पहुँचे। चारों तरफ उन्होंने घूर-घूर कर देखा तो एक दरिद्र भिखारी उन्हें दिखाई पड़ा। वह अपनी फटी गूदरी को धूप में सूखने के लिए फैला रहा था। सनातन गोस्वामी ने गिड़गिड़ाते हुए निवेदन किया—"भैया, मुझपर एक कृपा करोगे ? मेरे पास जो यह तिब्बती कंबल है, कृपा करके तुम यह रख लो और बदले में तुम मुझे अपनी फटी गूदड़ी दे-दो।"

गूदड़ी के मालिक ने लाख-लाख प्रयत्न के बावजूद सनातन गोस्वामी के

प्रस्ताव का ग्रहण नहीं किया। वह सोचने लगा—यह कैसा पागल है! किंतु सनातन अपने हठ पर अड़े हुए हैं। किसी-न-किसी युक्ति से कंबल के बदले फटी गूदड़ी उन्हें प्राप्त करनी ही होगी। बार-बार के अनुरोध के बाद जब उन्हें फटी गूदड़ी मिल गई तो अपना बेशकीमती कंबल उस भिखारी को देकर वे महाप्रभु के निकट लौट आये।

अब सचमुच वे भार-मुक्त हो गये हैं। उनके कंधे पर तिब्बत का बहुमूल्य कंबल नहीं, फटी हुई गूदड़ी है।

चैतन्य महाप्रभु ने सनातन गोस्वामी को इस नये वेश में देखा तो उनके ओठों पर प्रसन्नता की मधुर हँसी खिल आई। ब्रज-भूमि के भावी-संस्थापक, गौड़ीय वैष्णव-संप्रदाय के भावी आचार्य सनातन गोस्वामी के लिए यही वेश उपयुक्त भी है। महाप्रभु के द्वारा चुने गये महापुरुष के विचार या व्यवहार में कोई त्रुटि रह जाय, यह उचित नहीं। सनातन को अपनी त्रुटियों का स्वयं परिहार करते देखकर महाप्रभु का प्रसन्न होना उचित ही था।

सनातन गोस्वामी लगभग दो मास तक काशी में चैतन्य महाप्रभु के साथ ठहर गये। इसी अवधि में महाप्रभु ने सनातन को ब्रज-लीला-माहात्म्य के नव-प्रवर्तित साधन-पथ का संबल प्रदान किया। गौड़ीय वैष्णव-मत के भावी शास्त्रकार को इस प्रकार भविष्यत् के लिए तैयार कर दिया गया।

साधक के रूप में सनातन गोस्वामी दैन्य और वैराग्य की साक्षात् मूर्त्ति थे। गौड़ देश के बादशाह के प्रधान-सचिव राजकीय ऐश्वर्य को छोड़कर एक मुट्ठी अन्न के लिए नगर-निवासियों के घर के सामने घण्टों खड़े रहते हैं। कोई उनकी फटी गूदड़ी को सम्मान की दृष्टि से देखता है, तो कोई घृणा की दृष्टि से। कोई सुलक्षणा वधू उनके भिक्षा-पात्र में एक मुट्ठी अन्न डाल देती है तो कोई कर्कशा अपशब्दों की वृष्टि से तर्जित कर उन्हें खाली हाथ, दरवाजे से वापस लौटा देती है। इस दृश्य को देखकर जानकार लोगों का विस्मय-विमूढ़ हो जाना स्वाभाविक ही है।

प्रेम-भक्ति का जो मार्ग नव-द्वीप में प्रवर्त्तित हुआ था, इस बार वाराणसी में, उसका प्रचार शुरू हो चुका है। आरंभ में वेदान्तियों, संन्यासियों और पंडितों ने चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी आचार्यों को निरे भावुक व्यक्तियों के रूप में जान-पहचान कर मुक्त कर दिया। वे उनके पंथ को शास्त्र-समर्थित गंभीर साधन-पथ के रूप में स्वस्ति देने को प्रस्तुत न थ, किन्तु जब शनैः शनैः महाप्रभु चैतन्य की महिमा से वे अगगत हुए, तो उन्होंने उनके भक्तों को भी आदर और प्रतिष्ठा के साथ स्वीकृत कर लिया।

उन दिनों काशी में अद्वैतवादी संन्यासी प्रबोधानंद की बड़ी महिमा थी। उनके शिष्यों की मंडली में अनेक धनी-मानी पंडित और प्रतिष्ठित लोग सम्मिलित हो गये थे। वेद-वेदांत के शिक्षार्थियों की भीड़ उन्हें दिन-रात घेरे रहती थी। चैतन्य महाप्रभु की चर्चा प्रबोधानंद जी ने भी सुनी थी, किंतु उन्हें गंभीर भाव से स्वीकार करना उन्हें आवश्यक नहीं लगा। एक दिन आध्यात्मिक चर्चा-गोष्ठी में उन्होंने महाप्रभु चैतन्य देव के प्रति व्यंग-विनोद के कुछ हल्के छींटे भी डाल दिये।

महाप्रभु उस दिन बिन्दुमाधव का दर्शन करने के पश्चात् एक महाराष्ट्र देशीय भक्त के घर में भिक्षा-ग्रहण के निमित्त आये हुए हैं। प्रभु की प्रतिमा का दर्शन करने के पश्चात् वे पुलक और कम्प का अनुभव करते हैं। उसी समय साथियों ने उत्साह-उमंग में आकर हरिनाम के कीर्त्तन की धूम मचा दी और प्रेम-भक्ति के समुद्र में गंगा-तट का वह गृह आप्लावित हो उठा है। लोगों की भीड़ भी लगातार बढ़ती ही जा रही है। प्रबोधानन्द जी भी अपने कुछ शिष्य के साथ उसी राह से जा रहे थे। कीर्त्तन की मीठी आवाज उन्हें भी खींचकर अन्ततः वहीं ले गई।

उस समय कीर्त्तन और नृत्य करते-करते महाप्रभु प्रेमाविष्ट होकर धरती पर लोट रहे थे। उनके अंग-अंग में सात्त्विक प्रेम के रोमांच, कंप प्रकट हो रहे थे और दोनों आँखों से आँसू बहे जा रहे थे। शनैः शनैः यही प्रेमावेश गंभीर मूर्च्छा के रूप में महाप्रभु को बेसुध कर दिया। शरीर में जीवन का कोई चिह्न मानो रहा ही नहीं। प्रबोधानंद ने जब इस दृश्य को देखा, तो वे चकित हो उठे।

मायावादी आचार्य प्रबोधानन्दजी शास्त्र के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो चुके थे। किंतु अद्वैत-बोध का यह रस कभी उनके अनुभव का विषय नहीं बन सका था। तरुण संन्यासी के भुवन-मोहन रूप और प्रेमावेश को देखकर वे विह्वल और भावाभिभूत हो उठे। विद्या, प्रतिभा और आत्म-विश्वास में आचार्य प्रबोधानंद असाधारण थे किंतु चैतन्य महाप्रभु के इस सम्मोहनकारी व्यक्तित्व के समक्ष उनकी विद्वत्ता उन्हें उनका बचाव नहीं कर पा रही है।

धीरे-धीरे महाप्रभु की चेतना लौट आई। अब कृष्ण-विरह में विलाप और क्रन्दन का नया अध्याय चल पड़ा। उनके रुदन के संक्रामक प्रभाव से कोइ बच नहीं सकता। उन्हें रोते देखकर सब रो पड़ते हैं। ज्ञानमार्गी संन्यासी प्रबोधानंद के शुष्क हृदय को भी महाप्रभु के स्निग्ध आंसुओं ने तर कर दिया। उनकी दोनों आंखों से भी आंसू बह चले। अजाने ही वे चैतन्य महाप्रभु के अलौकिक प्रेम-पाश में आबद्ध हो गये।

थोड़ी ही देर बाद महाप्रभु ने संज्ञा-लाभ कर इधर-उधर नजर दौड़ायी। उनकी नजर जब आचार्य प्रबोधानंद पर पड़ी तो वे किंचित् चकित और लज्जित हुए और उन्होंने उनके चरणों में प्रणाम निवेदित किया।

अब प्रबोधानंद से रहा नहीं गया। उन्हें लगा कि इतने बड़े महापुरुष के प्रणाम को स्वीकार करना भगवान् के प्रति अपराध होगा। उन्होंने महाप्रभु की चरण-धूलि अपने सिर में लगा ली और साष्टांग प्रणिपात किया।

महाप्रभु चैतन्य ने दोनों हाथ जोड़कर कहा—"यतिवर, यह आपने क्या किया ? आपकी प्रतिष्ठा जगद्‌गुरु के आसन के ही अनुरूप है। मैं तो आपके शिष्य का शिष्य होने योग्य भी नहीं हूँ। आप मुझे प्रणाम करें, तो क्या मुझे अपराध नहीं लगेगा ?"

प्रबोधानंद ने कातर स्वर में रोते-रोते कहा—"अपराध तो मुझसे हुआ कि मैं अब तक आपको पहचान नहीं पाया और विना जाने-बूझे ही आपके प्रति निंदा और उपहास के वचन कह दिये। चरण-धूलि लेकर मैं अपने उन्हीं अपराधों का मार्जन करना चाहता हूँ।"

अब दोनों महापुरुषों के बीच गंभीर धर्मालाप का क्रम शुरू हुआ। प्रबोधानंद तो महाप्रभु के प्रेम से पहले ही अभिभूत हो चुके थे। उनके व्यक्तित्व के रस-स्पर्श ने उन्हें और भी सम्मोहित कर दिया। प्रभु के मुख से उन्होंने जब व्यास-सूत्र की अभिनव व्याख्या सुनी तो वे प्रेम-विह्वल हो उठे। उसी दिन महाप्रभु के चरणों में उन्होंने अपने को शिष्य के रूप में अर्पित कर दिया।

प्रभु की कृपा से प्रबोधानन्द महाराज प्रेमाभक्ति के श्रेष्ठ संन्यासी आचार्य के रूप में शीघ्र ही प्रसिद्ध हो उठे। काशी में उनकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के कारण महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य के भक्ति-मार्ग का प्रचार द्रुतगति से आरंभ हो गया।

वाराणसी से कुछ ही समय बाद महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य लौटकर नीलाचल चले आये। इस समाचार ने उनके भक्तों, अनुरागियों को नयी उमंग से उत्साहित कर दिया। इसके पश्चात् पूरे अट्ठारह वर्षों तक महाप्रभु पुरी के जगन्नाथ मंदिर में प्रतिदिन उपस्थित होते रहे और उस लंबी अवधि में पुरी में ही अपने मित्रों के साथ उनका निवास लगातार कायम रहा।

उत्तर भारत और दक्षिण भारत की सांस्कृतिक संधि-भूमि है—पुरी। भारत का सर्वाधिक सुन्दर और निरापद समुद्र-तट इस नगर को अपनी गोद में सँभाले हुए है। श्री पुरुषोत्तम के दारु-ब्रह्म-विग्रह को इस नगरी ने जगन्नाथदेव

के नाम से सदियों से प्रतिष्ठित कर रखा है। कहते हैं कि आंशिक जल-प्रलय की घटना में ही मदुरा के कृष्ण-भक्तों द्वारा स्थापित प्राचीन मंदिर जिस वर्ष समुद्र के गर्भ में डूब गया, उसी वर्ष पुरी के समुद्र-तट पर दारु-ब्रह्म की तीन काष्ठमूर्तियाँ किसी वैष्णव-भक्त को प्राप्त हुई, जिन्हें ही जगन्नाथ देव के नाम से वर्त्तमान पुरी मंदिर में प्रतिष्ठापित कर दिया गया। ऐतिहासिक महत्त्व के ऐसे पौराणिक महाधाम में महाप्रभु चैतन्य इतने लम्बे अर्से तक यदि निवास कर सके तो इसके पीछे भगवान् की कोई दिव्य-योजना अवश्य थी। नीलाचल के पुरी-मंदिर अंचल को श्री क्षेत्र के नाम से उस समय भी पुकारा जाता था। महाप्रभु चैतन्य देव जब उसे लीला-भूमि बनाने के लिए वहाँ अवस्थित हुए, तो उनके द्वारा प्रवर्त्तित प्रेमधर्म का रस-वर्षण अनिवार्य था।

भारतवर्ष के आध्यात्मिक साधकों की विस्मित दृष्टि महाप्रभु चैतन्य की उस प्रेस-साधना पर जिस समय पड़ी, उस समय उनके मन में शंका का भाव अवश्य था। नृत्य और कीर्त्तन को भगवद्भक्ति के सार्वदेशिक उपाय के रूप में सबसे पहले कदाचित् चैतन्य महाप्रभू ने ही स्वीकृति दी थी। महाराष्ट्र के वारकरी-पंथ वाले भी इस साधना को अंशतः अपनी स्वीकृति दे चुके थे। पर उसका प्रचार-प्रसार सार्वदेशिक स्तर पर उनके (वारकरियों) द्वारा संभव नहीं हुआ। यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि महाप्रभु चैतन्य के आविर्भाव से लगभग तीन सौ वर्ष पहले संत ज्ञानदेव और उनसे भी कुछ सदी पहले 'गीत गोविन्द' के रचयिता महाकवि जयदेव नाम-गान, लीला-गान और कीर्त्तन को भगवत्भक्ति की साधना के रूप में आम जनताके द्वारा सीमित रूप में स्वीकारणीय ठहरा चुके थे, किंतु उसे आध्यात्मिक साधना के सार्वदेशिक उपाय के रूप में महाप्रभु ने जो अखिल भारतीय प्रतिष्ठा दिलायी, वह उनके पूर्ववर्तियों के लिए संभव नहीं हुआ था।

मास के बाद मास और वर्ष के बाद वर्ष व्यतीत हो गये, भारतवर्ष के अगणित तीर्थगामी वैष्णव यात्री जगन्नाथ-मंदिर के सिंहद्वार में प्रवेश करते रहे। दूर-दूर के स्त्री-पुरुष जगन्नाथ-मंदिर में अचल दारु-मूर्तियों के दर्शन जिस गंभीर निष्ठा से करते वैसी ही गंभीर निष्ठा उनकी महाप्रभु की जंगम विश्व-मोहन मूर्त्ति में भी थी। एक प्रकार से चैतन्य महाप्रभु उन अट्ठारह वर्षों तक पुरी के जगन्नाथ देव के ही प्रकारान्तर बनकर, श्रद्धालु जनता द्वारा पूजित होते रहे।

महाप्रभु के नृत्य और कीर्त्तन को देखकर दर्शनार्थियों की प्रसन्नता की सीमा नहीं रह जाती। कृष्णप्रेम की आर्त्ति, प्रभु-मिलन की उत्कंठा का विप्रलंभ रस और प्रभु जनित प्रेम के अष्टविध सात्त्विक भावों को चैतन्य महाप्रभु के रूप में मूर्त्त देखकर दर्शनार्थियों की भीड़ जब तीर्थयात्रा के पश्चात् अपने-अपने घरों को

लौट जाती तो महाप्रभु की दिव्य-लीला की कहानियों का समग्र भारत में प्रचारित हो जाना स्वतः अनिवार्य था। चैतन्य महाप्रभु के विश्वमोहन व्यक्तित्व और लीला-रस का अखिल भारतीय प्रचार वस्तुतः जगन्नाथपुरी के असंख्य तीर्थयात्रियों के ही द्वारा संभव होता जा रहा था।

कहते हैं कि चैतन्य महाप्रभु के एक-एक परिकर का भगवत्प्रेम के साम्राज्य में पूर्व-निर्दिष्ट दायित्व था। वे अपने-अपने क्षेत्र के दिक्पाल की तरह थे। त्याग, वैराग्य और भक्ति की अपरूप महिमा को महाप्रभु ने प्रेम के आलोक से रंजित कर अभिनव उज्ज्वलता प्रदान कर दी थी। इन वैष्णव-साधकों के वैराग्यपूर्ण आचरण और जीवन-साधना के प्रभाव चारों ओर से आनेवाली भारतीय जनता के माध्यम से पूरे देश में फैलते जा रहे थे।

पुरी नगर के ही एक कोने में भक्त हरिदास निवास करते हैं। उनके जीवन का सर्वस्व ही है— नाम-गान की महिमा का प्रचार। त्याग और दैन्य की तो मानो वे मूर्त्त विग्रह ही हैं। महाप्रभु के भक्तों के द्वारा वे महावैष्णव मान लिये गये हैं, किंतु मंदिर के पंडे-पुजारियों के हठ पर इससे कोई आँच नहीं आती। वे जानते हैं कि हरिदास के नाम से प्रसिद्ध हो जाने के बावजूद उस वैष्णव-भक्त का जन्म मुसलमान-कुल में हीं हुआ था। ऐसी स्थिति में यह कैसे संभव हो सकता था कि उन्हें पुरी के जगन्नाथ-मंदिर में प्रवेश करने की इजाजत दे-दी जाती? हरिदास महाशय स्वयं भी चाहते थे कि गलती से भी जाने-अनजाने जगन्नाथ देव के मंदिर में उन्हें प्रवेश नहीं करना चाहिए, क्योंकि वैसी स्थिति में उनके शरीर-स्पर्श से भक्तों की मंडली के सदस्य के अपवित्र हो जाने का खतरा पैदा हो जा सकता है। इस विचार के बावजूद भक्त हरिदास की दैनंदिन उपासना में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्ण के नाम का जप करने में और उनकी लीला का कीर्त्तन करने में ही उनका समय व्यतीत होता था। वे रोज एक लाख श्रीकृष्ण-नाम का जप करते। फिर दूर से ही जगन्नाथ-मंदिर के शिखर-भाग को भक्ति-विह्वल-दृष्टि से एकटक देखते रह जाते और धरती पर लेट-लेट कर मंदिर-शिखर को अपने विनीत प्रणिपात निवेदित करने लग जाते। महाप्रभु नित्य ही जगन्नाथ-मंदिर के गर्भ-गृह में उपस्थित होते और रास्ते में हरिदास से भी उनकी भेंट हो ही जाती। उन्हें हरिदास के पूर्व-जीवन की कथा तब तक बताई नहीं गई थी। वे परम भक्ति-भाव के साथ भक्त हरिदास के सामने कीर्त्तन करते-करते प्रेमोन्माद की आवेग-दशा में मूर्च्छित हो जाया करते थे। अक्सर चैतन्य महाप्रभु के भक्त-जनों की इष्ट-गोष्ठी की कीर्त्तन भक्त हरिदास के सामने ही हुआ करती।

इसी बीच एक दिन रूप गोस्वामी वृन्दावन से लौटकर नीलाचल आ पहुँचे।

महाप्रभु के सान्निध्य में जीवन की उपलब्ध अवधि को व्यतीत कर लेने की इच्छा उनके हृदय को उन्मथित कर रही थी। पहले तो वे मुसलमान बादशाह के सचिव थे, इसलिए राज-दरबार में उपस्थित रहनेवाले मुस्लिम धर्म-साधकों की अंतरंगता भी उन्हें प्राप्त थी। आस-पास के बहुतेरे कट्टर हिन्दू मुस्लिम शासक संपर्क दूषित मानकर उन्हें भी मन-ही-मन अछूत समझ लेते थे, भले ही शिष्टाचार वश उस भाव को छिपाकर रखा जाता था। नीलाचल आने पर पूर्व अनुभव की उसी स्मृति से प्रेरित होकर रूप गोस्वामी ने भक्त हरिदास की कुटिया में ही रहना अपने लिए निरापद माना।

रूप गोस्वामी की कवि-प्रतिभा अद्भुत थी। उन दिनों वे राधा-कृष्ण की युगल-लीला पर कोई दृश्य-काव्य रच रहे थे। उस रचना के प्रति महाप्रभु की भी गहरी रूचि थी। वे स्वरूप, रामानंद प्रभृति कुछ भक्तों के साथ रूप गोस्वामी की उक्त रचना के अंश प्राय: नित्य ही सुन लिया करते। प्रेमानंद की उज्ज्वल भाव-दशा श्रोताओं को ग्रंथ-श्रवण के समय स्वभावत: अभिभूत कर लेती थी। महाप्रभु की प्रेरणा से और शक्ति-संचारण से उपस्थित भक्तों को वह रचना उच्चतर अवस्था में प्राय: नित्य ही ले जाती। किंतु कुछ मास के पश्चात् ग्रंथ के समाप्त होने से पहले ही महाप्रभु ने रूप गोस्वामी को आज्ञा दी कि वे नीलाचल प्रवास को छोड़कर वृन्दावन चले जायँ और शेष जीवन कृष्ण-भक्ति के प्रचार में, वहीं व्यतीत करें।

रूप गोस्वामी के वृन्दावन चले जाने के कुछ ही बाद सनातन गोस्वामी महाप्रभु की सेवा में उपस्थित हुए। नीलाचल पहुँचने की राह उस समय बड़ी भयंकर थी। पथ को दुर्गम बनाने वाले वृहत् अरण्य का नाम था—झारखंड। अनेक मास तक झारखंड वनांचल का जल पीने के कारण सनातन गोस्वामी मार्ग में ही अस्वस्थ हो गये थे। जब वे नीलाचल पहुँचे, तो उनका संपूर्ण शरीर भयंकर चर्मरोग से आक्रान्त हो चुका था।

सनातन गोस्वामी ने भी अपना निवास-स्थान भक्त हरिदास की कुटिया में ही चुना। महाप्रभु जगन्नाथ-मंदिर से वापस लौटते समय प्रतिदिन हरिदास के कुटीर में एकबार अवश्य आ जाते। उसी क्रम में सनातन गोस्वामी को भी महाप्रभु से मिलने का सौभाग्य अनायास प्राप्त हो जाता। महाप्रभु सनातन गोस्वामी को देखने के बाद उनसे अलग नहीं रह पाते। वे उन्हें दोनों बाहों में भरकर जब तक छाती से लगा नहीं लेते, तब तक उन्हें तृप्ति न होती। इस प्रेमालिंगन के क्रम में ही चर्मरोग से दूषित शरीर के क्लेद महाप्रभु के वस्त्र और शरीर में स्वभावत: लग जाते थे, किन्तु महाप्रभु का ध्यान इस छूत की ओर नहीं था।

प्रभु को भक्त के छूतहे रोग के प्रति भले ही घिन न हो, मगर सनातन

गोस्वामी आलिंगन के प्रसंग से संकुचित और लज्जित हो उठते थे। महाप्रभु उनका ज्यों ही आलिंगन करना चाहते, वे थोड़ा पीछे हटकर गुहराने लगते : "प्रभु मैं आपके पाँव पकड़ता हूँ। कृपया मुझे अपनी छाती से लगाकर आप इस छूतहे रोग के स्पर्श स्वीकार न करें। मुझे न छूयें। एक तो मुसलमानी दरबार में रहने के संपर्क-दोष से मैं यों ही अस्पृश्य हो गया हूँ, दूसरे निरंतर रिसते रहनेवाले चर्मरोग ने मेरे शरीर को घिनौना बना दिया है। आपके देव-दुर्लभ पवित्र शरीर में खाज से बहनेवाले खून और पीव का दाग लग जाय—यह मुझे सहा नहीं जायगा। कृपया मुझे आलिंगित कर आप संकट में मत पड़ें।"

लेकिन इस प्रकार के अनुनय-विनय का महाप्रभु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे तो सनातन को बलपूर्वक बाँहों में भरकर अपनी ओर खींच लेते और देर तक छाती से चिपकाये रखते। फिर हँसते-हँसते कहते—"सनातन; तुम कोई साधारण पुरुष हो ? सर्वस्वत्यागी वैष्णव हो तुम। तुम्हारे अंग का स्पंश किसी को भी पवित्र कर दे सकता है। तुम्हें अपने हृदय से लगाकर मैं अपने को ही तो पवित्र करना चाहता हूँ। तुम पर कोई एहसान नहीं करता।"

सनातन बड़ी कठिनाई में पड़ जाते हैं। चैतन्य महाप्रभु कह रहे हैं कि अभी सनातन गोस्वामी को नीलाचल से वापस जाने नहीं दूँगा। नीलाचल में रखकर उनका नित्य आलिंगन करना प्रभु ने अपनी दिनचर्या का अंग बना लिया है। महाप्रभु के शरीर में सनातन गोस्वामी के चर्मरोग क्लिन्न अवयवों से रिसने वाले क्लेद प्रचुर मात्रा में लग जाया करते हैं। सनातन मन-ही-मन लज्जित और आहत होते रहते हैं। ऐसी ही स्थिति में सनातन गोस्वामी को एक दिन ऐसा निश्चय भी करना पड़ा कि महाप्रभु के देव-दुर्लभ भुवन-मोहन शरीर को छूत से बचाये रखने का अब एक ही उपाय शेष है कि सनातन गोस्वामी अपने शरीर का ही त्याग कर दें। रथ-यात्रा का अवसर आ ही चला है। रथ-चक्र के नीचे अपने को डालकर बड़ी आसानी से सनातन गोस्वामी अपने रोग-कलुषित शरीर से अपना पिंड भी छुड़ा सकते हैं और महाप्रभु को भी उस शरीर की छूत से सदा के लिए बचा सकते हैं।

सनातन गोस्वामी ने अपने इस निश्चय को किसी के सामने प्रकट नहीं किया, किंतु महाप्रभु उनके अभीष्ट से अपरिचित नहीं रहे। सनातन गोस्वामी के इस गोपन संकल्प का उन्हें, उसी समय, पता चल गया। रथ-यात्रा की तिथि आ चली थी, तभी एक दिन महाप्रभु हरिदास की कुटी में आकर सनातन गोस्वामी को पुकारने लगे--"सनातन, भ्रम-बुद्धि में पड़कर आत्म हत्या का पाप नहीं करना चाहिए। यह जान लो, देह को नष्ट कर देने से कृष्ण को पाना

सरल नहीं हो जाता, कठिन ही नहीं, असंभव होजाता है। कृष्ण तभी मिलते हैं, जब भक्ति और प्रेम के साधन के रूप में शरीर का द्वैत कायम रखा जा सके। एक और बात तुम भूल गये हो। यह देह तो तुम्हारी अपनी संपत्ति नहीं है। यह तो श्रीकृष्ण की दी हुई धरोहर है। जिस दिन तुमने अपने को मेरे प्रति समर्पित कर दिया, उसी दिन से, तुम्हारी यह देह तुम्हारी अपनी चीज नहीं रही, मेरी संपत्ति बन गई। फिर यह भी जान लो कि आत्महत्या सबसे बड़ा पातक है। मन में उसका संकल्प करना भी किसी भगवद्भक्त के लिए वांछनीय नहीं कहा जा सकता।"

सनातन गोस्वामी समझ गये कि उनकी हृद्गत प्रतिज्ञा को महाप्रभु ने विना कहे, जान लिया है। उनसे छिपाकर किसी संकल्प को रखा नहीं जा सकता।

इस घटना के कुछ ही दिन बाद, महाप्रभु की कृपा से सनातन गोस्वामी के शरीर को उस व्याधि ने सदा के लिए मुक्त कर दिया। चर्मरोग के चकत्तों का कुछ ही दिनों में पूरा सफाया हो गया और सनातन गोस्वामी के शरीर में एक दिव्य कान्ति का आलोक स्वतः प्रकट हो उठा।

प्रायः एक वर्ष तक महाप्रभु ने सनातन को अपने पास रखा और उन्हें प्रेम-साधना के नाना निगूढ़ उपदेश उन्होंने दिये। फिर एक दिन, उन्होंने, उन्हें, वृन्दावन वापस लौट जाने की आज्ञा दे डाली। महाप्रभु ने कहा : "सनातन गोस्वामी और रूप गोस्वामी को अब ब्रज-मंडल में ही जीवनान्त-पर्यन्त निवास करना चाहिए। श्रीकृष्ण की उस लीला-भूमि के जो तीर्थ-स्थल काल-प्रवाह ने लुप्त कर दिये हैं, उन्हें तुम-दोनों ध्यान की योग-दृष्टि से खोजो और उनका पता श्रद्धालु वैष्णव-जनों को भी बतला दो। वृन्दावन-धाम का यह पुनरुद्धार श्री राधाकृष्ण के लीला-रस को भारत के जनचित्त में एक वार फिर से प्रतिष्ठित कर देगा। तुम दोनों का यह भी काम है कि श्रीकृष्ण के भक्तों के वैष्णव-धर्म को प्रतिष्ठित करने वाले नये शास्त्रों की तुम रचना कर डालो, ताकि लुप्त प्राचीन भक्ति-शास्त्र के अभाव में भारत की धर्मप्राण जनता पथभ्रष्ट और उद्भ्रान्त न हो जाए।"

महाप्रभु की आज्ञा से रूप, सनातन और उनके अन्य समसामयिक आचार्यों ने महाप्रभु की इस आज्ञा का आजीवन पालन किया। कंथा-कौपीन धारी अकिंचन वैष्णवों की उक्त आचार्य-मंडली ने, सचमुच, भारतीय धर्म-साधना की एक उज्ज्वलतम प्राचीन धारा को लुप्त होने से सदा के लिए बचा लिया और सहस्र-सहस्र नर-नारियों को प्रेमाभक्ति का नवीन पथ प्रदान करने में उन्होंने सफलता पाई।

महाप्रभु चैतन्य द्वारा प्रवर्त्तित प्रेम-भक्ति-धर्म की पृष्ठभूमि में कोई सुचिंतित योजना थी, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। किंतु अनायास ही वह योजनाबद्ध आन्दोलन की ही भाँति पूरे देश में फैल गया। महाप्रभु स्वयं नीलाचल में विराजमान थे। प्रेम-धर्म के मूल उत्स के रूप में उनकी अपनी ही भुवन-मोहन व्यक्ति-सत्ता विद्यमान थी। उनके परमोज्ज्वल करुणा-घन दिव्य विग्रह से विच्छुरित होनेवाली ज्योति-वृष्टि आस-पास की अन्य सत्ताओं को भी दिव्य शक्ति से ओत-प्रोत कर देती और इस प्रकार क्रमशः भारत के एक विशाल क्षेत्र में भक्ति और प्रेम की साधना का अपूर्व उज्ज्वल प्रकाश फैल जाता।

महाप्रभु की व्यक्ति-सत्ता को घेरकर जिन भक्तों ने लोकोत्तर महिमा प्राप्त की थी वे देश के अलग-अलग क्षेत्रों में निवास करते और अपने चारों तरफ प्रेम-भक्ति के ज्योति-वलय रचते जाते। रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी को इसी रूप में महाप्रभु के द्वारा वृन्दावन में रहकर श्रीकृष्ण-भक्ति के प्रचार की जिम्मेदारी दी गई थी। इससे भी पहले लोकनाथ और भूगर्भ पंडित को महाप्रभु ने इसी उद्देश्य से ब्रज-मंडल में रख छोड़ा था। जब रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी भी, उसी काम से, वृन्दावन पहुँचे, तो ब्रजमंडल के वैष्णवों में नये उत्साह की लहर फैलने लगी। कुछ वर्ष बाद महाप्रभु ने रघुनाथ भट्ट और गोपाल भट्ट नामक अपने दो अन्य सहचरों को भी ब्रज-भूमि में रहकर ही धर्म-केन्द्र स्थापित करने की आज्ञा दी। ब्रजभूमि में चैतन्य महाप्रभु के द्वारा भेजे गये आचार्यों, भक्तों और संन्यासियों के इस दल ने उसे भारतवर्ष के वैष्णव-धर्म के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में किस प्रकार नयी प्रतिष्ठा दी, इस रहस्य पर, स्वतंत्र प्रसंग बनाकर, अलग से ही विचार किया जाना चाहिए।

वृन्दावन और नीलाचल से वर्षों पूर्व महाप्रभु ने अपनी धर्म-साधना के परमोज्ज्वल कर्म-केन्द्र के रूप में गौड़ देश को महिमान्वित कर दिया था। उसी क्रम में अपने अभिन्न सहचर नित्यानंद अवधूत को गृहस्थ बनाकर उन्होंने नवद्वीप में ही निवास करने की आज्ञा दी थी। उनके साथ, नवद्वीप-केन्द्र में रहकर प्रेम-भक्ति का प्रसार करने वाले अन्य सहयोगीगण थे अद्वैत आचार्य, श्रीवास, मुरारि, नरहरि, राघव पंडित, शिवानन्द सेन और अन्य कई भक्त।

फिर भी महाप्रभु की लौकिक और अलौकिक लीलाओं का मुख्य केन्द्र, पूरे अट्ठारह वर्षों तक, पुरी के जगन्नाथ-मंदिर को चारों ओर से घेर कर फैला हुआ नीलाचल क्षेत्र ही था। महाप्रभु के जीवन के उत्तर-काल में नवद्वीप और वृन्दावन जाना उनके लिए संभव नहीं हुआ था, यह एक सर्व-विदित तथ्य है। इसके बावजूद, वे किंवदन्तियाँ निराधार नहीं हैं, जो बताती हैं कि उन लीला-

भूमियों में निवास करनेवाले अपने भक्तों को भी महाप्रभु के दर्शन समय-समय पर प्राप्त होते रहते थे। कभी पुत्र-वत्सला जननी शचीदेवी के पूजा-घर में और कभी नित्यानन्द के कीर्त्तन-समारोह में महाप्रभु की दिव्य मूर्त्ति को प्रकट होते और अन्तर्धान होते जिन सम-सामयिक भक्तों ने देखा था, उनकी गणना उँगलियों पर नहीं की जा सकती थी। कुछ भक्तों को महाप्रभु के ऐसे अलौकिक दर्शन श्रीवास भक्त के आंगन में भी मिले थे और कुछ अन्य भक्तों को महाप्रभु का विश्व-मोहन रूप राघव पंडित के घाट पर भी दिखाई दे गया था। वृन्दावन में निवास करने वाले गोस्वामी भक्तों को महाप्रभु के ऐसे ही अलौकिक दर्शन, समय-समय पर, वृन्दावन में ही प्राप्त हो जाया करते थे।

गौड़ीय वैष्णव-भक्तों की भीड़, देश के विभिन्न क्षेत्रों से आकर, रथ-यात्रा के अवसर पर, नीलाचल में प्रति वर्ष एकत्र हो जाया करती। इस बहाने प्रभु के निकट सान्निध्य में कुछ दिनों तक निवास कर लेनें का परम सौभाग्य प्राप्त कर लेना, प्रत्येक भक्त को इष्ट रहता था। महाप्रभु अपने भक्तों को इतने सहज और इतने निकट होकर अनुगृहीत कर देते थे कि कभी-कभी भक्तों का अनुराग ही महाप्रभु के प्रति दुस्सह अत्याचार बन जाया करता।

गौड़ देश से पैदल चलकर नीलाचल पहुँचनेवाले भक्तों में अगणित व्यक्ति ऐसे भी थे, जो अपने कंधों पर बहँगी उठाकर भेंट की विविध सामग्री ढोकर ले आते और महाप्रभु के आवास-स्थान पर फलों, पक्वान्नों और अन्य नैवेद्यों के ढेर लगा दिया करते।

महाप्रभु के पास भेजी जानेवाली नैवेद्य-सामग्री में सर्वाधिक प्रसिद्ध थी 'राघव-झाली'। राघव पंडित की धर्म-पत्नी श्रीमती दमयन्ती देवी महाप्रभु की उपासना वात्सल्य-भाव से करती थीं। वे बड़े ही धैर्य्य, परिश्रम और यत्न से महाप्रभु के निमित्त सैकड़ों तरह की खाद्य-सामग्री तैयार करतीं और उन्हें अनेक भारवाहकों की मदद से महाप्रभु के पास भिजवा दिया करतीं। उनके द्वारा भेजी गई सामग्री प्रकार और मात्रा में इतनी प्रचुर होती, कि महाप्रभु और उनके सान्निध्य में निवास करनेवाले भक्तगण के लिए, वह महीनों तक पर्य्याप्त बनी रहती।

पुरी के जगन्नाथ-मंदिर के विशाल प्रांगण में प्रतिदिन उत्सव-समारोह की भीड़ लगी ही रहती है। दारु-ब्रह्म के सिंहासन-पीठ को दैनंदिन महा-समारोह का केंद्र बनाकर भारत के प्रत्येक जनपद के तीर्थ-यात्रीगण वहाँ सहस्राब्दियों से एकत्र होते आये हैं। मंदिर के मुख्य गर्भ-गृह के दीप-स्तंभ पर हथेली टेककर, कभी-कभी, महाप्रभु इस दैनंदिन समारोह को दिन-रात, एकटक खड़े, देखते ही

रह जाते। कहते हैं कि उस स्तंभ पर महाप्रभु की उँगलियों के दबाव के दाग को, अब तक देखा और चीन्हा जा सकता है।

जगन्नाथ देव की पूजा के पात्रों को धो-मांजकर साफ कर देने का श्रमसाध्य और गुरुतर सेवाकार्य महाप्रभु अपने हाथों करना कभी नहीं भूलते। यह सेवा-कार्य उन्होंने उत्कल-नरेश की विशेष आज्ञा प्राप्त कर, अपने लिए बड़े यत्न से उपार्जित किया था। प्रत्येक रथ-यात्रा के अवसर पर वे हाथ में सम्मार्जनी उठाये, रथ के आगे-आगे चलते। उसके पहले जगन्नाथ-देव के मंदिर के विशाल प्रांगण के कोने-कोने को धोने-पखारने और पोंछने-बुहारने के काम में दिन-रात व्यस्त रहना महीनों तक उत्लसित रखता। जल के बड़े-बड़े मटके, सीढ़ी और झाड़ू लिए, उन दिनों, उनके साथ सैंकड़ों भक्तों की मण्डली दिन-रात लगी रहती। मगर उस व्यस्त समय वाले मौसम में भी महाप्रभु अपने नृत्य और कीर्त्तन के लिए अवसर ढूँढ़ ही लेते थे।

रथ-यात्रा के दिन महाप्रभु चैतन्य का दिव्य भावावेश निरन्तर प्रबलतर होता चला जाता। लाख-लाख लोगों की भीड़, चारों ओर से उमड़ कर रथ के पीछे, यात्रा-पथ पर खड़ी हो जाती। जगन्नाथ देव की पुष्प राशि-प्लावित रत्न-सज्जित दारु-मूर्त्तियों को स्थापित कर निर्दिष्ट शुभ क्षण में जब रथ विदा होता तो उत्कल-नरेश प्रतापरुद्र देव हाथ में सम्मार्जनी लेकर, रथ के आगे-आगे राजपथ को बुहारते चलते। राजकुल को दी जाने वाली वह प्रतिष्ठा, प्राचीन काल से चली आनेवाली परंपरा का पालन है, जो समुदाचार के रूप में, कुछ घड़ियों तक ही संभव है। उसके बाद उत्कल-नरेश के स्थान पर महाप्रभु चैतन्य लिवा लाये जाते हैं और शेष समय को उत्सव, कीर्त्तन और नृत्य से अंकित करती हुई भक्त-मण्डली उन्हें उस समारोह का मध्यमणि बनाये रथ की गति का अनुसरण करती रहती है।

रथ-यात्रा की अवधि में महाप्रभु का कीर्त्तनानंद, सहगामी भक्तों की टोलियों को निरन्तर उल्लसित और भावोन्मत्त किये रखता है। जब महाप्रभु रथ के आगे-आगे नृत्य करते चल पड़ते हैं, तो उनकी दिव्य अंग-कान्ति से विच्छुरित होनेवाली माधुर्य्य-तरंग, आस-पास की जन-मंडली को पूनो के समुद्र की तरह उत्ताल करती रहती है। महाप्रभु के दोनों हाथ, कंधों की चौड़ाई को कोहनी तक बढ़ाये, ऊपर को उठ जाते हैं और उनकी दोनों आँखों से बहती रहती हैं अविरल अश्रुधारा। इस अद्भुत दृश्य को देखते ही वैष्णव भक्तों का भाव-समुद्र, मानो, अपने चाँद को छूने के लिए एकबारगी उमड़ पड़ता है। रथ पर आरूढ दारु-ब्रह्म की दारु-मूर्त्तियाँ भी ऐसे समय में महाप्रभु चैतन्य के साथ मिलकर एक हो जाना चाहती हैं।

रथ-यात्रा का यही अवसर, प्रत्येक वर्ष में एकबार मिथिला, असम, उत्कल और बंगाल के वैष्णवों को महाप्रभु के सान्निध्य में एकत्र होने का सुयोग प्रदान करता है। भक्तजनों के हृदयों के इस महासंगम का आनन्द वर्णनातीत है। ये भक्तगण जब रथ-यात्रा समारोह की समाप्ति के पश्चात् अपने घरों और गाँवों में वापस लौटते, तो उनके अन्तर में दारु-ब्रह्म की छवि के साथ-साथ महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य के भुवन-मोहन व्यक्तित्व का अनिर्वचनीय माधुर्य भी स्वभावतः ओतप्रोत रहा करता।

श्रीकृष्ण-कथा के रस और प्रेमावेश में प्रतिक्षण निमग्न रहने के बावजूद महाप्रभु की दैनंदिन कार्य-तालिका में कोई व्याघात या त्रुटि संभव नहीं हुई।

सूर्योदय से घंटों पहले उठकर वे भजन-कीर्त्तन करते हैं और तब जगन्नाथ देव के दर्शन करने मंदिर के भीतर पहुँचते हैं। वहाँ से लौटकर अपने प्रिय भक्त हरिदास की कुटिया में पहुँचना भी उनकी दिनचर्या का अंश है। महाप्रभु हरिदास की कुटिया में बैठकर घंटों चित्त-मंथन करते रहते। इसे ही नाम दे दिया गया है-इष्ट-गोष्ठी। यह इष्ट-गोष्ठी किसी दिन समुद्र में और किसी दिन इन्द्रद्युम्न सरोवर में नौका-विहारके क्रम में भी साँगोपाँग संपन्न हो जाया करती है।

पुरी नगर के ही एक प्रान्त में ढोटा गोपीनाथ के अन्यतम अंतरंग पार्षद गदाधर महाशय का भजन स्थान है। इस प्रेमी भक्त की श्रद्धा और निष्ठा के परिणामस्वरुप गोपीनाथ का विग्रह जाग्रत विग्रह के रुप में प्रसिद्ध हो उठा है। गदाधर बड़े ही मधुर स्वर में भागवत का पाठ अपने आराध्यदेव के सम्मुख साधन- पूजा के अन्त में किया करते हैं। गदाधर के मधुर- स्वर में भागवत पाठ का श्रवण करने, अपने भक्तों के साथ महाप्रभु वहाँ नित्य उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण की लीलाओं के कथा- रस के आस्वाद का अवसर उन्हें नित्य प्राप्त हो जाता है।

जगन्नाथ मंदिर से रात में जब महाप्रभु लौटते हैं, तो आरती-पूजा संपन्न हो चुकी रहती है। मार्ग में महाप्रभु की दोनों आँखों से आँसुओं की धारा बहना कभी नहीं थमती। उनके साथ-साथ आवास पर लौटते हैं श्री स्वरूप, दामोदर रामानन्द और अन्यान्य भक्तगण। आवास पर लौटने के पश्चात् कीर्त्तन, श्लोक पाठ और रस-तत्व का विवेचन चल पड़ता है। राधा-कृष्ण-लीला के कथन, श्रवण और मनन का यह मधुर अंश महाप्रभु की दैनंदिन चर्या का अपरिहार्य अंग बन बैठा है।

महाप्रभु श्रीकृष्ण के मधुर भजनों का-रागानुगा-उपासना के साधन के रूप में समर्थन और प्रचार करते है। इस प्रचार का सबसे बड़ा माध्यम है-उनकी

अपनी जीवन-चर्या ही ! दो-चार फुटकर श्लोकों को छोड़कर अपने आध्यात्मिक उपासना के दीर्घ काल में, उन्होंने किसी ग्रंथ की रचना नहीं की। भक्तों को उपदेश और दीक्षा देने में भी वे कभी उत्साहित नहीं हुए। इसके बावजूद लाखो मनुष्यों को एक अज्ञात आकर्षण के सहारे वे अपनी ओर निरंतर खींचते रहे हैं। इस आकर्षण का एक महत्वपूर्ण माध्यम है वैष्णव भक्तों और संतों के द्वारा रचित भजनों का महाप्रभु के द्वारा सस्वर गान। उनके सान्निध्य का लाभ उठाकर और उनका स्पर्श प्राप्तकर अगणित मानव प्राणियों ने नया जीवन प्राप्त कर लिया है। अन्ततः महाप्रभु के साथ साक्षात्कार की इच्छा से एकत्र होनेवाले लोगों की एक विराट् भागवत-गोष्ठी आप ही बन गई। यह तो मानना ही होगा कि इस पूरे देश में महाप्रभु चैतन्य और उनके भक्तों का प्रभाव वैष्णव-धर्म की स्थापना और प्रचार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रमाणित हुआ है।

प्रभु के जीवन और वचन ने भगवद् भक्ति का एक उज्जवल आदर्श स्थापित किया। देश के जन-जीवन के क्षेत्र में परम-प्रेम के जिस आनंद घन, रसघन स्वरूप को उन्होंने प्रतिष्ठापित किया, उसकी तुलना किसी अन्य धर्म तत्व के साथ नहीं की जा सकती। महाप्रभु के लौकिक और अलौकिक जीवन में प्रेम के उस आनंदघन मधुर रूप का लोकाह्लादकारी सर्वमोहनरूप निरंतर उद्भासित होता रहा, इसमें संदेह नहीं।

महाप्रभु कहा करते थे—"भगवत्ता का सार-तत्व है-माधुर्य। यद्यपि भगवान् अनंत ऐश्वर्य के अधिपति हैं, किन्तु उनके माधुर्य की तुलना में उनके ऐश्वर्य को अपदार्थ और तुच्छ ही मानना पड़ेगा। भगवान की महिमा है-उनके माधुर्य पर ही आधारित।

महाप्रभु की वाणी सांसारिक प्राणियों के लिए दिव्य आश्वासन की तरह है। वह वाणी आश्वासन देती है कि भगवान भय के विषय नहीं हैं। वे परम शान्ति, परम समाधान और परम प्रेम के आधार हैं। उनसे डरने की आवश्यकता नहीं। वे करुणा-घन और प्रेम-समुद्र हैं। उनके नाम-स्मरण का तो कहना ही क्या, उनके नामाभास में भी समस्त पापों-तापों को शांत कर देने की क्षमता है। मायाबद्ध जीवों को आवागमन के मोह-पाश से मुक्त करना भगवान की निजी जिम्मेदारी है। उस दायित्व की पूर्ति के लिए वे स्वयं ही दिन-रात उत्कंठित रहा करते हैं, क्योंकि लोक के रूप में अपने को विस्तीर्ण करते रहना भगवान का ही स्वभाव है, लोक की अपनी चपलता नहीं—"लोक विस्तारिबो एइ ईश्वर स्वभाव।" महाप्रभु अपने श्रद्धालु परिजनों को बताते रहते हैं—"जीव का भगवान से जो संबंध है, वह सनातन, स्थायी और नित्य है।

उस संबंध का टूटना संभव और स्वाभाविक नहीं ।जीव उनका नित्य दास है और भगवान जीवों के सनातन स्वामी—नित्य प्रभु हैं। जीव और भगवान के बीच जो नित्य संबंध है, उस संबंध के आश्रय से ही भगवान के स्वरूप और माधुर्य का आस्वादन संभव होता है।

महाप्रभु ने जिस प्रेमभक्ति संकलित वैष्णव-धर्म का प्रवर्त्तन किया है, उसके तीन मुख्य साधन हैं—(१) भगवान के पापापहारी पावनकारी मधुर नाम का निरंतर जप, श्रवण और कीर्त्तन; (२) भगवान के आराध्य विग्रह सेवा का स्वकीय दिनचर्य्या के रूप में, निरंतर अनुपालन, और (३) श्रीकृष्ण की व्रजलीला का निरंतर स्मरण, मनन और अनुभावन !

प्रभु के प्रेम-भक्ति-संबलित वैष्णवधर्म का द्वार सबको उदारता पूर्वक, प्रवेश करने की अनुमति देता है। स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-चाण्डाल, गृहस्थ-संन्यासी धनी-गरीब के भेद के कारण, उसमें प्रवेश करना किसी के लिए, किसी स्थिति में, वर्जित नहीं। चैतन्य चरितामृत के रचयिता ने इस संबंध में स्पष्ट घोषणा कर दी है :

"नीच जाति नहे कृष्ण-भजने अयोग्य,
सत्कुल-विप्र नहे भजनेर योग्य,
जेइ भजे सेइ बड़, हीनता न ता'र,
श्रीकृष्ण-भजने नाहि कुलादि-विचार !"

अर्थात् श्रीकृष्ण के भजन का अधिकार सब को है। इसमें जाति, वर्ण, आश्रम का विभेद बाधक नहीं होता। हीन जाति में जन्म लेकर भी श्रीकृष्ण का भजन किया जा सकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि उच्चकुल में जन्म पा लेने मात्र से कोई विप्र श्रीकृष्ण को भजने का एकाधिकार अर्जित कर ले।'

गौड़ीय मत की यही उदारता उसे प्रेम-धर्म के अन्यतम मार्ग के रूप में महनीय सिद्ध करती हुई यह घोषणा भी करती है कि—

"कि वा शूद्र, कि वा विप्र, संन्यासी वा नय
जेइ कृष्ण-प्रेम-सिक्त, सेई गुरु हय।"

अर्थात् श्रीकृष्ण के भजन की दीक्षा देनेवाले गुरु के लिए भी जाति, वर्ण या आश्रम की बाध्यता महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह शूद्र हो अथवा विप्र हो, गृहस्थ हो अथवा संन्यासी हो, इसका विचार नहीं किया जाता। गुरु होनेवाले उपदेष्टा के लिए, इस मार्ग में, इतना ही आवश्यक है कि वह श्रीकृष्ण के प्रेम का रहस्य जानता हो और उसके रस से ओतप्रोत हो।

यह तो प्रसिद्ध ही है कि महाप्रभु की दैनंदिन भागवत-गोष्ठी के परम

श्रद्धेय आचार्य के रूप में सम्मानित भक्त पुरुष श्रीनरहरि सरकार का जन्म ब्राह्मण-कुल में नहीं, वैद्यकुल में ही हुआ था। इसी तरह हरिदास का जन्म मुसलमान खान्दान में हुआ था। इस तथ्य के बावजूद, वे दोनों गौड़ीय संप्रदाय के वैष्णवों में परम प्रणम्य, पूज्य और सम्माननीय माने जाते रहे और महाप्रभु के द्वारा प्रवर्त्तित प्रेम-धर्म के अग्रगण्य प्रवक्ता और निरूपणकार के रूप में उन्हें आचार्य का आदरणीय आसन दिया जाता रहा। महाप्रभु के एक अन्य आदरणीय अन्तरंग पार्षद रामानन्द का जन्म भी शूद्र कुल में ही हुआ था। किन्तु, महाप्रभु स्वयं भी उनका सम्मान करते थे और उन्हें वही प्रतिष्ठा प्राप्त थी, जो ब्राह्मण-कुल में जन्मलेनेवाले आचार्यों को ही सुलभ हो सकती थी। महाप्रभु चैतन्य के प्रेम-धर्म की यह उदारता उत्तर भारत के वैष्णवों को परवर्ती शताब्दियों में भी निरन्तर प्रेरित करती रही।

गौरांग महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य की भजन-पद्धति की कइ अन्य विशेषताओं को भी अभिनव मानना ही पड़ेगा। वे जितनी मधुर, आकर्षक और लोक-मोहन थीं, उतनी ही सहज, सरल और सर्व-सुलभ भी थीं। देश-काल-पात्र के भेदों से ऊपर उठाकर उन्हें महाप्रभु ने सर्व-जन-संवेद्य बना दिया था। विग्रह-अर्चा और उपासना-पद्धति के विविध उपायों का अवलंबन करने से श्रीकृष्ण के प्रति दिव्य प्रेम का उन्मेष भक्त के हृदय में क्रमशः किस प्रकार संभव होता है, इसका सांगोपांग विवेचन, महाप्रभु का आदेश पाकर, अनेक आचार्यों ने महाप्रभु के जीवन-काल में ही कर दिया था। उस विवेचन ने स्पष्ट कर दिया था कि भगवान् के नाम के प्रति भक्त के हृदय में जब सहज रुचि जग पड़ती है और उसके जीवन में श्रीकृष्ण के दिव्य प्रेम का अवतरण होता है, तब उसके लिए सांसारिक विषय-वासनाओं का आकर्षण स्वयं ही अपनी तुच्छता और असार्थकता के कारण समाप्त हो जाता है।

इस संबंध में चैतन्य चरितामृत के रचयिता ने महाप्रभु के स्वकीय कथन को इन पंक्तियों में इस प्रकार घोषित कर दिया है:

"जे रूपे करिले नाम प्रेम उपजाय,
ताहार स्वरूप सुनो सांग रामराय।
तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णु ना,
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः।

अर्थात् हे रामराय, तुम भक्त के जीवन और स्वाभाव में प्रकट होनेवाले उस असीम प्रेम के स्वरूप और लक्षण को सांगोपांग जान लो, जो प्रभु के नाम के प्रति सहज स्वाभाविक रुचि के उत्पन्न हो जाने के बाद, उसके परिणाम के

रूप में स्वतः प्रकाशित हो उठता है। वह प्रेम जब अपनी असीमता के साथ प्रकट होता है तो असीम नम्रता और असीम सहिष्णुता का वह माधुर्य्य सहज हो जाता है, जो प्रभु की कीर्त्ति के अतिरिक्त और किसी विषय को भक्त के लिए सार्थक नहीं रहने देता। सब के पाँवों के तले रौंदे जाने के बावजूद जैसे तृण कुपित न हीं होता, नही कृतघ्नता के कृत्यों से वृक्षों की सहिष्णुता विचलित होती है, उसी तरह सबका सम्मान करते हुए और सब की ओर से किये जानेवाले अपमानों को चुपचाप वर्दाश्त करते हुए, भगवान् का भक्त केवल भगवान् की कीर्त्ति का अनुक्षण स्मरण करता है; वह जगत् से प्राप्त होनेवाले मान-अपमान की ओर ध्यान नहीं देता।

महाप्रभु के प्रेम-धर्म के दैनंदिन अनुष्ठान की चर्चा 'अष्टकालीन लीला-स्मरण' के रूप में गौड़ीय संप्रदाय के आचार्यों ने की है। उक्त लीला को ब्रजनन्दन श्रीकृष्ण के रसमय विग्रह की लीला कहना उचित ही था। भगवान् की लीला को विस्तीर्ण करके मानव-शरीर के माध्यम के सहारे पुनः प्रतिष्ठित करना चैतन्य महाप्रभु के जीवन का निगूढ़ उद्देश्य था। उनकी व्यक्ति-सत्ता में जैसा भुवन-मोहन माधुर्य था, वैसे ही उनके सर्व-रंजन-कारी प्रेम में रस की अद्भुतता थी। वह रस जन-साधारण के चित्त को भी सहज ही आकृष्ट कर लेती थी और पंडितों, विद्वानों और साधकों के अहंकार को विगलित कर देने की भी उसमें अपूर्व क्षमता थी। महाप्रभु का जीवन अपने आठों पहर को श्रीकृष्ण की लीला के स्मरण से ओत-प्रोत रखकर ही अग्रसर होता रहा। महाप्रभु की व्यक्ति-सत्ता का जो कुछ उनके जागतिक व्यक्तित्व और सांसारिक आचार-व्यवहार से जुड़ा था, उसे महाप्रभु ने अपदार्थ बनाकर त्याग दिया था। वे एक प्रकार से श्रीकृष्ण के जीवन में प्रविष्ट होकर ही जीते थे। कृष्णप्रेम के रस में वे उसी प्रकार डूब गये थे, जैसे चासनी में डूब कर कोई मिठाई चासनी के स्वाद को आस्वाद्य बनाने के क्रम में ही अपने प्रकृत स्वाद को सार्थक बनाती है। गौड़ीय संप्रदाय के आचार्यों ने इसीलिए कहा है कि भगवान् के रस में भक्त उसी प्रकार डूब कर तन्मय हो जाता है, जैसे चासनी में डूब कर छेने की जलेबियाँ अथवा रसगुल्ले।

महाप्रभु के भक्ति-मार्ग को एक दृष्टि से भजन और कीर्त्तन का मार्ग कहना भी उचित ही होगा। भक्त और भगवान् के पारस्परिक संपर्क का माध्यम मुख्यतः भजन ही है। 'मैं भगवान् का हूँ'—ऐसा मानकर उस मधुर भाव की उपासना संभव नहीं, जिसे महाप्रभु ने अपनी स्वस्ति दी थी। उस मधुर भावना को स्वीकार करनेवाला भक्त तो ऐसा मानता है कि 'भगवान् मेरे हैं,

संभवतः, मेरे ही हैं।' इसके बावजूद वह ईर्ष्या, असूया या मान के कारण अहंकार को प्रश्रय नहीं देता। दैन्य और आर्ति इस मधुर भाव के अपरिहार्य पर्याय हैं। भक्त ऐसा मानता है कि नव किशोर नटवर श्रीकृष्ण हमारे जीवन-सर्वस्व हैं और आराध्य इष्ट के रूप में विग्रह बनकर संस्थापित हैं। उनके आनन्द की वृद्धि के लिए जीव अपने को पूर्णतः अर्पित कर नैवेद्य बन जाय और भगवान के लीला-सुख के उत्पादन का माध्यम बन जाना अपने जीवन की चरम सार्थकता मान ले। 'प्रभु मेरे हैं'—यह भाव एक प्रकार की रसात्मक मदिरता है, जो भक्त या साधक को अपने प्रति उदासीन और निरपेक्ष बनाने में सहायक होती है। यह मदिरता ही मधुर भाव की भित्ति के रूप में महाप्रभु के द्वारा प्रतिपादित की गई है।

उस बार भक्तप्रवर श्री रघुनाथ दास प्रभु के चरणों में आश्रय प्राप्त करने नीलाचल आ पहुँचे थे। उस समय बंगाल के शासक-सामंतों में अन्यतम महिमा थी—सप्तग्राम के राजकुल की। धनाढ्य और प्रतापी होने के कारण सप्तग्राम के जमींदार की संपूर्ण गौड़ देश में प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा थी। रघुनाथ दास इसी जमींदार वंश के एकमात्र उत्तराधिकारी हैं। लेकिन यह भी सच है कि युवावस्था के प्रादुर्भाव के साथ ही रघुनाथ दास में प्रबल वैराग्य का आविर्भाव देखा गया। एक बार पहले भी उन्होंने प्रबल वैराग्य की आवेगावस्था में महाप्रभु चैतन्य के चरणों में आश्रय लेना चाहा था। उस समय महाप्रभु ने कहा था—"अभी तुम्हारा समय नहीं आया है। समय आने दो।" कुछ दिनों के बाद रघुनाथ दास ने महाप्रभु के अन्यतम पार्षद श्री नित्यानन्द से आश्रय की प्रार्थना की। नित्यानंद की करुणा रघुनाथ दास को प्राप्त हुई। अतः महाप्रभु के सान्निध्य में नीलाचल तक पैदल चलकर पहुँचना उसके लिए संभव हुआ। नीलाचल-यात्रा के पहले ही अतुल ऐश्वर्य और तरुणी भार्या का त्यागकर रघुनाथ दास जी ने अपने तीव्र वैराग्य की प्रगाढ़ता जन-समाज में प्राख्यापित कर दी थी।

महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य अपने भक्तों के साथ, उस दिन, इष्ट गोष्ठी में मगन बैठे थे। नीलाचल में तीर्थवास करनेवाले यात्रियों की टोलियाँ बगल की राह से गुजर रही थीं। तभी अकस्मात् रघुनाथ दास महाप्रभु के सामने उपस्थित हुए और धरती पर शिर टेक कर, महाप्रभु के प्रति उन्होंने साष्टांग प्रणाम निवेदित किया। अपने पूर्व-परिचित भक्त को पहचानने में महाप्रभु को कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने उसी घड़ी स्वरूप दामोदर नामक एक अन्तरंग पार्षद

को बुलाया और कहा—"रघुनाथ बड़ी दूर से आये हैं, इसलिए स्वभावतः थके होंगे। इनकी देखभाल की जिम्मेदारी तुम अभी से सँभाल लो।" इसके बाद महाप्रभु ने आश्रम के भृत्य गोविन्द को बुलाया और उसे आज्ञा दी कि वह रघुनाथ दास जी को प्रतिदिन भगवान् का प्रसादान्न दे जाया करे।

इसके बाद के कई दिन यों ही बीत गये। उन दिनों रघुनाथ दास के हृदय में वैराग्य की तीव्र ज्वाला दिन-रात धधकती रहती थी। अतः उन्होंने तय किया कि बैठे-बैठे प्रभु का प्रसादान्न खाते रहना भी तो आरामतलबी ही है। ऐसा कब तक चलेगा? आज से जगन्नाथ देव के मंदिर के सिंह द्वार पर खड़ा रह कर, दर्शनार्थियों से भीख माँगना, आरंभ कर देना चाहिए। अन्ततः वे अपने इसी निश्चय को पूरा करने में लग भी गये।

महाप्रभु ने कई दिनों तक रघुनाथ दास को भोजन के समय अनुपस्थित पाकर गोविन्द से उस संबंध में पूछताछ की, तो स्थिति स्पष्ट कर दी गई। गोविन्द ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो, मैं तो उन्हें यथासमय प्रसादान्न नित्य पहुँचा दिया करता था। पर उन्होंने स्वयं ही मुझे मना कर दिया है। उनका निश्चय है कि मंदिर के सिंह द्वार पर भिक्षा माँगकर आहार-संग्रह करना ही उनके लिए अधिक उचित होगा। मैंने स्वयं जाकर उनकी खोज-खबर ली, तो पता चला कि आधी रात बीतने पर, जगन्नाथ देव की अर्चा-सेवा कर के जो गृहस्थ भक्त घर जाने लगते हैं, उनके आगे भीख के लिए हाथ फैलाकर रघुनाथ दास चुपचाप सिंहद्वार की सीढ़ी पर खड़े हो जाते हैं। यदि कोई कुछ दे-देता है, तो उसी से वे क्षुधा का निवारण कर लेते हैं। इन दिनों उनका काम इसी तरह चल जाया करता है।"

महाप्रभु ने रघुनाथ दास के संबंध में जब यह वृत्तान्त सुना, तो भीतर-ही-भीतर उन्हें प्रसन्नता ही हुई। उस जमाने में जिस जमींदार-परिवार को एक लाख रुपयों से अधिक की तहशील थी, वैसे परिवार के एक मात्र उत्तराधिकारी होकर भी यदि रघुनाथ दास को भीख के सहारे आहार-संग्रह करने में संकोच नहीं हो रहा है, तो यह साधारण बात नहीं है। तीव्र वैराग्य का अभिमान-शून्य दीनता में ऐसा रूपान्तर भगवान् की असीम कृपा के विना संभव नहीं।

महाप्रभु वैराग्य की प्रशस्ति करते हुए उस समय जो वाक्य बोले, वे वाक्य केवल भारत के वैष्णव-भक्तों के लिए ही नहीं, सभी देश-काल के सभी सच्चे साधकों के लिए स्मरणीय हैं। महाप्रभु के उन वाक्यों को चैतन्य-चरितामृत के रचयिता ने इस प्रकार स्मरण किया है:

"वैरागी करिबे सदा नाम-संकीर्त्तन
माँगिया खाइया करे जीवन-रक्षण ॥

वैरागी हइया ये वा करे परापेक्षा
कार्य-सिद्धि नहे, कृष्ण करेन उपेक्षा ॥
वैंरागी हइया करे जिह्वार लालस
परमार्थ जाय आर रसे हय वश ॥
वैरागीर कृत्य सदा नाम-संकीर्त्तन
शाक-पत्र-फल-मूले उदर भरण ॥
जिह्वार लालसे येइ इति-उति चाय
शिश्नोदर-परायण कृष्ण नाहि पाय ॥

अर्थात् जो सचमुच विरागी हैं, वे भगवान् के नाम और यश का ही गान करते रहते हैं। क्षुधा-निवारण के निमित्त, भीख में जो कुछ अनायास प्राप्त हो जाय, उसे ही वे पर्य्याप्त मान लेते हैं। विरागी किसी से कोई अपेक्षा नहीं रखता। जो परापेक्षी है, उसे श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त नहीं होती। वैसे व्यक्ति को वैराग्य की सिद्धि भी नहीं मिलती। यह कैसे हो सकता है कि कोई वैराग्य की सिद्धि भी चाहे और जीभ के इशारे पर स्वादु भोजन की इच्छा से निरंतर ललचता भी रहे ? जो जिह्वा-रस-लोलुप है, उसके लिए परमार्थ नहीं है। वैरागी का लक्षण चटोर पन नहीं। वह तो साग-पात, कंद-मूल, अन्न-फल, जो भी सहज प्राप्य हो, उससे ही आहार का काम चला लेता है और दिन-रात के चौवीसों घंटे भगवान के नाम के रस में डूबा रहता है। जो ऐसा नहीं करता, जिह्वा-रस-लोलुपता की दिशा में इधर-उधर भटकता रहता है, उस शिश्नोदर-परायण को भगवान् श्रीकृष्ण कभी प्राप्त नहीं होते।

भक्त रघुनाथ दास के वैराग्य और भिक्षा-वृत्ति के कृच्छ्र-व्रत की कथा सप्तग्राम के निवासियों के बीच, अल्प समय में ही, जा पहुँची। पिता गोवर्धन दास ने जब पुत्र का यह वृत्तान्त सुना, तो वे कटकर रह गये। उन्होंने मन-ही-मन सोचा—रघुनाथ की यह विचित्र करतूत पागलपन नहीं, तो और क्या है ? क्या साधन-भजन करने के लिए भीख माँगना भी आवश्यक ही है ? ऐसा तो नहीं सुना गया। उन्होंने तत्क्षण एक ब्राह्मण रसोइये को चार सौ रुपये नकद देकर, रघुनाथ दास की खोज में रवाना कर दिया। [उस जमाने के चार सौ रुपये, आज के चालीस हजार रुपयों से अधिक ही हो जाते थे।] ब्राह्मण देवता को आदेश था कि वे रघुनाथ दास को नित्य अपने हाथों रसोई पकाकर खिला दिया करें।

रघुनाथ दास को जब यह समाचार ब्राह्मण रसोइये ने बताया, तो वे भौंचक रह गये। जिस घर को सदा के लिए छोड़कर वे नीलाचल चले आये,

वह घर अभी तक उनके पीछे पड़ा है। वे तो वैराग्य को पाथेय बनाकर, भगवत्प्रेम के पथ पर चल पड़े थे, मुक्ति की खोज में; पर उनके पिता ने अपने पुत्र की खोज अभी तक नहीं छोड़ी है। पिता के द्वारा भेजे गये रुपयों का अपने लिए उपयोग करना क्या अब उनके लिए संभव अथवा उचित होगा? इस तरह की बात वे सोच रहे थे, तभी उन्हें एक उपाय सूझ गया। उन्हें स्मरण आया कि नीलाचल में ऐसे अनेक भक्त हैं, जो बीच-बीच में; अवसर पांकर, महाप्रभु को भोजन कराते और कृतार्थता प्राप्त करते हैं। इन रुपयों का भी यदि वही उपयोग किया जाय, तो कितना अच्छा हो! इस योजना पर विचार कर लेने के बाद उनका जी हल्का हो गया।

रघुनाथ दास के भजन-कुटीर में भी अब समय-समय पर महाप्रभु के भोजन का आह्लादकारक आयोजन होने लगा है। मगर आज हठात् रघुनाथ दास को इस बात से ही, भीतर-ही-भीतर, आघात और ग्लानि का अनुभव हो रहा है। वे सोचने लगे—"छि: छि:, यह मैं क्या करने लग गया! विषयासक्त पूर्व पुरुषों के द्वारा अर्जित संपत्ति की अपवित्र आय के एक अंश से क्रय की गई सामग्री, महाप्रभु को नैवेद्य के रूप में अर्पित करके, मैं अपराध ही तो कर रहा हूँ। आत्मश्लाघा की प्रच्छन्न आकांक्षा की यह पूर्ति, पाप ही तो है? ना, अब यह आयोजन चल नहीं सकता।"

अब रघुनाथ दास के भजन-कुटीर में महाप्रभु के भोजन का आयोजन नहीं होता। महाप्रभु इसका कारण नहीं जानते—ऐसा मानना कठिन है। मगर जानकर भी अनजानपन का अभिनय यदि महाप्रभु करना ही चाहें, तो उन्हें ऐसा करने से कौन रोक सकता है?

एक दिन महाप्रभु ने सचमुच ही अनजानपन का बहाना करते हुए स्वरूप से पूछा—"क्यों जी स्वरूप, बात क्या है जी? अब रघुनाथ दास ने हमलोगों की तरफ से इस तरह मुँह क्यों फेर लिया है? कितने दिन तो बीत गये, मगर अपने भजन-कुटीर में उसने भिक्षा-ग्रहण करने के लिए मुझे निमन्त्रित क्यों नहीं किया? इसका रहस्य तुम्हें मालूम हो, तो बता दो।"

स्वरूप ने महाप्रभु के प्रति रघुनाथ दास के उपयुक्त मनोभाव का निवेदन करते हुए कहा—"महाप्रभु को अपने विषयासक्त पूर्वजों की अपवित्र संपत्ति का अन्न खिलाना रघुनाथ दास को अब पसन्द नहीं है।"

इस कथन को सुनकर महाप्रभु संतुष्ट ही हुए। उन्होंने कहा—स्वरूप, तब तो यह ठीक ही किया रघुनाथ दास ने। विषयी का अन्न ग्रहण करने से मन मलिन हो जाता है और मन मलिन हो जाने पर श्रीकृष्ण का स्मरण कठिन हो

जाता है। विषयी के अन्न में इससे भी बड़ा दोष यह है कि उसमें राजसिकता का बीज छिपा रहता है। अतः वह दाता और आदाता—दोनों ही—के मन को कलुषित कर सकता है। मैं तो उसके कुटीर पर इसीलिए भोजन करने चला जाता था, कि मेरे न जाने पर रघुनाथ को व्यथा होगी। वह मन-ही-मन सोचेगा कि मैं उसके प्रति किसी हीन-भावना में पड़ गया हूँ, अतः उसके कुटीर पर जाकर अन्न ग्रहण करने से इन्कार कर रहा हूँ। अब देख लो, किस तरह मामला आप-ही-आप सुलझ गया। वह विषयासक्त की संपत्ति की पाप-लिप्तता से स्वयं ही अवगत हो गया है। इस तरह मैं भी उसके अनुरोध की साँसत से बरी हो गया और वह भी वैराग्य और त्याग के विशुद्ध धरातल पर आप ही अवस्थित हो गया है।"

मगर इसके बाद रघुनाथ दास ने सिंहद्वार पर खड़े रहकर भीख माँगने का अपना वह पुराना व्रत भी छोड़ दिया। महाप्रभु की सावधान सतर्क दृष्टि, अलक्ष्य रहकर, इसके बाद भी रघुनाथ दास को परखती ही रहती। तभी महाप्रभु ने एक दिन फिर स्वरूप से पूछा—"क्योंजी स्वरूप, अब तो रघुनाथ ने मंदिर के सिंहद्वार पर खड़े रहकर भीख माँगना भी बन्द कर दिया है। ऐसी स्थिति में वह आहार का प्रबंध किस प्रकार से करता होगा?"

स्वरूप दामोदर ने उत्तर में हाथ जोड़कर महाप्रभु से निवेदन किया—"प्रभो, रघुनाथ दास अब भिक्षुकों के साथ बैठकर भोजन करने के लिए एक सत्र-क्षेत्र में चले जाया करते हैं।"

महाप्रभु ने धीर स्वर में समर्थन करते हुए कहा : "ठीक ही तो करता है। जब भीख ही चाहिए, तो हर दरवाजे पर हाँक देते फिरना छोड़कर, किसी एक ही जगह पर भीख माँग लेना अच्छा ही कहा जायगा। सिंहद्वार पर खड़े होकर भीख माँगते रहना, वेश्या-वृत्ति की तरह का एक निर्लज्ज पेशा बन जा सकता है। जन-बहुल स्थल पर रहकर अपनी ओर सबका ध्यान आकृष्ट करते रहने का प्रयत्न कोई अच्छी बात तो नहीं है।"

रघुनाथ के त्याग, वैराग्य और निष्ठा को देखकर महाप्रभु को बड़ा आनंद हो रहा है। वृन्दावन से लाई गई गुंजा-माला और गोवर्धन-शिला का एक लघु-खंड उन्होंने रघुनाथ को बुलाकर, उन्हें जब दिया, तो रघुनाथ के उत्साह और आनंद की कोई सीमा नहीं रही।

रघुनाथ के हृदय में इन दिनों जो सर्वोपरि एक मात्र भावना प्रज्ज्वलित रहती है, वह भावना है सर्वस्व-त्याग की। अब तक वे विषय-कूप की अंध-गंभीरता से परिचित हो चुके थे और वासना-पंक की मग्न-कारिणी मलिनता

से भी उनका परिचय हो चुका था। अपने देह, प्राण और मन को उसके लेप से मुक्त करने के निमित्त अब वे दिन-रात सचेष्ट और आतुर रहा करते हैं। चरम दैन्य, परम आर्त्ति और कृच्छ्र साधन के सहारे वे पूर्व जीवन के शेष संस्कारों से अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए वे प्रभु की कृपा का आश्रय पाना चाहते हैं। इस सन्नद्धता में ध्यान, भजन, लीला-स्मरण और कीर्त्तन का प्लावन उनके जीवन की एक-एक घड़ी को किस प्रकार बहा ले जाता है, इसका भान उन्हें नहीं हो पाता।

कुछ समय बाद रघुनाथ दास ने आहार-संग्रह के निमित्त एक नये उपाय का सहारा लिया। जगन्नाथ मंदिर के मुख्य प्रांगण से कुछ ही अलग हटकर भगवान् को अर्पित सिद्धान्न-प्रसाद बेचने वाले पंडों और दूकानदारों की मध्याह्न कालीन हाट लगा करती है। प्रसाद-विक्रय की बेला के समाप्त होने पर, दिन के चौथे पहर में, जब प्रसाद खरीदनेवालों की भीड़ छँट जाती है, तब टूटे-फूटे वर्तनों में बचे खुचे प्रसादान्न को स्वच्छन्द फिरनेवाले साँढ़ों और गायों के हवाले कर, प्रसादान्न के विक्रेतागण हाट तोड़ देते हैं। थोड़ी देर में साँढ़ों और गायों का यह भोजनोत्सव भी समाप्त हो जाता है और खुरों-सींगों के प्रहारों से टूटे फूटे पात्रों के बिखरे उच्छिष्ट प्रसाद-कण धूल में इधर-उधर बिखरे पड़े रहते हैं। ऐसे ही समय में वहाँ उपस्थित होते हैं भक्त-शिरोमणि रघुनाथ दास। वे उन्हें बड़े यत्न से चुनकर उन्हें अपने उत्तरीय वस्त्र में एकत्र करते हैं और उन्हें जल से धोकर साफ कर लेते हैं। यही गो-भुक्त जगन्नाथ-प्रसादान्न उनके आहार की एक मात्र सामग्री हो गया है, इन दिनों।

जब स्वरूप और गोविन्द ने महाप्रभु को रघुनाथ दास के उक्त आहार-संग्रह की कहानी सुनाई थी, तो महाप्रभु भीतर-ही-भीतर अत्यधिक प्रसन्न और संतुष्ट हुए थे। उन्हें ऐसा प्रतीत हो गया था कि रघुनाथ दास की वैराग्य साधना सार्थकता के शिखर की ओर अग्रसर हो चुकी है। एक दिन जब रघुनाथ दास अपना वह अद्भुत प्रसादान्न सामने रखकर आहार ग्रहण करने के निमित्त बैठे थे, तो महाप्रभु ने अकस्मात् वहीं उपस्थित होकर उस प्रसादान्न के ऊपर अपनी खुली हथेली डाल दी। महाप्रभु पूछने लगे—"क्योंजी, रघुनाथ, इतना उत्तम भगवत् प्रसादान्न तुम कहाँ से उठा लाते हो? ऐसा पवित्र प्रसादान्न मुझे तो आज तक कभी नहीं मिला!"

भक्त-प्रवर रघुनाथ दास विस्मय, संकोच, आह्लाद और विमूढता के समुद्र में डूबने उतराने लगे। यह प्रसाद तो सड़क की बुहारन से चुने हुए अन्न-कण के धुले-खुले टुकड़े हैं। क्या महाप्रभु इन्हें ग्रहण कर लेंगे? अद्भुत लीला है महाप्रभु की।

भक्त के दैन्य को अपने ऐश्वर्य के मस्तक पर चढ़ा लेने की यह उदार महिमा प्रभु के लिए ही संभव है। ऐसा ही कुछ सोच-सोचकर रघुनाथ दास रो पड़े। उनकी दोनों आँखों से बहने-वाली अश्रुधारा से उनका वक्षःस्थल भी भींगता रहा।

इधर महाप्रभु के मुख-मंडल पर पूर्णिमा के चाँद की निष्कलुष आभा मुस्कान बनकर मधुर प्रसन्नता की भुवन-मोहन ज्योति बिखेर रही है। क्या रघुनाथ के वैराग्य-बोध को दीनता और आर्त्ति के इसी धरातल पर प्रतिष्ठित कर देने के लिए महाप्रभु अब तक ठहरे थे? श्रीकृष्ण के असीम प्रेम के अमृत समुद्र में डूबकर पत्थर का टुकड़ा मुरब्बा भले बन जाय, पर उसके अहंकार का ठोसपन उसे उस रस में घुलकर एक तो नहीं होने दे सकता। महाप्रभु ने तभी रघुनाथ दास के परम वैराग्य-बोध को चरम दैन्य के जारक रस में घुलाकर उसे सहज स्वभाव का औरस रस बना देना चाहा था। जो शून्य नहीं हुआ, वह पूर्ण कैसे होगा? पूर्ण दास ही पूर्ण मुक्त हो सकता है। महाप्रभु की कृपा उसे ही अपने प्रेम के रस से सिक्त करती है, जिसे जीवन और जागृति की कृतघ्न कठोरताओं ने सोख-सोखकर रिक्त कर दिया हो।

तरुण वैष्णव संन्यासी के सामन्त-कुल-जात अभिमान को कृच्छ्र व्रत और चरम दैन्य के सहारे गलाकर, वैराग्य की आर्त्ति में रूपान्तरित कर देनेवाली यह कठोर गुरुकृपा, महाप्रभु के रूप में ईश-कृपा बनकर धरती पर क्यों उतरी है, यह समझने में रघुनाथ दास को अब कोई कठिनाई नहीं हो रही है। क्या साधक के जीवन में आचार-आचरण का बिन्दुमात्र प्रमाद भी उस लीला पुरुषोत्तम को कभी सह्य नहीं हो पाता?

इस तथ्य को प्रमाणित करनेवाली अनेक प्रसंग-कथाओं को चैतन्य चरितावली के रचयिता ने संकलित कर दिया है।

चैतन्य महाप्रभु के एक अति विशिष्ट भक्त थे, श्री भगवान आचार्य। एक दिन उन्होंने महाप्रभु को निमंत्रित किया। उन्हें लगा कि महाप्रभु तो पंडित ब्राह्मण-वंश के अप्रतिम रत्न हैं। उन्हें मोटे उसने चावल का भात कैसे रास आयेगा? अरबा महीन चावल तो चाहिए ही, सो भी हर सिंगार के फूल की-सी स्वच्छ सुगंधि वाला चावल। खोज-खबर कराने के बाद पता चला कि महाप्रभु के ही एक परम भक्त 'शिखि माहिति' के घर में वैसा ही चावल कहीं से आ गया है।

भगवान आचार्य का पड़ोस के एक तरुण वैष्णव से अति घनिष्ठ परिचय था। वे भक्त-समाज में छोटे हरिहास के नाम से प्रसिद्ध थे। चैतन्य महाप्रभु को भी वे बड़े ही प्रिय थे। उनके कण्ठ-स्वर में कोयल की कूक-जैसी मीठी

कोमलता थी और भावुकता की तो वे अप्रतिम प्रतिमा ही थे। भगवान् आचार्य ने उन्हीं के पास जाकर अपने अभिप्राय का निवेदन किया—"भैया, बड़े भाग्य की बात है कि महाप्रभु ने मेरे घर आकर आज भिक्षा-ग्रहण करने की मेरी प्रार्थना मंजूर कर ली है। मैं इस सौभाग्य को संभालने में इस समय नितान्त व्यस्त हो गया हूँ। ऐसी स्थिति में मेरी एक सहायता क्या तुम कर दे सकोगे? सुना है कि शिखि माहिति के घर में बड़ा ही उत्तम चावल कहीं से आ गया है। उनकी बहन माधवी दासी को मेरा नाम बता दोगे, तो वह उसमें से थोड़ा चावल जरुर छिपा-बचाकर दे देंगी। महाप्रभु को मोटा-खोंटा चावल खिलाना मुझे अच्छा नहीं लगता। एक मुट्ठी वही चावल ले आते, तो ठीक था।"

आह, कैसा सौभाग्य! भगवान् आचार्य के घर स्वयं महाप्रभु आज आ रहे हैं। इस समाचार ने छोटे हरिदास को उत्साह और उल्लास से उन्मत्त कर दिया। वे उसी समय माधवी दासी से मांगकर सुगंधित महीन चावल की एक छोटी-सी पोटली ले आये। भगवान् आचार्य की अभिलाषा पूरी हुई। महाप्रभु के आने के बाद उनके सामने स्वादु व्यंजनों के साथ, उस कुन्दोज्ज्वल चावल का सुगंधित भात जब उन्होंने अपने हाथों परोसना आरंभ किया, तो वे प्रसन्न कृतार्थता से बेसुध हो रहे थे।

भोजन करते-करते महाप्रभु ने कहा—"पंडितजी, तुम्हारी रसोई की एक-एक वस्तु आज बड़ी ही अनूठी बनी है। मगर भात तो और भी अपूर्व है। इसकी उज्ज्वल सुगंधि तो हरसिंगार के ताजे फूलों को मात कर रही है। इतना स्वादु, महीन और सुगंधित चावल तो इस अंचल में कहीं नहीं देखा था मैं ने। कहाँ से मंगायी यह नफीस चीज तुमने?"

प्रसन्नता और गर्व को नम्रता के सहारे छिपाने का प्रयत्न करते हुए भगवान् आचार्य ने हाथ जोड़कर निवेदन किया—"महाप्रभु, मेरे घर में ऐसा चावल भला कहाँ से आता? यह तो शिखि माहिति के घर में कहीं से सौगात में आ गया था। उनकी बहन माधवी दासी से मांगकर थोड़ा-सा चावल ले आया गया है। आज ही तो, अभी-अभी।"

"अच्छा, तो यह बात है?"—प्रभु बोलेः "बहुत ठीक! कितना अच्छा चावल ले आये तुम, मेरे लिए, दूसरे से माँगकर? मगर मांगने के लिए माधवी दासी के पास तुम स्वयं गये थे, या दूसरा कोई गया था?"

"प्रभो, मैं तो आयोजन में व्यस्त था। मुझे खुद माँगकर चावल लाने की फुर्सत कहाँ थी? इस उपकार के लिए तो मुझे छोटे हरिदास भाई को ही

धन्यवाद देना पड़ेगा। वे ही शिखि माहिति के घर दौड़े-दौड़े गये और उनकी बहन माधवी दासी को मेरा नाम बताकर एक मुट्ठी बढ़िया चावल मांग लाये।

महाप्रभु इसके बाद एक शब्द भी नहीं बोले। शिर झुकाये वे चुपचाप भोजन करने लगे। भोजन के बाद जब वे अपनी कुटी पर लौटे, तो उन्होंने अपने भृत्य गोविन्द को बुलाया और अत्यन्त दृढ, गंभीर तथा उदास स्वर में उसे आदेश दिया: "गोविन्द, ध्यान रखना, अब छोटे हरिदास को मेरी कुटिया में प्रवेश मत करने देना। मै उसकी सूरत देखना नहीं चाहता। इस बात को भूल मत जाना।"

गोविन्द को काटो, तो खून नहीं। इसे ही कहते हैं अनभ्र वज्रपात ! अकस्मात् महाप्रभु ने यह कैसा कठोर आदेश दे डाला है ! ऐसा तो पहले कभी किसी ने देखा सुना नहीं था। अन्तरंग भक्तों की पूरी मण्डली में मायूसी और हैरत छा गई।

प्रभु का दरवाजा अब बंद हो गया है, उस भावुक कलकण्ठ तरुण भक्त के प्रति, जिसे महाप्रभु के समाज में 'छोटे हरिदास' के नाम से जाना-पहचाना जाता है। वह दु:सह व्यथा के मारे भर दिन इधर-उधर चक्कर काटता फिर रहा है। तीन दिन बीत गये, मगर उसने अन्न-जल ग्रहण करना छोड़ रखा है। उसका सूखा चेहरा देखकर महाप्रभु के भक्तों का चेहरा भी उतर गया है। किन्तु महाप्रभु के चेहरे पर चिन्ता, उद्वेग किंवा अनुताप का कोई चिह्न नहीं। छोटे हरिदास को प्रभु क्षमा कर देंगे, ऐसा भरोसा अब किसी को नहीं रह गया है।

स्वरूप दामोदर ने एक दिन साहस करके महाप्रभु से पूछा: "प्रभो ! छोटे हरिदास ने कौन-सा अपराध किया ? उसे दरवाजे पर आने देने से रोकने का निर्णय निश्चय ही बहुत कठोर दण्ड है। क्या उसके अपराध की मार्जना संभव नहीं है ?

महाप्रभु ने रोषपूर्वक कहा—"उसकी करतूत सुन ही लो। वह माधवी दासी के पास सुगंधित चावल मांगने पहुँचा था। वैरागी का वेश धारण करके नारी से एकान्त संभाषण करनेवाला व्यक्ति मेरी दृष्टि में पाखंडी है। ऐसे पाखंडी का मुख देखना मैं गँवारा नहीं कर सकता। संसार के जीव तो दुर्बल हैं ही उनका वैराग्य बहुधा वास्तविक नहीं होकर किंचितकालिक हुआ करता है—अर्थात् मरकट-वैराग्य ! और ऐसे लोग संन्यास के धर्म तथा वैरागी जीवन के निर्देशों और नियमों को न मानकर इधर-उधर घूमते-फिरते हैं।"

महाप्रभु की यह बात सुनकर उपस्थित भक्तों की मंडली में सन्नाटा छा गया।

यों शिखि माहिति और उसकी बहन माधवी दासी प्रभु के अनन्य भक्तों में परिगणित हैं। इतना ही नहीं भक्तों की तो यह भी धारणा है कि चैतन्य महाप्रभु की मधुर साधना के मर्मज्ञ, उनके प्रेम-रस को हृदय में धारण करनेवाले उपयुक्त पात्र पूरे नीलाचल में केवल साढ़े तीन ही हैं। ये साढ़े तीन जन हैं—स्वरूप दामोदर, राय रामानन्द और शिखि माहिति—इन तीन जनों को छोड़ दें तो एक आधा जन और है—वही माधवी दासी––शिखि माहिति की बहन। उम्र के हिसाब से माधवी दासी प्रौढ़ा भी नहीं, वृद्धा ही कही जा सकती है। इतना ही नहीं नीलाचल के भगवद्‌भक्तों के समाज में उसके आदर, सम्मान और प्रतिष्ठा की कोई सीमा नहीं है। वैसी साध्वी आदरणीया बूढ़ी भक्त महिला से एक मुट्ठी चावल माँगने में छोटे हरिदास ने संन्यास-धर्म और वैराग्य-बोध के प्रति कौन-सा अपराध कर दिया, जिस कारण महाप्रभु उसे दंड दे रहे हैं—यह बात किसी की समझ में नहीं आ रही थी।

कई दिन यूँ ही बीत गये। एक दिन भक्तों ने महाप्रभु को बीच में बैठाकर चारों ओर से घेर लिया। उन्होंने अनुनय करते हुए महाप्रभु से कहा—"प्रभो ! छोटे हरिदास का अपराध जितना बड़ा है उसकी तुलना में उसे आपने कहीं अधिक बड़ी सजा दे रखी है। हम सभी की प्रार्थना है कि इस वार उसके अपराध को माफ कर दिया जाए।"

महाप्रभु को इस अनुनय ने अत्यधिक क्रुद्ध कर दिया। उन्होंने कहा—"तुमलोग जाओ और अपने-अपने काम करो। मुझे इस तरह तंग करना ठीक नहीं। यदि यह अनुरोध मुझसे किसीने दुबारा किया तो जान लो नीलाचल में मुझे फिर देख नहीं पाओगे। मैं इस स्थान का त्याग कर दूँगा।"

अपने इस संकल्प पर महाप्रभु अन्त तक डटे ही रहे। छोटे हरिदास कुछ दिन बाद त्रिवेणी जाकर आत्म-विसर्जन कर आये। इस घटना का पता जब भक्त-वैष्णवों के समाज को चला तो नीलाचल में तहलका मच गया। वैराग्य के साधन नियम के प्रति महाप्रभु की इस कठोरता की चर्चा त्रासपूर्वक की जाने लगी।

तरुण वैरागी छोटे हरिदास के प्रति प्रभु की यह वज्र कठोरता, राय रामानंद के प्रति महाप्रभु के व्यवहार से सर्वथा भिन्न थी। रामानंद राय शक्तिधर साधक थे— प्रेम-भक्ति के रस के समंथ अधिकारी महापुरुष के रूप में वे नीलाचल में अभिज्ञात थे। वे नारियों से घिरे रहते थे, किन्तु ऐसा न करने का कोई निर्देश उन्हें महाप्रभु ने कभी दिया हो–ऐसा नहीं कहा जा सकता।

प्रभु के एक और भक्त थे— प्रद्युम्न मिश्र। एक वार उन्होंने महाप्रभु से प्रार्थना की—"प्रभु ! आपके श्रीमुख से कृष्ण-कथा सुनने की बड़ी ही उत्कट

अभिलाषाहो रही है।"

महाप्रभु दैन्य और विनय के अभिनय में स्वयं ही अत्यधिक दक्ष हैं। उन्होंने कहा—"देखो मिश्र, कृष्ण की कथा भला मैं क्या जानूँ? यदि सुनना ही चाहते हो तो चले जाओ राय रामानंद के पास। श्रीकृष्ण की लीला के रस के भण्डार-पाल वे ही हैं। मैं भी थोड़ा-बहुत जो जानता हूँ, सो राय रामानंद के मुख से ही सुनकर।"

प्रद्युम्न मिश्र उसी दिन राय रामानंद के घर जा पहुँचे। काफी देर तक इन्तजार करने के बाद नौकरों ने उन्हें आकर बतलाया कि राय महाशय आज नितान्त व्यस्त हैं। कृष्ण-लीला-विषयक एक रस-मधुर नाटक की उन्होंने रचना की है। आज उसे ही मंच पर उतारने के लिए पूर्वाभ्यास चल रहा है।

रामानंद राय के दरवाजे पर बैठे-बैठे नौकरों से पूछ-ताछ करके प्रद्युम्न मिश्र ने अनेक महत्वपूर्ण समाचार प्राप्त कर लिये। उन्हें कहा गया कि दो नितान्त रूपसी तरुणी रमणियाँ रामानंद के निकट नृत्य, गीत और अभिनय की शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन घंटों एकांत में उपस्थित रहा करती हैं। उनके द्वारा लीला-नाट्य का अभि नय अधिक-से-अधिक जीवंत हो, इस आकांक्षा से प्रेरित होकर राय रामानंद के उत्साह की जैसे कोई सीमा नहीं है। वे अपने हाथों दोनों तरुणियों की रूप-सज्जा संभालते-संवारते हैं और उन्हें देवदासी के मनोहर वेश में प्रस्तुत करने के लिए सारे संभव प्रयत्न करते हैं। हाव, भाव और कटाक्ष-जैसी ललित चेष्टाओं के संबंध में उन दोनों रूपसियों को वे पहर भर तक निर्देश-उपदेश देते रहते हैं। रामानंद के लिए नाटक मात्र नाटक नहीं है, वह है—भगवान् श्रीकृष्ण की जीवंत लीला। रामानंद की दृष्टि में ये दोनों सुन्दरियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के लीला सुख की दिव्य-सहचरी हैं। उनके जीवन की सार्थकता ही है—श्रीकृष्ण के सुख में वृद्धि करना। रामानन्द राय इन दोनों नायिकाओं के प्रति सखी-भाव रखते हैं।

प्रद्युम्न मिश्र ने पुरा वृत्तान्त सुन-गुन लिया। उनके मन में विस्मय और कौतुक भी हुआ तथा संदेह भी। उन्होंने मन-ही-मन सोचा–महाप्रभु ने आज कैसे विचित्र वैष्णव के यहाँ मुझे भेज दिया है।

घण्टों तक प्रतीक्षा करने के बाद प्रद्युम्न मिश्र को राय रामानंद से मिलने का सौभाग्य क्षण-भर के लिए प्राप्त हो गया। उस दिन कोई विशेष बात-चीत भी नहीं हो सकी और श्रीकृष्ण-लीला का प्रसंग उठे, इसका अवकाश भी नहीं मिला। इसलिए जब अछता-पछता कर प्रद्युम्न मिश्र वहाँ से विदा हुए तो उनका मन भिन्ना उठा था।

महाप्रभु से बात हुई तो पद्युम्न मिश्र ने उस दिन का सारा वृत्तान्त सुना दिया। सुनकर महाप्रभु ने कहा–"तुम तो जानते ही हो मैं तो ठहरा संन्यासी। स्त्रियों को देखना, छूना तो दूर की बात है, मैं तो उनके नाम लेते भी डरता हूँ। दूसरी ओर देखो, रामानंद राय की अपूर्व वीरता! यह शक्ति क्या साधारण बात है? रूप लावण्यशालिनी तरुणियों का स्पर्श करने के बावजूद निर्विकार बने रहना सबके लिए संभव नहीं। वैसा तो राय रामानंद से ही संभव है। असल में यह साधकों के अलग-अलग अधिकार-क्षेत्र की बात है। जब तक भक्ति और प्रेम-साधना में पूर्ण सिद्धि लाभ प्राप्त नहीं होता, तब तक राय रामानंद की-सी सिद्धावस्था में पहुँचना किसी के लिए संभव नहीं।"

दूसरे दिन प्रद्युम्न मिश्र राम राय के भवन में उपस्थित हुए। प्रभु की आज्ञा थी कि राम राय को कृष्ण-कथा सुनानी होगी। इसलिए, उस दिन राय महाशय को आज्ञा-पालन करना ही पड़ा। कृष्ण की कथा कहते, उनके लीला-रस के निगूढ़ तथ्यों का विवेचन करते-करते राय रामानन्द अकस्मात् मानो उन्मत्त हो उठे। लगा कि चारों ओर आनन्द का समुद्र उफना रहा है। इस वार प्रद्युम्न मिश्र की आकांक्षा पूरी हुई और उन्हें यह रहस्य भी ज्ञात हो गया कि राय रामानंद सचमुच ही भगवान् श्रीकृष्ण के विशिष्ट लीला-सहचर भक्त हैं।

चैतन्य महाप्रभु निस्संदेह संन्यासी हैं। संन्यास-धर्म के त्याग, तितिक्षा, साधन और भजन के प्रसंग में प्रत्येक नियम का सावधानतापूर्वक पालन करना वे अपना कर्त्तव्य मानते हैं। श्रीकृष्ण-लीला के मधुर रस से ओत-प्रोत शृंगारी पदावली का गान करते-करते जब वे प्रेम-भावावेश में मत्त या मूर्च्छित हो जाते हैं, तब भी उन नियमों के प्रति असावधान होना, उन्हें, क्षम्य नहीं जान पड़ता। उन्हें भय है कि यदि संन्यास-धर्म के प्रति कोई प्रमाद या भूल की खोज उनके व्यक्तिगत जीवन में ढूँढली जायगी तो उनके भक्त-समाज के समुदाचार और मर्यादा-बोध में उच्छृंखलता का प्रवेश संभव हो जाएगा। इसी भय के कारण वे नीति-नियम के पालन में निरंतर सावधान और सजग रहना, अपने लिए भी आवश्यक मानते हैं।

केले के स्तंभ की सूखी छाल पर महाप्रभु शयन और विश्राम करते हैं। शय्या के रूप में अन्य किसी उपकरण का उपयोग करना, उन्हें, कतई मंजूर नहीं है। प्रभु के इस हठ को लेकर उनके अंतरंग भक्त जगदानन्द पंडित उदास और चिंतित रहा करते हैं। उन्होंने मन-ही-मन निश्चय किया, महाप्रभु इस प्रकार के कठिन नियमों के द्वारा शरीर को पीड़ित करें, यह अच्छा नहीं लगता। एक वार प्रभु से अनुरोध करना चाहिए कि वे शय्या के रूप में वस्त्र का उपयोग

करना स्वीकार कर लें।

जगदानन्द पंडित ने बड़े यत्न के साथ तोशक, तकिया और चादर तैयार कराई ताकि महाप्रभु को रुखड़ी सज्जा कष्ट न दे। महाप्रभु के गेरुये वस्त्र को जोड़-जार कर शय्या के ये नये उपकरण तैयार कराये गये थे ताकि महाप्रभु को उनके उपयोग में आपत्ति करने का कारण न मिले।

महाप्रभु उस दिन शयन करने गये, तो शय्या देखकर क्रोध से गर्जन करने लगे। उन्होंने कहा—"मैं चेष्टापूर्वक अपने संन्यास-धर्म का निर्वाह करता जा रहा हूँ, मगर लगता है कि ये लोग मेरे व्रत को तोड़ने के लिए आमादा हो गये हैं। जगदानन्द चाहते हैं कि मैं विषय-भोग में फँस जाऊँ; विलास में डूब जाऊँ; धर्म-च्युत हो जाउँ! क्या यह उनके लिए उचित है?"

यह कहकर महाप्रभु ने बिछौने के नये उपकरणों को कुटी के बाहर फेंकवा दिया और बोले—"अब नीलाचल में रहना असंभव हो गया। लगता है मुझे इस स्थान का त्याग करना ही पड़ेगा।"

भक्तों की मंडली महाप्रभु के गर्जन-स्वर को सुनकर एकत्र हो गई। बड़े अनुनय-विनय और क्षमा-याचना के बाद महाप्रभु को शान्त किया जा सका। किन्तु महाप्रभु इस प्रकार के कठोर व्रत के द्वारा अपने कोमल भुवन-मोहन शरीर को कष्ट दें, यह भक्तों को सह्य नहीं हो रहा था। अन्त में स्वरूप दामोदर की सहायता ली गई। उन्होंने बड़ी देर तक अनुरोध करने के बाद महाप्रभु को कदली वृक्ष की सूखी छाल पर गेरूये वस्त्र डालकर शय्या तैयार करने की स्वीकृति महाप्रभु से प्राप्त कर ली। उस दिन से महाप्रभु शय्या-वस्त्र के रूप में गेरूये रंग की पतली चादर बिछाकर विश्राम करना शुरू कर दिया।

अपने अंतरंग भक्त जगदानन्द पंडित के प्रति महाप्रभु के मान-अभिमान का प्रेम-कलह अक्सर कोई-न-कोई टंटा खड़ा देता है। एक दिन एक नया कांड फिर जगदानन्द पंडित की भूल से ही घटित हो गया। कुछ ही दिन पहले वे गौड़ देश को गये थे। वहाँ से मिट्टी के एक पात्र में सुगंधित चंदन तेल महाप्रभु के निमित्त वे ले आये थे। पूरे दिन-भर नृत्य और कीर्त्तन का आयोजन चलता रहता है, जिसमें महाप्रभु का थक जाना स्वाभाविक ही है। बीच-बीच में भावावेग के समय वे कभी बेहोश, कभी मूर्च्छित और कभी अवश हो जाया करते हैं। जगदानन्द की इतनी ही इच्छा है कि शिथिलता और परिश्रांति के ऐसे अंतराल क्षणों में महाप्रभु के मस्तक पर यदि सुगंधित चंदन तैल का शीतल लेप लगा दिया जाता, तो महाप्रभु को थोड़ा आराम अवश्य मिल जाता।

अपनी इसी आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए जब जगदानन्द पंडित गौड़

देश गये थे, तो एक हाँड़ी चंदन तेल उठा लाये थे।

प्रभु के सेवक गोविन्द के हाथों में चंदन तेल की वह हाँड़ी अर्पित करते हुए जगदानन्द पंडित ने कहा—"भैया, इसकी जिम्मेदारी आज से तुम पर रही। देखो, महाप्रभु के मस्तक में यह ठंडा तेल समय मिलने पर जरूर मल दिया करना। कहीं भूल से एक दिन का भी व्यवधान न हो जाए।"

महाप्रभु जगदानन्द का यह गोपन-संभाषण पास ही कहीं से सुन रहे थे। वे वहीं से चिल्लाकर बोले—"तुम्हें पता नहीं है जगदानन्द, संन्यासी के लिए तेल का व्यवहार सर्वथा निषिद्ध है। और तुम तो तेल ही नहीं, सुगंधित तेल की—चंदन के ठंडे तेल की-बात कर रहे हो। इससे अधिक निंदनीय प्रस्ताव और क्या होगा ?"

महाप्रभु की बात ने सभी को स्तब्ध कर दिया। मगर जगदानन्द मानने-वाले जीव न थे। प्रभु के सेवक को वे चुपचाप, कानों कान, बड़ी देर तक चंदन तेल के मर्दन की विविध पद्धतियों पर प्रचुर उपदेश देते रहे।

लगभग दस दिन व्यतीत हो गये होंगे। मौका पाकर एक दिन गोविन्द ने ही बात उठायी। उसने प्रभु से हाथ जोड़कर प्रार्थना की—"प्रभु, जगदानन्द पंडित बड़े यत्न से चंदन तेल ढ़ोकर ले आये हैं। गौड़ देश से नीलाचल तक की यात्रा में चंदन तेल की हाँड़ी को सुरक्षित ले आने में उन्हें अपार कष्ट हुआ है। उनकी बड़ी इच्छा है कि महाप्रभु के माथे में कभी एक चुल्लू तेल पड़ जाता तो उनका परिश्रम सार्थक हो जाता।"

चैतन्य महाप्रभु रुष्ट होकर बोले—"सिर में एक चुल्लू तेल डालकर ही जगदानन्द निश्चिन्त कैसे होंगे। वे तो अब मेरे शरीर में तैल-मर्दन करने के लिए एक पहलवान को भी बुला लाने की पूरी व्यवस्था कर चुके हैं। उनको पूरा विश्वास है कि मर्दन-सुख प्राप्त करने के लिए ही मैं ने संन्यास का लबादा ओढ़ रखा है। मैं खूब समझता हूँ कि जबतक तुम लोग मेरा सर्वनाश नहीं कर दोगे, तबतक चैन पाना, तुम्हारे लिए कठिन है। कहो तो, यह महमहाता सुगं-धित तेल मैं सिर में लगाकर जब नगर के राज-पथ से चलूँगा, तो सड़क के लोग क्या कहेंगे ?"

गोविन्द को इतना समझा देने के बाद महाप्रभु ने लगे हाथों जगदानन्द को भी वहीं पुकार लिया। बोले—"क्यों जी पंडित जगदानन्द जी, सुना है कि आप गौड़ देश चंदन का तेल लाने ही के लिए गये थे। मुझे चंदन की सुगन्ध से सराबोर करने में आपको अपार आनन्द प्राप्त होगा--यह सब तो मैं जान गया, मगर आप भी इतना तो जान लीजिए कि मैं संन्यासी हूँ और संन्यासी के

लिए तेल का व्यवहार वर्जित है। यदि तुम चंदन का तेल ले ही आये और उसका सदुपयोग किये बिना तुम्हारा मन यों ही कुलबुलाता रहेगा, तो ऐसा करो--यह तेल की पूरी हाँड़ी जगन्नाथदेव के मंदिर में रख आओ। वहाँ चंदन के तेल का दीप जलाने में उपयोग किया जा सकता है। ऐसा हुआ तो तुम्हारा श्रम भी सार्थक होगा और तुम्हारे भ्रम का भी निवारण हो जायगा।''

हठी जगदानन्द ने महाप्रभु के परामर्श को चुपचाप सुन तो लिया, किंतु मन-ही-मन वे कुड़बुड़ाने लगे। उस समय उनका तन-मन क्रोध और क्षोभ के आवेग से काँप रहा था। उन्होंने रूठे स्वर में कहा—''पता नहीं कौन आपको जोड़-तोड़कर मेरे संबंध में गढ़ी कहानियाँ सुना दिया करता है! गौड़ देश की मेरी यात्रा का उद्देश्य था—आपके लिए एक हाँड़ी चंदन तेल ले आना—ऐसी बात किसने रच ली--यह तो आपको ही पता होगा। यह तेल किसी के माथा में लगे या न लगे, यह तो अलग बात है, मगर मेरा नाम जोड़कर लोगों ने इस चंदन तेल को आपके लिए अग्राह्य बना दिया है। जिस चीज को मैं छू दूँगा, भला उसे आप कैसे स्वीकार करेंगे?''

किन्तु सरल-हृदय जगदानन्द ज्यादा देर तक अपने को संयत रख सकें, यह संभव नहीं है, सो वे महाप्रभु को उपर्युक्त बातें कहते-कहते ही, हिचक-हिचक कर रोने लगे। वे प्रभु की कुटी में पैठ गये और वहाँ रखी गई उस हाड़ी को उठाकर ले आये, जिसमें चंदन का सुगंधित तेल लबालब भरा था। इसके बाद भक्तों की एकत्र भीड़ के सामने ही पूरी हाँड़ी को टुकड़े-टुकड़े कर तोड़ दिया गया। और अपने घर में जाकर जगदानंद पंडित ने किवाड़ बन्द कर लिया। उनका निश्चय था कि अब उनके घर से उनका मृत शरीर ही निकलेगा और तभी किवाड़ को भी खोलने की आवश्यकता होगी।

जगदानन्द की जिद से महाप्रभु के भक्तगण परिचित हैं। तीन दिनों तक जगदानन्द किवाड़ बंद किये अपनी कोठरी के फर्श पर पड़े रहे। अन्न, जल ग्रहण करना उन्होंने छोड़ दिया। अब किस उपाय से उन्हें कोठरी के बाहर निकाल कर शान्त किया जाय! इस पर विचार-विमर्श होता रहा। किन्तु बिल्ली के गले में घंटी बाँधनेवाला कोई नहीं मिला।

भक्त के इस प्रेमाभिमान के अमोघ सत्याग्रह ने अन्ततः महाप्रभु को ही पराजय स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया। वे स्वयं ही उस दिन जगदानन्द की कुटी के भीतर प्रवेश करने के लिए उपस्थित हुए और दस्तक पर दस्तक देने लगे। किवाड़ पीट-पीटकर महाप्रभु कहते रहे—''ऐ पंडित, पंडित महाशय! जगदानंद पंडित जी, जरा जल्द ही बाहर निकलिये! आज आप ही के दरवाजे

पर भिक्षा-ग्रहण करने आया हूँ ! आप तो आनन-फानन अच्छी-से-अच्छी रसोई तैयार कर ही सकते है। मुझे बड़ी भूख लगी है। श्रीमंदिर से यों ही बैरंग लौट आया। सोचा किसी और को मेरी गरज न हो, पर आपको मेरा भूखा रहना थोड़े ही गवारा होगा ?"

जगदानन्द ने लेटे-लेटे सुना-महाप्रभु दरवाजे पर खड़े दस्तक दे रहे हैं। उन्होंने अभी तक भोजन नहीं किया है। यह तो बड़ा अनर्थ हुआ। अब जिस उपाय से भी संभव हो, उनके लिए रसोई तो तैयार करनी ही पड़ेगी। चंदन तेल की याद उन्हें नहीं रही। यह भी याद नहीं रहा कि वे रूठे हुए हैं और आजीवन किवाड़ बंद रखने की भीष्म-प्रतिज्ञा कर चुके हैं। सब कुछ भूलकर उन्होंने चटपट आग जलाई और महाप्रभु के लिए रसोई तैयार की। कहना न होगा कि प्रभु उस भोजन को देर तक सराह-सराह कर जगदानन्द को प्रसन्न करते रहे।

इस प्रकार महाप्रभु को भक्त का मान रखने के लिए उस दिन सरेआम अपनी हार कबूल करनी पड़ी। जगदानंद पंडित को इस घटना के बाद चंदन तेल की हाँड़ी फिर कभी याद नहीं आई।

श्रीपाद माधवेन्द्र पुरी के अन्यतम शिष्य रामचद्र पुरी इन दिनों नीलाचल में ही थे। भले-बुरे और शोभन-अशोभन का विचार अभ्यास उनमें नहीं के बराबर था। और बातचीत में भी बड़े ही फूहड़ थे। दूसरों के दोष ढूँढ़-ढूँढ़ कर प्रसन्न होते रहना उनका मुख्य व्यसन था। यही कारण है कि मरने के पहले श्रीमाधवेन्द्र पुरी—जैसे कृपालु और क्षमाशील गुरु को भी ऐसे छिद्रान्वेषी शिष्य को अपने पास से दूर हटा देना पड़ा। मगर संयोग की बात देखिये कि इस समय वे ही छिद्रान्वेषी शिरोमणि रामचन्द्र पुरी अकस्मात् नीलाचल में आकर अपनी पुरानी वृत्ति की लीला में पुन: संलग्न हो गये हैं।

महाप्रभु और उनके भक्तगण रामचन्द्र पुरी का संप्रदाय-संबंध के कारण अत्यधिक आदर करते हैं। उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति के निवेदन में भी कोई त्रुटि नहीं की जाती। लेकिन अपने स्वभाव से लाचार हैं—रामचन्द्र पुरी जी। संपर्क में आये लोगों की निंदा किये विना उनकी जीभ की खुजलाहट नहीं जाती। महाप्रभु के भक्तों के बीच भी उनका यह पुरातन व्यापार स्वच्छंद चलता रहा। यहाँ तक कि महाप्रभु चैतन्य को भी अपनी पिशुन-गोष्ठी का लक्ष्य बना लेना उन्हें नितान्त आवश्यक हो गया।

महाप्रभु प्रायः प्रत्येक दिन किसी-न-किसी भक्त के घर भिक्षा-ग्रहण करने के निमित्त चले जाते हैं। महाप्रभु के उपस्थित होने पर कोई भी भक्त महाप्रभु की सेवा में कुछ उठा नहीं रखता। यथाशक्ति व्यवस्था किये विना किसी भक्त को संतोष नहीं होता। रामचंद्र पुरी को महाप्रभु के इस दैनंदिन भिक्षाटन में ही अपने लिए निंदा का उर्वर क्षेत्र ढूँढ़ लेना आवश्यक हो गया। उन्होंने लोगों से कहा—"भाई, जो संन्यासी हो जाता है उसके लिए भोजन करना और न करना–दोनों बराबर है। ऐसी स्थिति में नित्य समारोह का यह आयोजन क्यों चलाया जा रहा है ? इस प्रकार भक्तों के घर पर जा-जाकर उन्हें रसोई तैयार कराने में व्यस्त कर देना, क्या कोई अच्छी बात है ?"

महाप्रभु ने गोविन्द को पुकारा और बोले—"देखो गोविन्द ! अब जिस किसी भक्त के घर में भिक्षा ग्रहण करने जाऊँ, उसे पहले ही बता देना कि अन्न-व्यंजन का एक चतुर्थांश ही मुझे भिक्षान्न के रूप में वे प्रदान करें। उससे भी कम हो तो और अच्छा। लेकिन किसी भी हालत में उससे ज्यादा नहीं।"

महाप्रभु के भक्तों को जब महाप्रभु का यह निर्देश गोविन्द के मुख से प्राप्त हुआ, तो वे अत्यधिक उत्तेजित हो उठे। रामचन्द्र पुरी के छिद्रान्वेषी स्वभाव की कहानी उनलोगों को पहले से ही ज्ञात थी। उनलोगों ने आकर महाप्रभु से प्रार्थना की—"प्रभो ! सबलोग जानते हैं कि ये रामचंद्र पुरी जी बड़े ही छिद्रान्वेषी, निंदा-रसिक और अविचारी हैं। इनकी बातों को महत्व देकर आपने भोजन के परिमाण में कमी कर देने की अनावश्यक प्रतिज्ञा क्यों कर की है ?"

महाप्रभु ने भक्तों को उत्तर दिया—'आप लोग पुरी महाराज को व्यर्थ ही दोष दे रहे हैं। उनपर इस तरह अकारण रुष्ट हो जाना किसी भी प्रकार से उचित नहीं कहा जा सकता। उन्होंने कोई गलत बात तो नहीं कही है। जो कहते हैं, ठीक ही कहते हैं। संन्यासी को चटोर और पेटू बनाने का अभ्यास छोड़ देना चाहिए। संन्यास-धर्म का जो लोग ग्रहण करते हैं, उन्हें आहार के परिमाण में धीरे-धीरे कमी कर ही देनी चाहिए।"

प्रभु के इस निर्णय ने भक्तों के हृदय को विदीर्ण कर दिया। चारों ओर रामचन्द्र पुरी के विरुद्ध कलह-कोलाहल जारी हो गया। इसका परिणाम हुआ कि प्रभु अपने नियमित आहार की प्रतिज्ञा को पूरा करने का संकल्प यदि छोड़ नहीं देते, तो रामचंद्र पुरी घोर संकट में पड़ गये होते।

इसके कुछ दिन बाद लोगों ने सुना कि एक दिन चुपके-चुपके रामचंद्रपुरी नीलाचल छोड़कर अन्यत्र चले गये हैं। फिर उन्हें उस अंचल में किसी ने नहीं देखा। मगर उनका इस तरह अकस्मात् अन्तर्धान हो जाना, महाप्रभु के भक्तों के

लिए प्रसन्नता का ही विषय था। पुरी महाशय का जाना महाप्रभु के भक्तों को अच्छा ही लगा।

संन्यास-धर्म के पालन, रक्षण और नियमानुवर्तिता एवं संयम के प्रति महाप्रभु के भक्तों में भी प्रचुर उत्साह था। महाप्रभ स्वयं भी संन्यास-धर्म के नियमों का तत्परतापूर्वक पालन करना आवश्यक बताते थे। वैष्णव-भक्तों में नियम-पालन की परंपरा उनके कारण प्रतिहत न हो, ऐसा महाप्रभु का निर्धारित उद्देश्य था।

उस बार उत्कल-क्षेत्र का एक अत्यधिक रूपवान सुशील और प्रियदर्शन बालक प्रभु के पास प्रतिदिन अकस्मात् ही उपस्थित होने लग गया। उसके हृदय में प्रभु के के प्रति अगाध निष्ठा और श्रद्धा-भक्ति थी। प्रभु को वह अपने प्राणों से भी अधिक बढ़कर मानता था। महाप्रभु पर दृष्टि पड़ते ही वह उनकी चरण-वन्दना कर लेता। और उनके चरणों में घंटों बैठकर उनकी बातें चुपचाप सुनता रहता। उस बालक के प्रति महाप्रभु के प्रेम की भी कोई सीमा न थी।

दामोदर पंडित चैतन्य महाप्रभु का उस समय बड़े ही मुँहलगे पार्षद बन गये थे। आचार-निष्ठा और वैराग्यवान वैष्णव के रूप में दामोदर की प्रसिद्धि नीलाचल क्षेत्र में सर्वत्र व्याप्त थी। मगर यह भी सच है कि उस उत्कलवासी बालक का महाप्रभु के पास अधिक देर तक उपस्थित रहना, दामोदर पंडित को बहुत अधिक पसंद न था। वे मन-ही-मन उस बालक से ईर्ष्या करने लगे थे। उसे देखते ही वे जल-भुन जाते। कभी-कभी मौका मिलने पर बालक को कहते, "इस तरह बार-बार यहाँ क्यों आ जाया करते हो?" मगर बालक पर दामोदर पंडित के अनुशासन का कोई परिणाम लक्षित नहीं होता। प्रभु के प्रति उसकी असीम प्रीति उसे उनके पास वारंवार अनायास ही खींच ले आती है। वह दामोदर पंडित के आदेश-निर्देश पर कान ही नहीं देता। मगर बालक की ढिठाई की कथा दामोदर, महाप्रभु को कहें तो कब कहें और कैसे कहें?

दूसरे दिन वह उत्कलवासी प्रियदर्शन बालक यथा समय महाप्रभु के पास पुनः उपस्थित हुआ तो महाप्रभु उल्लास से आपा खो बैठे। उसे पास में बुलाया और प्रेमपूर्वक कुशल-क्षेम के अनेक प्रश्न पूछते रहे। बड़ी देर तक प्रभु के पास बैठकर वह बालक अकस्मात् वापस चला गया।

किन्तु इस दिन दामोदर के धीरज ने जवाब दे दिया। छोटे-से लड़के की शोखी तो देखिये कि महाप्रभु के साथ बात करने में सयाने को भी मात कर

रहा है ! जब वह बालक चला गया तो दामोदर पंडित महाप्रभु को उसके संबंध में कुछ निवेदन करने के लिए सरोष उपस्थित हुए। किन्तु 'प्रभो-प्रभो !' कहने के अतिरिक्त कोई अन्य शब्द उनके कंठ से नहीं निकला।

चैतन्य महाप्रभु ने कहा—"दामोदर क्या कहना चाहते हो ? ठीक से बोलो तो ! यदि कुछ बताओगे ही नहीं, तो मैं कैसे समझूँगा कि तुम्हारा अभीष्ट क्या है और क्यों इस तरह हैरान हो रहे हो !"

दामोदर ने कहा—"मैं भला क्या कहूँ, महाप्रभो ! यह तो सब जानते हैं कि आप स्वेच्छामय परमेश्वर हैं। जैसा जी चाहेगा, वैसा ही आचार-आचरण आप करेंगे। किन्तु स्वयं विचार करके आपको यह समझ लेना चाहिए कि इस छोटे बालक के साथ आपकी ऐसी गहन घनिष्ठता उचित और लोक सम्मत है अथवा नहीं। सभी लोग जानते हैं कि इसकी माता ब्राह्मण वंश की एक विधवा नारी है। केवल विधवा नारी ही नहीं, वह तरुणी, रूपसी और परम लावण्यमयी सुन्दरी है। संभव है कि बेचारी धर्मपरायणा, सती और सुचरिता भी हो। फिर भी युवती और रूपसी तो वह है ही। फिर आप भी तो परम सुन्दर तरुण पुरुष हैं। इन तमाम बातों का संबंध जोड़कर नीलाचल के लोग आपस में काना-फुसी करें, तो आश्चर्य क्या। आप स्वयं विचार कर देखें कि दुश्चक्र आपने अपनी असावधानता के चलते उपस्थित कर दिया है अथवा नहीं ?"

चैतन्य महाप्रभु के मुख से संतोष की उज्ज्वल हँसी खिलखिला उठी। दामोदर तो उन्हें प्राण से भी अधिक प्रिय हैं और दामोदर की राय का असम्मान करना, निश्चय ही संभव नहीं है। वह दिन-रात उन्हें चारों ओर से घेरकर सुरक्षित रखना चाहता है। दामोदर को अभीष्ट है कि महाप्रभु के चारों ओर उसने जो स्नेह का घेरा बना रखा है, उसमें कहीं छोटा-सा भी छिद्र न रहे ताकि उस छिद्र से होकर कोई अशुभ या असुख प्रभु पर आक्रमण करने का मौका ढूँढ़ ले। अपने इसी प्रेम के कारण दामोदर ने महाप्रभु को सावधान करने की हिम्मत दिखाई है। इसमें कोई अन्याय अथवा अयुक्ति की बात तो नहीं है !

निष्ठावान् कठोर तपस्वी दामोदर पंडित को चैतन्य महाप्रभु ने नया कर्त्तव्य-भार वहन करने का आदेश दिया। उन्होंने कहा—"नवद्वीप में मेरी माँ शची देवी और पत्नी विष्णुप्रिया निवास कर रही हैं। नवद्वीप ही में निवास कर रहे हैं हमारे असंख्य भक्तगण। उनलोगों की देखभाल करने के लिए तुम्हारे ही जैसा सावधान पुरुष चाहिए। अब तुम वहीं चले जाओ और अपनी सावधानता और सतर्कता का सदुपयोग करते हुए शेष जीवन को नवद्वीप में ही व्यतीत करने का निश्चय कर लो।

'चैतन्य चरितामृत' के रचियता ने दामोदर के प्रति महाप्रभु के उक्त कथन को निम्नलिखित पंक्तियों में अंकित कर रखा है—

तोमा सम निरपेक्ष नाहि मोर गणे
निरपेक्ष ना हले धर्म न जाय रक्षणे
आमा हेत जे ना हय, तोमा हेते हय
आमा के करिले दंड आन केवा हय
मातार गृहे रह चाहो मातार चरणे
तव आगे नाहि कार स्वच्छंदाचरणे

अर्थात् मेरे भक्तों में तुम्हारी तरह निरपेक्ष तो कोई अन्य व्यक्ति है नहीं। यह भी ठीक है कि विना निरपेक्ष हुए धर्म का रक्षण संभव नहीं होता। मुझसे जो न हुआ, तुमसे वह भी हो सकता है। तुम्हारे सिवा कोई ऐसा है भी नहीं, जो मुझे उचित-अनुचित का समय-समय पर निर्देश दे दिया करे। फिर भी अत्र आवश्यक है कि तुम मेरी माँ के ही पास चले जाओ। उन्हीं के घर में रहो और उन्हीं के चरणों में ध्यान लगाये रखो। तुम यदि ऐसा करने लगोगे तो संभव है कि किसी दूसरे व्यक्ति से कोई स्वच्छंद आचरण संभव ही नहीं हो पायेगा।"

महाप्रभु के मधुर सान्निध्य को छोड़कर दामोदर पंडित को दूसरे ही दिन नवद्वीप के लिए रवाना होना पड़ा। बीच-बीच में मौका मिलने पर प्रभु के चरणों के दर्शन के निमित्त वे कभी-कभी नीलाचल भी आ जाते हैं। लेकिन एक प्रकार से वे महाप्रभु के द्वारा उस घर के अभिभावक बना दिये गये हैं, जिस घर में महाप्रभु का जन्म हुआ था और जहाँ उनकी पूजनीया माता शची देवी और तरुणी भार्या विष्णुप्रिया निवास करती हैं। नवद्वीप में रहकर दामोदर पंडित का पिंड अनेक दुश्चिंताओं से छूट गया। प्रभु को सुरक्षित रखने के लिए, पता नहीं, उन्हें कितने लोगों से ईर्ष्या-द्वेष, समय-समय पर, हो जाया करता था। उस अनावश्यक व्यस्तता से भी वे सदा के लिए मुक्त हो गये।

महाप्रभु के एकनिष्ठ भक्त वाणीनाथ एक वार घोर विपत्ति में पड़ गये। वाणीनाथ के अन्य दो भाई थे—रामानंद और गोपीनाथ। गोपीनाथ राजा प्रताप रुद्र के उच्च पदाधिकारी थे। उन्हें पट्टनायक पद पर राजा ने नियुक्त कर रखा था। किंतु गोपीनाथ जितने ही विषयी पुरुष थे, उतने ही अधिक घमंडी और लापरवाह ! राज्य-कोष के राजस्व का दो लाख से अधिक जमा-पूँजी उन्होंने हड़प रखी थी। वार-वार के राजकीय तकाजे के बावजूद उक्त रकम गोपीनाथ वापस नहीं कर सके। इतना ही नहीं, उल्टे उन्होंने प्रतापरुद्र

के एक राजकुमार को भी जान-बूझकर अपमानित कर देने की गलती कर डाली। संयुक्त-परिवार के कारण गोपीनाथ के कुकृत्यों का परिणाम उनके दो भाइयों—रामानंद और वाणीनाथ को भोगने के लिए बाध्य किया जानेवाला था।

क्रुद्ध राजकुमार ने राजकीय आदेश जारी कर दिया कि गोपीनाथ को चांग चढ़ाकर मार डाला जाय। चांग चढ़ाने की पद्धति बड़ी क्रूर और विचित्र थी। मुजरिम के हाथ-पाँव बाँध दिये जाते थे और उसे एक ऊँची जगह पर बाँस के सहारे लटका दिया जाता था। नीचे रखी रहती थी–एक बड़ी-सी तेज विकराल तलवार। उस तलवार के ऊपर ही, ऊपर लटकाये गये मुजरिम को धक्का देकर गिरादिया जाता था। गोपीनाथ के वध की ऐसी ही तैयारी राजकुमार की आज्ञा से की जाने लगी। प्रकट रूप में इतना ही कहा गया कि चूंकि राजकोष की दो लाख रकम का मामला है, जिसे गोपीनाथ वापस अदा नहीं कर सका, अतः इस प्रकार का प्राणदंड ही न्यायोचित सजा है। गोपीनाथ के साथ-साथ उनके दो निरपराध भाइयों को भी गिरफ्तार कर लिया गया। इन्हीं में से एक थे—श्रीवाणीनाथ भी, जो महाप्रभु के प्रिय सेवक और एकनिष्ठ भक्त माने जाते थे।

पूरे नगर में यह समाचार बिजली की तरह फैल गया। महाप्रभु के भक्तों ने हाथ जोड़कर महाप्रभु से प्रार्थना की—"प्रभो, वाणीनाथ का संपूर्ण परिवार आपका अनुगत और आश्रित है। ऐसी स्थिति में यदि राजाज्ञा के अनुसार उस परिवार के निरपराध लोगों को चांग चढ़ाकर मार डाला जाता है, तो यह हमलोगों के लिए शोक और लज्या की बात है। समाचार तो यही है कि गोपीनाथ को चांग चढ़ाकर प्राणदंड देने की पूरी योजना तैयार हो चुकी है।"

महाप्रभु ने जब यह समाचार सुना, तो वे स्वभावतः चिंतित और क्रुद्ध हुऐ। किंतु उन्होंने इतना ही कहा—"इसका उपाय भला मैं क्या कर सकता हूँ? सच्ची बात तो यही है कि राज-कोष की रकम हड़प कर जो कोई कर्मचारी उसे वापस लौटा नहीं सकता, उसकी प्राण-रक्षा का कोई उपाय नहीं रह जाता। इसमें राजा को दोष भी नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उसने तो रकम की वसूली के लिए ही यह फैसला किया है। मैं राजा से कुछ कहूँ तो यह भी उचित नहीं होगा। मैं तो विषय-विरक्त संन्यासी हूँ—एक निरा भिखारी। मेरे हाथ में है भी क्या? मगर यदि तुमलोग गोपीनाथ की प्राण-रक्षा करना चाहते हो, तो सब मिलकर श्रीजगन्नाथ देव के चरणों में प्रार्थना करो। वे ही कुछ कर सकते हैं। मैं कुछ करूँ, यह संभव भी नहीं है।"

भक्तों की मंडली निराश और विह्वल होकर लौट गई। उधर राजा के अमात्य हरिचंदन महाशय ने राजा से मिलकर निवेदन किया—"महाराज,

गोपीनाथ ने अपराध तो किया है, किंतु चाहे वह जितना भी अपराध करे, आपका पुराना सेवक है—यह सभी लोग जानते हैं। मान लीजिए कि उसे चांग चढाकर मार ही डाला गया, तो उस उपाय से दो लाख की डूबी हुई रकम बरामद तो नहीं की जा सकेगी। इस निरर्थक वध से लाभ कुछ भी नहीं होगा मगर अपयश लग सकता है। यदि जीवित रहेगा तो संभव है कि गोपीनाथ किसी तरह से प्रबन्ध करके रकम वापस अदा कर दे। लेकिन मार डाले जाने पर तो यह भी संभव नहीं होगा। इसलिए मेरी तो राय यही है कि उसे चेतावनी देकर अभी प्राणदंड से बरी कर दिया जाय और रकम अदा करने की एक अवधि निर्धारित कर दी जाए। यदि उस अवधि में गोपीनाथ रकम अदा नहीं कर देता तो जो सजा तजवीज की गई है, वह सजा यदि दे-दी जायगी भी तो लोग राजा को अपयश नहीं देंगे।"

इसे महाप्रभु की अहेतुकी कृपा कहिये अथवा जगन्नाथ देव का दैवी हस्तक्षेप, राजा को अमात्य महाशय की उपर्युक्त सलाह जँच गई। उसने अभियुक्तों को प्राणदंड से बरी कर देने की आज्ञा तत्क्षण जारी कर दी और ऐसी व्यवस्था भी कर दी गई कि निश्चित अवधि के भीतर हड़पी गई रकम राज-कोष में धीरे-धीरे जमा कर दी जा सके।

दूसरे राजगुरु काशी मिश्र महाप्रभु चैतन्य के चरणों में नमस्कार निवेदित करने, अन्य दिनों की ही भाँति, यथासमय आ पहुँचे। उन्हें देखते ही महाप्रभु ने कहा—"देख रहे हो मिश्र, यहाँ के लोग मुझे किस तरह रह-रहकर तंग करते रहते हैं? लगता है कि ये लोग मुझे यहाँ रहने न देंगे। अब मैं पुरी के इस श्री-क्षेत्र को छोड़कर आलालनाथ चला जाऊँगा। वहीं से जगन्नाथ देव के मंदिर की चूड़ा देखकर संतोष कर लूँगा और वहीं एकांत में शान्तिपूर्वक भजन-कीर्त्तन करता रहूँगा। देखो न, लोग राजा के धन का, राजस्व का व्यक्तिगत तौर पर अपव्यय कर लेते हैं और जमा मारने की चालाकी में हमसे सहायता चाहते हैं। क्या इस तरह के वैषयिक प्रपंचों को मैं स्वस्ति देता रहूँ,—यह तो असह्य है।"

राजगुरु काशी मिश्र महाप्रभु को चिंतित और उदास देखकर व्याकुल हो गये। उन्होंने भौंचक होकर पूछा—"ऐसा क्या हो गया है, महाप्रभु! वह कौन मूर्ख है जो सांसारिक कार्यों में आपको घसीटना चाहता है और सांसारिक आकांक्षाओं की पूर्त्ति के लिए वैषयिक प्रपंचों की योजना लेकर आपको कष्ट देना चाहता है। ऐसे लोगों को तो आँख रहते अंधा ही मानना होगा। आपके सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए तो बड़े-बड़े महापुरुषों ने अपने सर्वस्व का त्याग बात-की-बात में कर दिया है। रामानंद राय, राज महेन्द्री के

शासन-कर्त्ता थे, किंतु आपके सान्निध्य के लोभ से उन्होंने वह राज-पद क्षण-मात्र में त्याग दिया। इसी तरह रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी बादशाह के ऊँचे ओहदेदार थे। किंतु आपकी कृपा प्राप्त करने के लिए दोनों ही पथ के भिखारी बन बैठे। इसी प्रकार राजकुलोत्पन्न रघुनाथ दास आपके सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए राज-पाट छोड़कर दर-दर के भिखारी बन गये हैं। इन तमाम बातों पर जिसकी निगाह नहीं पड़ी, उसे आँख रहते अंधा मानना ही पड़ेगा। मैं आपको आश्वासन देता हूँ महाप्रभो! कोई भी व्यक्ति अब सांसारिक वासना-कामना लेकर भूल से भी उपस्थित नहीं होगा। हाँ, वाणीनाथ पर बड़ी विपत्ति पड़ गई थी, उस विपत्ति के आवेग में कत्तर्व्याकर्त्तव्य का विवेक उन्होंने खो दिया था। संभवतः उसी को लेकर कुछ लोग आपके पास आ गये होंगे। लेकिन वह मामला भी तो अब सदा के लिए खत्म ही हो गया।"

महाप्रभु ने कहा—"नहीं मिश्र महाशय, जैसा आप समझते हैं, वैसा नहीं है। वह मामला अभी खत्म कहाँ हुआ है? मैंने तो यही सुना है कि वाणीनाथ को राजस्व की वह बाकी रकम किस्तों में चुकानी पड़ेगी और आप जानते ही हैं कि वाणीनाथ कैसा अपव्ययी, गैरजिम्मेदार और फाकीबाज आदमी है। वह कभी भी किस्तों में पूरी रकम चुका देगा—इसकी आशा नहीं की जा सकती है। ऐसी हालत में वादाखिलाफी की सजा से बचने के लिए वह फिर मेरे ही पास दोड़ा आयेगा और मेरे भक्तगण उसकी ओर से मुझे फिर सांसारिक प्रपंच में उतारना चाहेंगे। इस दुश्चक्र से बचने का एक ही रास्ता है कि मैं इस श्री-क्षेत्र का त्याग करके अन्यत्र चला जाऊँ। किंतु सच तो यही है कि जगन्नाथदेव को देखे बिना मैं रह नहीं सकता। ऐसी स्थिति में आलालनाथ जाकर रहना ही एकमात्र अवशिष्ट उपाय है। वहाँ से जगन्नाथदेव के विग्रह के दर्शन तो न होंगे, किन्तु उनके मंदिर के शिखर भाग को तो दूर से देखकर प्रतिदिन नमस्कार कर लेना संभव होगा ही।"

महाप्रभु की बातों से राजगुरु काशी मिश्र बड़े ही उदास हुए। उन्होंने अनेक अनुनय-विनय के वाक्यों के द्वारा महाप्रभु को श्री-क्षेत्र के त्याग के संकल्प से रोकना चाहा और चलते-चलते निवेदन किया—"महाप्रभो, मैं चेष्टा करूँगा कि वाणीनाथ का मामला तत्काल समाप्त हो जाय और उस प्रसंग में आपको कुछ कहने या करने की आवश्यकता न हो। मेरा यह भी विश्वास है कि अब कोई भी व्यक्ति सांसारिक वासना-कामना की समस्या लेकर आपके पास उपस्थित नहीं होने पावेगा।"

राजा प्रताप रुद्र प्रतिदिन मध्याह्न काल में स्वयं उपस्थित होकर राजगुरु

काशी मिश्र की चरण-वंदना कर जाया करते थे। यह उनकी दिन-चर्या का अनिवार्य अंश बन गया था। उस दिन भी वे उसी नियम का पालन करने राज-गुरु के आवास पर उपस्थित हुए। राजा को आशीर्वाद देकर, कुशल-क्षेम पूछने के पश्चात् राजगुरु काशी मिश्र ने अवसर पाकर धीर कंठ से निवेदन किया—"महाराज, आज ही मुझे पता चला है कि महाप्रभु चैतन्यदेव श्री-क्षेत्र का त्याग कर आलालनाथ जानेवाले हैं। गोपीनाथ को जो सजा दी गई थी उसकी माफी का सवाल उठाकर कुछ लोगों ने महाप्रभु से बीच-बचाव करने की प्रार्थना की थी। ऐसा करनेवालों ने सर्वस्व त्यागी संन्यासी महाप्रभु को वैषयिक प्रपंच में घसीटने का गुरुतर अपराध किया था। इस घटना से महाप्रभु अत्यंत खिन्न और रुष्ट हो गये हैं। उन्हें यह भी संदेह है कि फिर वे लोग राजस्व के बकाये की माफी का सवाल लेकर भी वाणीनाथ की ओर से महाप्रभु के पास पैरवी करने पहुँचेंगे—इस संभावना ने महाप्रभु को इतना आहत कर दिया है कि वे तत्काल श्री-क्षेत्र का त्याग कर अन्य स्थान जाने के लिए प्रस्तुत हो गये हैं।"

राजा प्रताप रुद्र ने राजगुरु की बात सुनी तो वे भौंचक हो उठे। उन्होंने कहा—"गुरुदेव, दो लाख की रकम कौन बड़ी चीज है। महाप्रभु के चरणों के दर्शन हमें प्रतिदिन प्राप्त हो जाते हैं, यह क्या साधारण सौभाग्य है। इस सौभाग्य को पाने के लिए यदि पूरी पृथ्वी का साम्राज्य त्यागना पड़े, तो मैं उसके लिए भी सहर्ष सहमत हो जाऊँगा। ऐसी स्थिति में गोगीनाथ को जो दो लाख की रकम राज-कोष में जमा करनी है, उससे उसको मुक्त कर दिया जाय यह मेरे लिए कोई बड़ी बात नहीं है।"

राजगुरु ने कहा—"महाराज, आपको दो लाख रुपये मिलने चाहिए वे आपको न मिले, तो इससे गोपीनाथ का भले ही लाभ हो, किन्तु राज-कोष को तो हानि होगी ही। महाप्रभु तो यही समझेंगे कि उनके कारण आपको यह घाटा उठाना पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में वे किसी भी तरह संतुष्ट और निश्चिंत नहीं हो सकते।"

राजगुरु की बात सुनकर राजा प्रताप रुद्र कुछ देर तक मौन रहे। फिर उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा—"गुरुदेव, आप स्वयं महाप्रभु के पास-जाकर कृपया मेरी ओर यह निवेदन कर दें कि गोपीनाथ के पिता और भाइयों को मैं प्राण से भी अधिक प्रिय मानता हूँ और वे हमारे परिजन ही की तरह हैं। गोपीनाथ ने जरूर अपराध किया है। किंतु राजा होने के नाते मुझे यह अधिकार तो है ही कि राज-कोष की जो रकम गोपीनाथ ने हड़प ली है, वह रकम मैं अपने

उक्त परिजनों को परवरिश की रकम के रूप में दे डालूँ। ऐसा कर देने से भी काम चल जायगा और महाप्रभु के पास गोपीनाथ के पैरवीकारगण वैषयिक समस्या को लेकर दुबारा उपस्थित होने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करेंगे।"

उसी समय राजा प्रताप रुद्र जब राज-दरबार में वापस जाकर उपस्थित हुए तो उन्होंने राजाज्ञा जारी कर गोपीनाथ को हड़पी गई पूरी रकम के लिए बिना शर्त्त माफी दे-दी। इतना ही नहीं, गोपीनाथ को पुनः पूर्व राजकीय पद पर नियुक्त भी कर दिया गया और उसके वेतन में भी वृद्धि कर दी गई ताकि उस अपव्ययी पुरुष को छल-प्रपंच करके राज-कोष के रुपयों को हड़पते रहने की आवश्यकता नहीं हुआ करे।

कहना न होगा कि इस घटना के बाद महाप्रभु के पास सांसारिक वासना-कामना लेकर फरियाद करनेवाले भक्तों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया।

महाप्रभु के प्रेम-धर्म की जिन भक्तों को दीक्षा प्राप्त हुई थी, हरिदास उनमें अन्यतम थे। प्रभु के वे अत्यंत प्रिय थे। नाम-गान और कीर्त्तन के प्रचारकों में भी वे अग्रगण्य माने जाते थे। किंतु अब उनका शरीर वृद्धावस्था के आक्रमण से दुर्बल और अवश हो चला है। वे अब भीड़ से बचने के लिए निरंतर एकान्तवास करना चाहते हैं। निभृत कुटी में बैठकर नित्य-प्रति एक लाख नाम जप कर लेने के बाद वे जगन्नाथ-मंदिर के द्वार पर जाकर प्रतिदिन महाप्रसाद ग्रहण करते हैं। किन्तु इधर कुछ दिनों से उम्र के तकाजे ने उन्हें इन दोनों ही संकल्पों की पूर्ति में बाधा पहुँचाना शुरू कर दिया है। कभी-कभी एक लाख नाम जप पूरा नहीं हो पाता। और कभी-कभी उस जप को पूरा करने में इतना अधिक समय व्यतीत हो जाता है कि वे महाप्रसाद बँटने के अवसर पर मंदिर के द्वार तक पहुँच नहीं पाते। वृद्ध शरीर की यह कठिनाई उन्हें उदास और विषण्ण बना दिया करती है।

महाप्रभु तक हरिदास के हृदय की वेदना न पहुँचे, यह संभव कैसे होता? सो, एक दिन महाप्रभु स्वयं ही हरिदास की कुटिया में अकस्मात् उपस्थित हुए और बोले—"हरिदास, जो देह तुम्हें सिद्धि के शिखर पर पहुँचा चुकी है, उस देह को जप-तप में लगातार जोते रखना तुम अबतक आवश्यक क्यों मानते हो? तुमने प्रभु के नाम की महिमा का प्रचार तो कर ही दिया है, अब जब बूढ़े हो गये हो, तो लाख-लाख नाम जपने की जरूरत नहीं रही। तुम मुझे केवल बतला दो कि तुम्हारे हृदय में कौन-सी अभिलाषा बची हुई है, जिसकी पूर्ति तुम मुझसे चाहते हो।"

हरिदास ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो, मेरे-जैसे अछूत-अपदार्थ को

आपने कहाँ से उठाकर कहाँ रख दिया। अब आपसे कुछ और मांगना क्या उचित है? किंतु जब आपकी आज्ञा हुई तो मेरे मन में एक इच्छा जग आई वह निवेदित कर देना, संभवतः, आवश्यक भी है।"

महाप्रभु ने कहा--"बोलो, बोलो, हरिदास शीघ्र बोलो। तुम्हारे प्रति मेरे लिए अदेय कुछ भी नहीं है। अपनी इच्छा मुझे शीघ्र बता ही दो।"

प्रभु के आश्वासन-वाक्य को सुनकर हरिदास थोड़ी देर तक मौन हो रहे और उनकी दोनों आँखों से अविरल अश्रु-धारा की वृष्टि होती रही। थोड़ी देर बाद धैर्य धारण कर उन्होंने भर्राये कंठ से कहा--"प्रभो, मुझे तो ऐसा लगता है कि आप बहुत शीघ्र ही अपनी लीला को समेट लेंगे और धरती आपके चरण-स्पर्श के सौभाग्य से सदा के लिए वंचित हो जायगी।"

हरिदास की बात सुनकर महाप्रभु नीरव मौन हो गये और उनकी दोनों आँखे मुँद गईं। जो भक्त वहाँ उपस्थित थे, वे सभी हरिदास की बात सुनकर जोर-जोर से रोने लगे। भक्त हरिदास की ओर नीरव विस्मय से विस्फारित आँखों की टकटकी बँध गई।

हरिदास कहते रहे--"प्रभो! कृपा करके मुझे आज यही भिक्षा दे दीजिए--मुझे इतना ही चाहिए कि आपकी लीला का संवरण जब होने जा रहा हो तो उसके पहले ही मेरे इस वृद्ध शरीर का निपात हो जाए। और कुछ मुझे नहीं चाहिए।"

महाप्रभु ने प्रशान्त कंठ से कहा--"हरिदास, हमारे कृष्ण बड़े कृपालु हैं। तुम्हारे-जैसे महान् भक्तों की जो आकांक्षा होगी, उसकी पूर्ति वे निश्चय ही कर देंगे।"

दूसरे दिन सबेरे ही महाप्रभु अपने भक्तों के साथ हरिदास के आँगन में आ पहुँचे। उनके आते ही उपस्थित वैष्णवों ने भगवान् के नाम-कीर्त्तन का तुमुल समारोह आयोजित कर दिया। कीर्त्तन की समाप्ति के बाद महाप्रभु ने हरिदास की प्रशंसा में अनेक वाक्य कहे। परमभक्त के गुण-कीर्त्तन में महाप्रभु उस दिन अत्यधिक उदार हो उठे थे।

समवेत भक्तों को यह समझने में कठिनाई नहीं हुई कि संभवतः महावैष्णव हरिदास की अंतिम वेला उपस्थित हो गई है। तभी महाप्रभु उनके सामने ही उनकी इस तरह प्रशंसा कर रहे हैं। इधर हरिदास का शरीर कीर्त्तन रस-के भावावेश से अवश हो रहा था। उन्होंने प्रभु से प्रार्थना की कि वे उनके सामने विद्यमान रहें ताकि उनके दोनों चरणों को वे अपने हृदय में आरोपित कर सकें और उनके भुवन-मोहन मुख-कमल को अपनी आँखों में स्थापित कर ध्यानस्थ

हो जायँ। उस समय हरिदास के कंठ से चैतन्य महाप्रभु का नाम लगातार उच्चरित हो रहा था। थोड़ी ही देर में अकस्मात् महाप्रेमिक हरिदास नित्य लीला-धाम में प्रवेश कर गये और उनके नश्वर शरीर को भक्तों ने सुगंधित फूलों की राशि से आच्छादित कर दिया। जयजयकार की ध्वनि से आकाश फटने लगा।

नृत्य और कीर्त्तन की आँधी में भगवान् के नाम की बाढ़ उफना कर धरती आकाश को आप्लावित करने लगी। महाप्रभु ने अपनी गोद में अपने प्रिय भक्त हरिदास के मृत शरीर को स्थापित कर लिया। थोड़ी देर बाद वे प्रेम के आवेश में नृत्य करने लगे। जिस किसी ने भी इस दृश्य को देखा, वे महाभक्त हरिदास के सौभाग्य पर चकित होते रहे। महाप्रभु की भक्तवत्सलता की कोई सीमा नहीं।

घड़ी भर में पुरी के समुद्र-तीर पर तीर्थ-यात्रियों और वैष्णवों की समुद्र-जैसी ही भीड़, देखते-देखते, एकत्र हो गई। एकत्र वैष्णवों के सामने ही महाप्रभु ने वहाँ हरिदास को समाधि दी। समाधि के इस महासमारोह के पश्चात्, महाप्रभु चुपचाप, अकेले, अपनी कुटिया में लौट आये। भक्त-शिरोमणि हरिदास के महाप्रयाण के प्रकाश-पथ की रंगीन छटा उस समय सांध्य-सूर्य बन कर धरती और आकाश को एक अद्भुत शान्त आह्लाद की नीरवता में शनैः शनैः मग्न करती जा रही थी।

भक्त हरिदास के नित्य-लीला-प्रवेश को अभिज्ञापित करने वाले महोत्सव के आयोजन का दिन भी यथा समय आ पहुँचा। महाप्रभु स्वयं खड़े हो गये भिक्षा के लिए दामन फैलाकर, मंदिर के सिंह-द्वार पर। पूरे क्षेत्र में इस अद्भुत घटना का समाचार, क्षण भर में, बिजली की तरह फैल गया। पुरी की श्रद्धालु जनता समुद्र की तरह महाप्रभु के दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी। जिसके पास जो कुछ देने योग्य था, वह, वही लेकर पहुँच गया। थोड़ी ही देर में भोज्य सामग्री का ढेर लग गया। महाप्रभु ने स्वयं जिस भंडारे का आयोजन किया था, उसमें किसी चीज की कमी क्यों होती। अन्नपूर्णा के उस अन्न-कूट में पुरी के समस्त निवासियों और प्रवासियों को निमन्त्रित कर दिया गया था। स्वादु अन्न का भोजन, उपस्थित साधुओं, वैष्णवों एवं यात्रियों ने जी-भर कर किया। उत्सव के अन्त में स्पष्ट हो गया कि महाप्रभु ने स्वयं ही कल्पवृक्ष बनकर, उस महोत्सव की प्रत्येक अपेक्षा की पूर्ति कर दी है। चैतन्य चरितामृत के रचयिता उस प्रसंग में महाप्रभु के निम्नलिखित वाक्यों को अंकित कर गये हैं—

"हरि दासेर विजयोत्सव जे कएल दर्शन
जेइ ताहा नृत्य कएल, जे कएल कीर्त्तन
ज तारे बालुका दिते करिल गमन
ताँर महोत्सवे जेइ करिल भोजन
अचिर हइबे ता सबार कृष्ण-प्राप्ति
हरिदास दर्शन ऐशे हय शक्ति।"

अर्थात् 'हरिदास के समाधि-प्रवेश के पश्चात् आयोजित समारोह को जिसने देखा, जिसने उसमें कीर्त्तन किया अथवा नृत्य किया, जिसने उनकी समाधि पर एक मुट्ठी बालू भी डाल दी, जिसने उस महोत्सव में भोजन किया, उसका कल्याण निश्चित है। देर-सबेर भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा उसपर होकर रहेगी। हरिदास के दर्शन का जिसे लाभ हुआ है, वह, उस भक्त की असीम शक्ति के प्रताप से निश्चय उद्धार पायेगा।

महाप्रभु ने जब उपस्थित भक्तों को संबोधित करना चाहा तो उनकी दोनों आँखों से अविरल अश्रु-धारा बह चली। वे कहने लगे—"यह भगवान् श्रीकृष्ण की ही असीम कृपा थी कि हरिदास—जैसे वैष्णव का सत्संग, मुझे, उन्होंने प्राप्त करा दिया। अब फिर उसी श्रीकृष्ण ने, मेरे उस सौभाग्य को वापस छीन भी लिया है। हरिदास अब स्वयं ही इस लोक से जाने की इच्छा प्रकट करने लग गये थे। यही कारण है कि मैं चेष्टा करके भी उन्हें रोक नहीं पाता। उनके इस महाप्रयाण की तुलना भीष्म के महाप्रयाण से ही की जा सकती है। जब तक स्वयं मृत्यु को चाहा न जाय, तब तक, मृत्यु चुपचाप खड़ी प्रतीक्षा करती रहे--यह साधारण बात नहीं। इस इच्छा-मृत्यु को ही मृत्युंजयत्व कहा जाता है। हरिदास की मृत्यु वैसी ही हुई।"

अब महाप्रभु के जीवन की लीला का अंतिम अध्याय आरंभ होनेवाला है। यह अध्याय जितना ही मधुर है, उतना ही करुण, उतना ही शान्त और उतना ही अद्भुत। इस अध्याय में महाप्रभु के महाभाव की उज्ज्वलता और लोकोत्तरता के लीला-रस का अथाह समुद्र उद्वेलित होता रहा, जिसे ठीक-ठीक पहचान पाना शायद ही किसी भाग्यवान महापुरुष के लिए भी, अब तक संभव हो सका।

जिस गृह में विरहिणी राधा के भाव से विभावित होकर वे दिन-रात व्यतीत करते रहे, उस एकांत गृह-प्रदेश को, अब, लोग गंभीरा के नाम से जानते हैं। महाप्रभु के अंतर में साथ-साथ चल रहा है--व्रजभूमि के युगल-मिलन का अनत उल्लास और असह्य वियोग की अनादि पीड़ा। कभी वे विरह

की वेदना से जर्जर और प्रज्वलित होकर उन्मत्त हो उठते हैं, तो कभी मिलन के आनंद से अधीर हो जाते हैं। मधुर संभोग के गोपान-रस से उनका एक-एक अवयव हिल्लोलित हो रहा है। वियोग की आग जितना ही अधिक धधकती है, मिलन का रस, उन्हें, उतना ही आह्लादित करता है। एक क्षण में मिलन और दूसरे ही क्षण में वियोग—चिर विरह-मिलन लीला का यह समुद्र-तरंग-न्याय उन्हें निरंतर उन्मथित कर रहा है। दिन के बाद दिन व्यतीत होते जा रहे हैं, जिनका एक-एक क्षण भगवान् श्रीकृष्ण के सुधा-रस से ओत-प्रोत है। गंभीरा की यह गंभीर लीला पूरे बारह वर्षों तक महाप्रभु चैतन्य को दिन-रात निमग्न किये रही।

इस लीला के दो ही प्रधान सहचरों की चर्चा चैतन्य महाप्रभु के भक्तों ने मुख्य रूप से की है। वे दोनों सहचर हैं--स्वरूप दामोदर और रामानन्द। स्वरूप दामोदर ब्रज-लीला-रस के अपूर्व अनुत्तर मर्मज्ञ साधक हैं। वे महाप्रभु के सर्वाधिक प्रिय पार्षद, एक प्रकार से, महाप्रभु के अपर विग्रह ही हैं। वे उनके (महाप्रभु के) अपने स्वरूप के ही अन्य प्रकारान्तर हैं। कृष्ण-लीला-तत्त्व के विचार की दृष्टि से रामानन्द को भी बेजोड़ ही मानना होगा। इस दृष्टि से वे भी महाप्रभु के अद्वितीय सहचर हैं। महाप्रभु जब वियोग-संतप्त अवस्था में सुध-बुध खोकर अपने आराध्य के साथ तन्मय हो जाते हैं, तो अपने इन दोनों पार्षद के गले से लिपट कर रोते हैं और उनके वक्षस्थल से वक्षस्थल लगाकर, वियोग की व्याकुलता का प्रकाशन करते हैं। महाप्रभु की इस विरह-दशा के ताप का शमन करनेवाले भी मुख्यत: ये ही दोनों भक्त हैं। स्वरूप के कंठ में अमृत है। उनके सांगीतिक स्वर से वसंत की कोयल की कूक मात हो जाती है। और राम राय श्रीकृष्ण की जितनी लीला-कथाओं को वारंवार कहते-दुहराते हैं, उतनी लीला-कथाओं से परिचय किसी और को नहीं है। बीच-बीच में महाप्रभु, अपने इन दो मित्रों की सहायता से ही, कभी-कभी, प्रकृतिस्थ हो उठते हैं, अन्यथा उनका समय प्राय: एक प्रकार की उन्मुग्ध बेहोशी की अवस्था में ही व्यतीत होता है।

प्रभु की इस दशा को राधा-तन्मयकारिणी-उन्माद-दशा के अतिरिक्त कोई अन्य दूसरा नाम देना संभव नहीं लगता। महाप्रभु के पूर्ववर्ती महाकवि विद्यापति और चंडीदास ने अपने काव्यों में एक ऐसे प्रेमोन्माद का वारंवार वर्णन किया है, जिसकी पकड़ में पड़कर राधा, कृष्ण बन जाती हैं और कृष्ण, राधा बन जाते हैं। उनके पहले जयदेव और विल्वमंगल ने भी राधा की वियोग-दशा का बड़ा ही अद्भुत वर्णन किया था और परस्पर तन्मयकारिणी युगल-लीला

के रस, रहस्य का भी अद्भुत गान किया था। किन्तु महाप्रभु की जो प्रेम-दशा पूरे बारह वर्ष तक, उन्हें गंभीरा में बेहोश किये रही, उसकी तुलना में उपर्युक्त सभी कवियों की कविताएँ अपर्याप्त हो जाती हैं। महाप्रभु जिस विरह-रस के उल्लास में तड़प रहे हैं, वह आठ सात्विक भावों के विकार से होकर आलोकित होती हैं। केवल कथा, कीर्त्तन और काव्य के शब्दों और अभिनयों में नहीं, जीवन के एक-एक कण और एक-एक क्षण में श्रीकृष्ण के विरह के स्वरूप को महाप्रभु ने प्रकाशित कर दिया है। महाप्रभु एक प्रकार से मर्त्य के आँगन में स्वर्ग के अमृत की वृष्टि बनकर आये हैं। यह अमृत-वृष्टि, इस दृष्टि से अपूर्व है कि उनके पहले धरती पर उसका अवतरण कभी नहीं हुआ था। महाप्रभु की कृपा अनन्त है। महाप्रभु की उस लीला के प्रत्यक्षदर्शी भक्त वासुघोष इस प्रसंग में स्वयं बता गये हैं—

यदि गौरांग ना ह'तो केमन हइत
केमने धरिताम दे
राधार महिमा प्रेम-रस सीमा
जगते जानात के
मधुर वृन्दा-विपिन माधुरी
प्रवेश - चातुरी-सार
बरज-युवती-भावेर भकति
शकति हइत कार

अर्थात् 'यदि गौरांग महाप्रभु का आगमन नहीं हुआ होता, तो परमेश्वर की कृपा सशरीर होकर प्रकट कैसे होती! तब किसमें सामर्थ्य थी कि रास-रासेश्वरी राधा की अप्रतिम महिमा को और भगवत्प्रेम की पराकाष्ठा को जगत् में अवतीर्ण किया जा सकता! वृन्दावन के माधुर्य का क्या कहना? लेकिन उसकी माधुरी में बड़ी चतुराई से प्रवेश करना पड़ता है। ब्रजभूमि की तरुणियों के प्रेमभाव में जो भगवद्-भक्ति की चरम-महिमा है, उसे प्रकट कर देने की शक्ति दूसरे किसी के लिए संभव न थी, यह महाप्रभु ने प्रमाणित कर दिया।"

ब्रजभूमि की रस-माधुरी की स्वच्छंद लीला, महाप्रभु के माध्यम से ही रूपायित हुई। एक तरफ है भगवान् श्रीकृष्ण की अतुलनीय मधुरता और दूसरी तरफ है राधा-रानी की विश्व विजयिनी प्रेम-लीला। प्रेम और माधुर्य का यह रसमय चंदन-पंक श्रीकृष्ण और राधा के तन-मन-प्राण के एक-एक कण में मिदा हुआ है। श्रीकृष्ण के प्रेम-रस के इस महाभाव की पराकाष्ठा का प्रत्यक्ष अनुभव करके उस काल के लाखों प्राणी कृतार्थ हुए।

गंभीरा-गृह के एकान्त प्रांगण में महाप्रभु दिन के बाद दिन और रात के बाद रात बिताकर ब्रजभूमि के लीला-रस का ही व्यापक विस्तार करते रहे। मर्म-विदारक आर्तता, क्रंदन और प्रेम-विकार के माध्यम से कृष्ण-विरह का काव्य ही बन गया, महाप्रभु का वह भावुक जीवन-काल। राधा-कृष्ण-प्रेम और युगल-भजन का आदर्श, शनैः शनैः, जन-समाज को महाप्रभु के माध्यम से ओत-प्रोत करने लग गया।

महाप्रभु के व्यक्तिगत जीवन में जो एक अहेतुकी व्याकुलता का भावोन्माद था, जो उन्हें निरंतर विरहिणी नारी की तरह रूलाता रहता था, उसका रहस्य क्या था? कहाँ थी उनकी वह मर्म-व्यथा, जो स्वयं श्रीकृष्ण के स्वत्व रस से निरंतर सिक्त थे, जो सदा सच्चिदानंद के समुद्र में ऊभ-चूभ हो रहे थे, उनके जीवन में किस अभाव और विच्छेद की यह व्यथा रह-रहकर अविरल अश्रु-धारा बन जाया करती थी? क्या उनकी यह व्यथा भाव-कल्पित थी या जन्मान्तरीण प्रेम-सूत्र की कोई विच्छिन्न आकुलता?

श्रीकृष्ण-रस के प्रति अबूझ पिपाशा से महाप्रभु के प्राण निरंतर आकुल-व्याकुल रहते थे। राधा-गोविन्द के मिलन-विरह और युगल-लीला के विचित्र अनूठेपन के माध्यम से ही उनके जीवन की सत्ता निःसृत होती थी। भक्त-कवि कृष्णदास कविराज ने उनकी इस स्थिति का वर्णन निम्नलिखित दो पंक्तियों में बड़ी ही दक्षता के साथ कर दिया है—

"यद्यपिह प्रभु कोटि समुद्र गंभीर
नाना भाव चंद्रोदय हयेन अस्थिर।"

इसमें संदेह नहीं कि महाप्रभु की गंभीरता करोड़ों समुद्रों की सम्मिलित गंभीरता से भी अधिक अपरंपार है। फिर भी, वह गंभीरता ज्वार के रूप में तरंग की तरह उछाल खाने लगती है, जब उसके अंतर में विभिन्न भावों के चंद्रोदय की छाया प्रतिबिम्बित हो उठती है। ये विभिन्न भाव भगवान् श्रीकृष्ण और राधा की युगल-लीला के ही जन्मान्तरीण अवबोधन-संस्कार हैं।

महाप्रभु के महाभाव का समुद्र चैतन्य महाप्रभु को रह-रहकर अधीर और बेसुध करता रहता है। मिलन और विप्रलंभ का उद्वेलन केवल श्रीकृष्ण-लीला के व्यक्तिगत आस्वाद की ही उपज नहीं है, इसे वे साधारण जन-समाज के अंतर में भी प्रेषित और उद्‌बुद्ध कर सकते हैं।

महाप्रभु के जो प्रिय आत्मस्वरूप हैं, वे निर्विशेष अथवा निर्गुण ही नहीं, किंवा ऐश्वर्यमय और मात्र सगुण नहीं। वे दोनों ही से विलक्षण रसस्वरूप हैं। रसस्वरूप माधुर्य को ही चैतन्य महाप्रभु ने अपने हृदय में स्थापित भी किया है

और अपनी व्यक्ति-सत्ता के द्वारा जगत् में प्रकट और आस्वाद्य बना देने की भी कृपा की है। इस साधना-मार्ग का चरम तत्त्व ही है, रस और माधुर्य। लेकिन लीला के अभाव में इस रस या माधुर्य का अनुभव संभव नहीं होता। फिर, वह लीला तबतक संभव नहीं होती, जब तक आश्रय और आलंबन का युगल और युगनद्ध अस्तित्व साथ-साथ विद्यमान न रहे। रस के आस्वादन के लिए अद्वैत को पर्याप्त नहीं माना जा सकता।

चैतन्य महाप्रभु के अनुयायीगण बताते हैं कि इस लीला-जनित भेद के कारण परम सत्ता के अद्वैत भाव में कोई व्याघात नहीं पहुँचता। उस प्रसंग में द्वैत और अद्वैत दोनों ही समान रूप से सत्य के रूप में अनुभूति का विषय बन जाते हैं। इसे वे भेदाभेद के नाम से अचिंतनीय और अनिर्वचनीय कहकर प्रतिपादित कर गये हैं।

चैतन्य महाप्रभु के जो कृष्ण हैं, वे धरती के ब्रज-मंडल से जुड़े हुए कोई सामान्य प्रेमी पुरुष नहीं, वे उस शाश्वत लोक के चिरंतन स्वामी हैं, जो नित्य-लीला, नित्य-आनंद, नित्य-माधुर्य और नित्य-ऐश्वर्य का नित्य-धाम है। उस धाम के अधिपति श्रीकृष्ण सच्चिदानंद-विग्रह हैं। उन्हें वे कहते हैं—'अनादिरा-दिर्गोविन्दः सर्वकारण कारणम्।' यही श्रीकृष्ण हैं हमारे चैतन्य महाप्रभु के आराध्य भी और निज स्वरूप भी। उनकी राधा भी वैसी ही हैं। वह भी श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं, उन्हीं की ह्लादिनी शक्ति की एक अविच्छेद्य छवि हैं। दो होकर भी स्वरूपतः श्री राधा और कृष्ण एक ही हैं। महाप्रभु द्वारा निरूपित इस तथ्य को कविराज गोस्वामी इस प्रकार कह गये हैं—

"राधा पूर्ण शक्ति, कृष्ण पूर्ण शक्तिमान
दुइ वस्तु भेद नाइ शास्त्र परमान
मृग मद तार गंध जे छे अविच्छेद
अग्नि ज्वालाते तै छे कभू नहे भेद
राधाकृष्ण अइछे सदा एकइ स्वरूप
लीला रस आस्वादिते धरे दुइ रूप।"

अर्थात् शक्ति की पूर्णता ही राधा हैं और शक्तिमान की पूर्णता हैं—श्रीकृष्ण। शक्ति और शक्तिमान् में भेद मानना आवश्यक नहीं। कम-से-कम शास्त्र ऐसा ही कहते हैं। कस्तूरी और कस्तूरी की सुगंधि में भेद होने पर भी, भेद मानना व्यर्थ है। ठीक इसी तरह अग्नि की दाहकता का, अग्नि से अंतर मानना अनावश्यक है। राधा और कृष्ण लीला-रस के आस्वाद के लिए दो होकर,

परस्पर को सुख दें, यह अलग बात है, किन्तु वे हैं—एक ही। जो द्वैता प्रतीत हो रही है, वह लीला को संभव बनाने के लिए स्वेच्छा-कल्पित है।

लोकोत्तर ब्रजभूमि में रसास्वादन की शाश्वत लीला नित्य और सनातन है। वहाँ कृष्ण और उनकी स्वरूप-शक्ति राधा के प्रेम और विरह की सतत प्रवहमान धारा निरंतर चलती रहती है। विरह के बाद मिलन का रस-भोग और मिलन के बाद विरह की व्याकुलता यदि न हो तो प्रेम का रस बासी पड़ जाय और उसकी तीव्रता व्याहत हो जाय। राधा की आँखों से बहनेवाली अश्रु-धारा को श्रीकृष्ण बार-बार पोंछ देते हैं, किन्तु चैतन्य महाप्रभु के रूप में कृष्ण के साथ तन्मयीभूत राधा के आँसू कभी सूखते या पूँछते नहीं, निरंतर बहते जाते हैं। यह लीला की धारा सनातन अनंत है, न उसका आरंभ है और न उसका अवसान। राधा के प्रेम से विभावित पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण चैतन्य के रूप में लीलामय विरह और मिलन के अजस्र माधुर्य हैं। कभी बेसुध होकर वे अपने स्वरूप के समुद्र में डूब जाते हैं और कभी तरंग की भाँति ऊपर उठकर तड़पने लगते हैं। उनके आध्यात्मिक जीवन-रस के समुद्र का तल-प्रान्त निरंतर निस्तरंग है—परम प्राप्ति की चिर प्रशान्ति का शान्त उल्लास है—उनका वह रसमय स्वरूप। किन्तु उस समुद्र के ऊपरी स्तर पर तरंगों के बाद तरंगें उठ रही हैं और उनके उच्छ्वास अनंत लोक के रूप में उद्भासित हो रहे हैं। राधा-गोविन्द के चिर मिलन-विरह-लीला-रस का यह रहस्य न तो शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित किया जा सकता है, न वचन के द्वारा वर्णित किया जा सकता है। अनुभव के अतिरिक्त उसका कोई अन्य प्रमाण नहीं है।

गंभीर आत्मानुभूति का यही रस महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य को गंभीरा के एकान्त क्षेत्र में बारह वर्षों तक बेसुध किये रहा। अनिर्वचनीय लीला के प्रेमोज्वल महाभाव के उस आस्वाद का पता अन्य किसी को भला कैसे चलता !

जो राधा ह्लादिनी शक्ति-स्वरूपा अनंत, अनादि रसानुभूति है, वह इतने दिनों तक जन-साधारण के लिए महाप्रभु की कृपा से, समय-समय पर, संवेदन-गम्य होकर भी अनुच्छिष्ट और अननुभूत ही रह गई, किन्तु अब वह अपनी पूरी आनंदात्मक सत्ता को महाप्रभु के महाजीवन में मूर्त करने लगी है। कृष्ण-विरह की मर्म-ज्वाला दिनानुदिन उनके माध्यम से उद्घाटित होकर अब शेष जीवन को भगवन्मुखी आह्लादकता में स्निग्ध करती जा रही है। निगूढ़ भक्ति-प्रेम की साधना के पुरोभाग में राधा को प्रतिष्ठित कर श्रीकृष्ण की शक्ति महाप्रभु को जीव-संवेद्य धरातल पर प्रतिष्ठित करने की लीला में रत है।

राधा हैं—कृष्ण की शक्ति और कृष्ण के प्रेम का स्वरूपाधार। इस राधा

को श्रीचैतन्य महाप्रभु साधना के शिखर पर स्थापित कर रहे हैं। इष्ट-विग्रह के रूप में राधा और कृष्ण की युगल-मूर्ति की आराधना वल्लभाचार्य जैसे परवर्ती आचार्यों ने चैतन्य महाप्रभु से प्रभावित होकर ही की होगी, क्योंकि उनके पहले रामानुज निम्बार्क, जामुन, मध्व प्रभृति आचार्यों ने राधा को यह महिमा, सम्भवतः नहीं दी थी।

बारह वर्षों की जो गंभीर स्वरूपानुभूति की आस्वाद-साधना महाप्रभु ने गंभीरा के एकान्त-क्षेत्र में की थी, उसका सांगोपांग वर्णन, किंवा विवेचन गौड़ीय संप्रदाय के किसी आचार्य भक्त, किंवा कवि के लिए संभव नहीं हुआ। किंतु इतना स्पष्ट है कि वह दिव्य अनुभूति महाप्रभु के भुवन-मोहन रूप-लावण्य के प्रकाश को अनेक रूपों में विभावित करता रहा। कभी-कभी उनके रोमांचित रोंगटों के तले के रोम-कूप में स्वेद की जगह रक्त-कण को उद्गत होते हुए, कुछ अंतरंग भक्तों ने देख लिया था। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि उनका तप्त कांचन गौर वर्ण शरीर शंख की तरह श्वेत वर्ण का हो जाता था और कभी सद्य प्रस्फुटित जवा-कुसुम के रक्त वर्ण का। ये तथ्य निश्चित रूप से बताते हैं कि महाप्रभु की भावानुभूति दैहिक धरातल को भेद कर अन्यंत गंभीर अनुभूति के क्षेत्र में निगूढ़ भाव से प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

सात्विक भाव में जिसे 'कम्प' कहा गया है, महाप्रभु के शरीर में उसका भी एक अद्भुत रूप, समय-समय पर, प्रकट होता था। उस अवस्था में उनका शरीर वात-कंपित वेत्र-लता की भाँति हिल्लोलित होने लगता था और तीव्र भावा-वेग में, वे, जब मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़ते थे, तो ठीक उसी तरह, जैसे आँधी के आघात से लता धरती पर गिर पड़ी हो। कभी-कभी उनके शरीर की गांठें खुलकर लंबी हो जाती थीं और उनका आकार अपेक्षाकृत अधिक दीर्घ और पुष्ट हो जाया करता था। और कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता था कि उनका शरीर सिकुड़ कर लघु-आकार ग्रहण करता जा रहा है और लगभग उसी आकार में परिणत हो गया है, जिस आकार में कछुवे को देखा जाता है।

महाप्रभु के शरीर के ये विविध लक्षण केवल गोपन एकान्त की दर्शक-सापेक्ष घटनाएँ न थीं। सहस्र-सहस्र दर्शनार्थियों ने इस अद्भुत दृश्य को खुली आँखों से देखा था। इस अद्भुत दृश्य को देखकर जन-समाज में चमत्कार की अनुश्रुतियों का प्रचलित होना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं माना जायगा, जितना यह तथ्य कि प्रभु के सात्विक भाव की इस लीला ने महाप्रभु के माध्यम से अगणित भक्तों को श्रीकृष्ण-भक्ति के रस के माधुर्य को सद्यः आस्वादित कराने का महद-नुष्ठान पूरा कर दिखाया।

चैतन्य महाप्रभु को लेकर धीरे-धीरे उनके अंतरंग पार्षदों का समाज संकट में पड़ गया। दिव्योन्माद की उनकी रस-महादशा अब कभी सामान्य मानवीय धरातल पर उन्हें उतरने ही नहीं देती। उनके निकट मुख्यतः रहते हैं--स्वरूप दामोदर और रामानंद राय। प्रभु जब विलाप करते हैं तब वे विलाप न करें, ऐसा संभव नहीं होता। महाप्रभु रोते रहें और उनके ये दोनों भक्त न रोवें, यह भी संभव नहीं है। फिर भी महाप्रभु को प्रबोध प्रदान करने और उनकी दैनंदिन परिचर्या में व्यस्त रहने का सौभाग्य मुख्यतः उन्हीं दोनों को प्राप्त है। महाप्रभु को वे कभी कृष्ण कर्णामृत के मधुर श्लोक गाकर सुनाते हैं, कभी विद्यापति और चंडीदास की पदावली सुनाते हैं और कभी गीत-गोविन्द की पंक्तियाँ। जैसे गीत को सुनकर सर्प के फण शिथिल पड़ जाते हैं और मृग की चौकड़ी गायब हो जाती है, उक्त कवियों की पंक्तियों के संगीत से मुग्ध होकर, महाप्रभु भी, उसी तरह नीरव और निश्चल हो जाया करते हैं। किंतु उस मुग्धता के समाप्त होते-होते फिर शुरू हो जाती है उनकी दीनता, आर्त्ति और अबूझ विरह की अश्रुवृष्टि। ऐसी स्थिति में भी प्रभु के निकट निरंतर बैठे रहना स्वरूप दामोदर और रामानंद के लिए ही संभव है।

एक रात निस्तब्ध निशीथ वेला में चैतन्य महाप्रभु बिछावन पर उठ बैठे हैं और बाहर सुनाई पड़ रही है, नाम-कीर्त्तन के मधुर कंठ-स्वर की परिचित ध्वनि। सहसा वह ध्वनि बंद हो जाती है। स्वरूप दामोदर और महाप्रभु के सेवक गोविन्द, महाप्रभु की कुटिया के बाहर दरवाजे पर रोज की तरह आज भी पहरा दे रहे थे। प्रभु को सहसा मौन होते जानकर, उन्हें, गंभीर संदेह ने आ घेरा। वे सोचने लगे--महाप्रभु अकस्मात्, इस तरह, चुप क्यों हो गये?

थोड़ी ही देर बाद देखा गया कि महाप्रभु प्रगाढ़ भावावेश की दशा में, अकस्मात्, कक्ष में चहल कदमी कर रहे हैं और एक-एक कर तीन फाटकों के कपाट स्वतः बंद हो गये हैं। आश्चर्य की बात यह थी कि उस समय महाप्रभु को शय्या पर पाया नहीं जा सका। यह आश्चर्य की ही बात थी। सारे दरवाजे बंद ही थे। गोविन्द और स्वरूप दामोदर उनके सामने सोये हुए थे। महाप्रभु वैसी स्थिति में कहाँ अन्तर्धान हो गये? तुरत चारों तरफ हल्ला पड़ गया। लोग मशाल ले-लेकर महाप्रभु की खोज में चारों तरफ दौड़ पड़े।

जगन्नाथ मंदिर के निकट जाकर देखा गया कि महाप्रभु मंदिर के सिंह-द्वार के पास खड़े हैं। थोड़ी देर बाद भक्तों ने ऐसा भी देखा कि वे अचेत होकर, हठात्, धरती पर लोट गये हैं। उनके शरीर की एक-एक गांठ ढीली हो गई है और आकृति बेतरह लंबी हो गई है। आँखों की पुतलियाँ ऊपर की तरफ

उलट कर स्थिर हो गई हैं और उनके मुख से लगातार झाग निकल रहा है। इस अवस्था को देखकर सबलोग रोते-रोते व्याकुल हो गये।

स्वरूप दामोदर ने महाप्रभु के कानों में श्रीकृष्ण-नाम का सस्वर उच्चारण करना आरंभ कर दिया। नाम-श्रवण के परिणामस्वरूप महाप्रभु का बाह्य-ज्ञान धीरे-धीरे वापस होने लगा। देह की स्वाभाविकता भी थोड़ी देर बाद लौट आई। प्रकृतिस्थ होते ही महाप्रभु ने जोर से 'हरि बोल, हरि बोल'—कहकर नृत्य आरंभ कर दिया। अब भक्तों की चिंता दूर हो गई।

महाप्रभु की आँखों के सामने लोकोत्तर वृन्दावन के सनातन-लीला-लोक के दृश्य निरंतर चल रहे हैं। राधा-गोविन्द की मधुर नित्य-लीला का अद्‌भुत रस उन्हें निरन्तर उन्मत्त किये रखता है। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि दिव्य भगवत्प्रेम की काम-दशा उन्हें मंदिर के दरवाजे पर ही मूर्च्छित दशा में अवश और बेसुध कर देती है। उस समय उनका संपूर्ण शरीर कुसुमांड की तरह श्वेत-धूलि से आच्छादित हो जाता है। उस दिन, संभवतः; गोवर्द्धन-पर्वत की स्मृति उनके मन में जग उठी थी। उनके हाव-भाव से ऐसा ही प्रतीत हो रहा था।

इस तरह के अनेक अद्‌भुत दृश्य उनकी व्यक्ति-सत्ता को रह-रहकर घेरते रहते हैं।

वह थी पूर्णिमा की एक उज्ज्वल रात्रि ! महाप्रभु चैतन्य अकेले उद्‌भ्रान्त होकर चारों ओर हाथ उठाये घूम रहे हैं। सामने लहरा रहा है ज्योत्स्ना-प्लावित समुद्र। श्याम समुद्र को उज्ज्वल चंद्र की ओर लपकते देखकर महाप्रभु भावोन्मत्त हो उठे। उन्हें ऐसा लगा कि शरद् की पूर्णिमा को देखकर ब्रजभूमि की यमुना ही विरह से काली पड़ गई है और दूर जंगल से राधा के प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण अपनी बाँसुरी की मधुर-ध्वनि से पूरी प्रकृति को उसके तटपर रास-मंडल में सम्मिलित होने के लिए पुकार रहे हैं। यह भाव इतना प्रगाढ़ हो उठा कि महाप्रभु की सुध-बुध जाती रही और वे समुद्र में कूद पड़े।

समुद्र की तरंग-राशि पर उनका शरीर शुष्क काठ की तरह ही निश्चेष्ट होकर तैरने लगा और तरंगों के झोंके उस विश्वमोहन दिव्य स्वरूप को उस तरफ बहाकर ले चले जिस तरफ कोणार्क का सूर्य-मंदिर विद्यमान है।

इधर महाप्रभु को ढूँढ़ने में भक्तों की मंडली इतस्ततः फिर रही थी। उन्हें हर जगह खोजा गया, पर कहीं उनका पता नहीं चला।

अन्ततः भक्तों की एक भीड़ समुद्र के तीर की राह पकड़ कर उनकी खोज में द्रुत गति से अग्रसर हुई। आखिर महाप्रभु समुद्र ही में तो कूदे थे। इसलिए

समुद्र के किनारे-किनारे चलकर उन्हें खोज लिया जायगा—यह भाव उस समय, उस भीड़ को किंचित् आश्वस्त अवश्य कर रहा था।

राह में एक धीवर से उक्त भक्त-मंडली की भेंट हुई। धीवर के कंधे पर था–मछली पकड़ने का जाल। वह मछुआ कभी हँसने लगता था, तो कभी नाचने लगता था और कभी-कभी जोर से श्रीकृष्ण का नाम पुकार कर जोर-जोर से रोने लग जाता था।

स्वरूप दामोदर ने उस मछुये को देखा तो उन्होंने अनुमान किया कि चैतन्य महाप्रभु के स्पर्श से ही इस मछूये की यह दशा हुई होगी। उसने निश्चय ही कहीं महाप्रभु चैतन्य को देखा है। सभी लोग उस मछुये के निकट गये और पूछा—"भैया, तुम इस प्रकार पागल की तरह क्यों कर रहे हो? तुम्हें क्या हो गया है?"

धीवर ने उत्तर दिया—"मैं कहूँ तो क्या कहूँ! समुद्र में जाल लेकर तो मैं मछली पकड़ने ही गया था। लेकिन जाल में फँस गया एक अद्भुत मनुष्य।

शाल-वृक्ष की तरह उसका शरीर सुडौल और लंबा था और उसका वर्ण था ठीक शंख की तरह सफेद। वह कभी तो बेहोश हो जाता था और कभी-कभी कृष्ण का नाम लेकर रोने-गाने लगता था। उसके शरीर को छूने के बाद से ही मैं इस उन्माद-दशा में अभिभूत हो गया हूँ।"

भक्तों को जैसे इस समाचार ने जान में जान ला दी। ठीक है, अब कोई भय नहीं। महाप्रभु कहीं निकट में ही मिल जायेंगे। शीघ्र ही उनके दर्शन का सौभाग्य हमें प्राप्त हो जायगा—इस आशा के आनन्द ने उन्हें प्रसन्न और गतिमान कर दिया।

स्वरूप ने जब प्रश्न किया तो महाप्रभु ने उत्तर दिया—"अरे मुझे यमुना की याद आ गइ थी और फिर वृन्दावन की। उसी याद में मैं डूब गया था। तुम जिसे समुद्र कहते हो, वह और है भी क्या? एक सांवली याद ही है श्रीकृष्ण के असीम प्रेम की। बहुत देर तक मैं बारी-बारी से कभी राधा और कभी कृष्ण होकर यमुना-तट के उस गोपनीय संभोग-रस का अनुभव प्राप्त करता रहा। किन्तु थोड़ी ही देर बाद मुझे तुमलोगों की पुकार ने वापस लौटा दिया। तुम-लोग मेरा नाम ले-लेकर रो जो रहे थे। तुम्हारी उपेक्षा करके मैं उस रस में कबतक डूबा रह सकता था?"

भगवत्सत्ता की इसी मधुरता के परम तत्त्व को चैतन्य महाप्रभु जीवन-भर संवेदित और प्रेषित करते रहे। साथ-ही-साथ अपने जीवन एवं साधना के लीला-माधुर्य को भी, समय-समय पर, प्रकट कर देना उनके द्वारा अनायास ही

संभव हो जाता था। किन्तु अब धरती के इस सौभग्य का अंत आ चला है। महाप्रभु संभवतः लीला-संवरण की भूमिका के निकट पहुँच चुके हैं।

स्वरूप के आनंद का अव्याहत अमृत-भोग उक्त बारह वर्षों के बाद अपनी अंतिम सीमा पर आकर ठहर गया है। १५३३ ई० सन् का वर्ष है। आषाढ़ का महीना आ गया है। दिन का तीसरा पहर शुरू हो चुका है। महाप्रभु सहसा एक दिव्य भावावेश में आविष्ट हो गये। आवेश की वह आँधी ही उन्हें जगन्नाथ देव के मंदिर में उड़ाकर ले गई। मंदिर के गर्भ-गृह की सीमा पर जो गरुड़-स्तंभ है, उसके ही पार्श्व में वे प्रतिदिन खड़े रहकर आरती के दृश्य देखा करते थे और दोनों हाथ जोड़कर वहीं से भाव-तन्मय अवस्था में पुरुषोत्तम के विग्रह की चिन्मय-रूप-सुधा का पान किया करते थे। इसी स्थिति में उनकी आँखों से बहनेवाले आँसुओं की धारा, उनके सर्वांग शरीर को ही धोकर संतुष्ट नहीं होती, मंदिर के प्रांगण को भी सिक्त कर दिया करती थी। किंतु आज वे गरुड़-स्तंभ के नीचे खड़े नहीं हुए। वे सीधे दारु-ब्रह्म की वेदी के पास दौड़े और लगा कि दारु ब्रह्म के विग्रह में बिना पैठे उन्हें संतोष न होगा।

भक्तगण विस्मयपूर्वक उनकी इस अद्भुत चेष्टा को देख रहे हैं। सहसा मंदिर के अन्तर्गृह का कपाट आप ही बन्द हो गया। सब बाहर रह गये। कपाट के भीतर रहे केवल महाप्रभु चैतन्य और जगन्नाथ की दारुमय त्रि-मूर्ति।

चैतन्य महाप्रभु के ध्यान धन——ईश्वरः परमः कृष्ण—दास—ब्रह्म के रूप में एकान्त पाकर मुस्कुरा उठे और महाप्रभु हुंकार भरकर उनकी ओर बड़े वेग से धावित हुए, ठीक उसी तरह जैसे समुद्र की ओर गंगा।

बाइस वर्ष पहले की बात है। उस दिन भी जगन्नाथ देव के दारु-विग्रह को देखकर महाप्रभु इसी तरह उन्मत्त हो उठे थे। और उस दिन भी उन्होंने पुरुषोत्तम के दारु-विग्रह को गोद में उठाने के प्रयास में ही सुध-बुध खो दी थी। प्रभु की नीलाचल-लीला का वह पहला दिन था। आज यह कौन-सा पर्व है? क्या अब महाप्रभु अनित्य लीला को छोड़कर, नित्य-लीला में प्रवेश करेंगे?

उस दिन महाप्रभु ने जगन्नाथ के दारु-विग्रह को गोद में उठाया था और आज जगन्नाथदेव के दारु-विग्रह ने महाप्रभु को गोद में उठा लिया है। इस आलिंगन—पाश से वापस लौटना संभव नहीं और उचित भी नहीं। क्षण-भर में एक अलौकिक घटना घटित हो गई। महाप्रभु दारु-ब्रह्म की छवि में ठीक उसी तरह अन्तर्हित हो गये जैसे गंभीर मेघ में बिजली की रेखा। मंदिर का कपाट फिर खुल गया। प्रभु के भक्त उन्हें खोजने वेदिका की ओर द्रुत-गति से दौड़ गये, पर महाप्रभु को खोजा नहीं जा सका। सहस्रों व्याकुल भक्तों का अनुसंधान

विफल हो गया। उत्कल-राज प्रताप रुद्रदेव भी तुरत उपस्थित हुए। उन्होंने भी महाप्रभु का संधान पाना चाहा। किंतु सारे प्रयत्न विफल हो गये। फिर किसी ने उस विश्वमोहन रस-मय सच्चिदानंद विग्रह को नहीं देखा, जिसे भारतवर्ष गौरांग महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य के नाम से अब तक पुकार रहा है।

सहस्र-सहस्र भक्तों की क्रन्दन-ध्वनि में समुद्र का गर्जन डूब गया। समुद्र और है भी क्या ? श्रीकृष्ण और राधा के नित्य-प्रेम, नित्य-लीला की ही सांवली याद ! भक्तों के हृदय में अब याद के अतिरिक्त कुछ और बचा भी नहीं।

धरती पर जो अनित्य लीला के रूप में नित्य सच्चिदानंद उतरा था, वह अपनी नित्यता में समाहित हो गया। फिर भी महाप्रभु की लीला को अनित्य कौन कह सकता है ? वह तो चिरंतन है, शाश्वत है। महाप्रभु के ही एक साधक भक्त ने ठीक ही कहा—

"अद्यापिह सेइ लीला करे गोरा राय
कोन-कोन भाग्यवान देखि वारे पाय"

सच ही तो महाप्रभु चैतन्यदेव की नित्य सनातन आनंद-लीला कभी समाप्त क्यों होगी ! वह जैसे आज से पाँच शताब्दी पहले होती थी, वैसे ही आज भी हो रही है, लेकिन उसे सभी देख नहीं पाते। जो देख पाते हैं, वे सच-मुच भाग्यवान हैं। या यों कहा जाय कि उसे देख लेना ही विश्व का सबसे बड़ा सौभाग्य है।

स्वामी अभेदानन्द

स्वामी अभेदानन्द—ये थे ठाकुर रामकृष्ण के अन्तरंग लीला-पार्षद, उनके तत्वों के धारक, बाहक तथा उनकी मंडली के अन्यतम नेता । अध्यात्म-शिल्पी श्रीरामकृष्ण के दिव्य हस्त-स्पर्श ने रूपान्तरित किया उन्हें एक नूतन मानव के रूप में जिससे भास्वर हो उठा उनका साधनामय जीवन त्याग, तपस्या, तितिक्षा, मनीषा, शास्त्रज्ञान और तपोज्वला बुद्धि की दीप्ति से । कालान्तर में प्राच्य और पाश्चात्य के शत-शत मुमुक्षु नर-नारी आलोकित हुए उनके इस आलोकमय जीवन से ।

गुरु रामकृष्ण की वाणी और वेदान्त के परमतत्व का प्रचार अभेदानन्द ने विस्मयकारी निष्ठा और कुशलता के साथ लगातार पचीस वर्षों की लम्बी अवधि तक किया । गुरु भ्राता विवेकानन्द ने अमेरिका और यूरोप के जन-मानस के सम्मुख हिन्दू-धर्म के शाश्वत रूप को प्रस्तुत करते हुए अद्वैत वेदान्त के तत्वों और आदर्शों के भावतरंगों की अवधारणा की । अभेदानन्द ने इस तरंग को अमेरिका के दिक्-दिगन्त में विखेरा और इस नव-निर्मित आन्दोलन को एक सुदृढ़ भित्ति पर खड़ा किया । इस प्रकार मातृभूमि भारतवर्ष और उसके धर्म की एक उज्ज्वल भावमूर्त्ति की उन्होंने सृष्टि की । अतः भारतवर्ष के धर्म और संस्कृति के इतिहास में इस प्रवर्तक और आचार्य अभेदानन्द को कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकाता ।

अभेदानन्द के पिता रसिकलाल चन्द्र प्रख्यात ओरियंटल सेमिनार के लब्ध-प्रतिष्ठ शिक्षक थे जिन्हें लोग सत्यवादी और विद्वान् समझकर श्रद्धा करते थे । माता नयनतारा के चरित्र में धर्म-भाव प्रचुर रूप से प्रबल था । कालीघाट के मन्दिर में वे बराबर पूजा के निमित्त जातीं और पूजा मध्य एक धार्मिक पुत्र हेतु भगवती से प्रार्थना करतीं । देवी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली; फलस्वरूप १८६६ ई० की दूसरी अक्टूबर को उनके गर्भ से एक प्रियदर्शी शिशु-रत्न की उत्पत्ति हुई । देवी की कृपा से प्राप्त इस बालक का नामकरण हुआ कालीप्रसाद ।

किशोरावस्था से ही कालीप्रसाद के जीवन में बुद्धिमत्ता और मेधा का विकास दिखलाई पड़ने लगा। परीक्षाओं में अपने वर्ग में वे प्रायः उत्तम स्थान पाते और पारितोषिक इत्यादि भी प्राप्त करते। अल्प समय में ही बंगला, संस्कृत और अँग्रेजी भाषाओं पर उनका अधिकार हो गया और उस जिज्ञासु तरुण ने अनेकानेक ग्रंथों का अध्ययन उसी समय कर लिया।

विल्सन रचित भारत के इतिहास में कालीप्रसाद ने आचार्य शंकर की कथा पढ़ी। शंकर अद्वैत वेदान्त के दिग्विजयी पंडित थे। इनकी कथा से प्रेरणा ग्रहणकर कालीप्रसाद के मन में बड़े होने पर इसी प्रकार के दुर्द्धर्ष पंडित और दार्शनिक बनने की उद्दीपना हुई। उनके अन्दर अध्यापन का उत्साह और अनुसंधान की भावना तो प्रबल थी ही। अतएव उसी वयस में इन्होंने स्टुआर्ट मिल, हेर्सेल, ग्यानो, लूईस ह्यामिल्टन प्रभृति की रचनाओं से परिचय प्राप्त कर लिया। इसके साथ-साथ कालिदास के रघुवंश, कुमार-संभव और शकुन्तला तथा भट्टिनाथ का भी अध्ययन किया। अर्थ न समझते हुए भी गुप्त रूप से गीता का अध्ययन करते थे और उसके तत्त्वों को आयत्त करने का प्रयास भी करते थे।

उस समय बंगाल में चतुर्दिक प्राणों का स्पन्दन परिलक्षित हो रहा था। जगह-जगह कलकत्ता के पार्कों में राजनीति, धर्म और संस्कार आन्दोलन के प्रवक्तागण घूम-घूमकर भाषणों द्वारा ज्वालामुखी उगल रहे थे और समाज के तरुण प्रमत्त हो उन्हें उन सभाओं में सहयोग दे रहे थे। सुयोग पाकर काली-प्रसाद भी किसी-किसी में जाकर उपस्थित होते और उनका तरुण चित्त नूतन स्वप्न और नूतन उद्दीपना से उच्छल हो उठता।

उस समय के प्रसिद्ध धर्मवक्ता शशधर तर्कचूड़ामणि अलवर्ट हाल में पातंजलि योगसूत्र और योगसाधना विषय पर भाषण दे रहे थे। उस भाषण को सुनकर कालीप्रसाद उत्साहित हो उठे और उन्होंने अपने जलपान का पैसा बचाकर पातंजलि दर्शन की एक प्रति खरीद ली परन्तु, इस अल्प वयस में इस कठिन दर्शन तत्त्व को समझने की क्षमता उसमें कहाँ थी? भावातुर और चिन्तित हो उसने शशधर तर्कचूड़ामणि से साक्षात्कार किया और कहा—'दयापूर्वक आप यदि इस पुस्तक के इन सूत्रों को मुझे समझा दें तभी मैं कृतार्थ हो सकता हूँ।' प्रसन्न हो तर्कचूड़ामणि ने उत्तर दिया—'बाबा, इस उम्र में तुम्हें योगसूत्र पढ़ने की इच्छा हुई है, यह जानकर मुझे अतीव प्रसन्नता हुई। समय मिलने पर मैं अवश्य तुम्हारी सहायता करूँगा परन्तु वक्तृता के कार्य में मैं सदा व्यस्त रहता हूँ, उस पर से इतने लोगों के साथ मेरा मिलना होता है। मेरे पास तो समय नहीं है।"

खिन्न होकर कालीप्रसाद लौटने लगे तो शशधर तर्कचूड़ामणि ने कहा—'बाबा, तुम एक काम करो। कालीवर वेदान्तवागीश के पास तुम जाओ और मेरा नाम लेकर उनसे कहो, वे निश्चय ही अपनी स्वीकृति दे देंगे।' कालीवर के पास जाने पर उन्होंने कहा—'तुम जैसे छोटे बालक के मन में इस प्रकार की भावना जगी, यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई परन्तु इस समय मैं पातंजलि दर्शन का बंगला अनुवाद कर रहा हूँ और मेरे पास समय का बहुत अभाव है। अतएव तुम एक कार्य करो। स्नान से पूर्व प्रतिदिन एक सेवक मेरे शरीर में थोड़ी देर तक तेल मालिश करता है, तुम प्रतिदिन उस समय मेरे समीप बैठो, थोड़े-थोड़े सूत्रों को मैं तुम्हें समझा दूँगा।' कालीप्रसाद इस पर सहमत हो गए। कुछ दिनों तक वे वेदान्तवागीश के घर आते-जाते रहे।

इसी बीच उन्होंने 'शिव संहिता' का पाठ किया। इस ग्रंथ में हठयोग, प्राणायाम और राजयोग की पद्धति का वर्णन है। इन सब को आयत्त करने के लिए कालीप्रसाद अत्यन्त व्यग्र हो उठे परन्तु, केवल ग्रंथ-ज्ञान से कोई काम नहीं हो सकता, इस प्रकार सभी ग्रंथ ज्यों के त्यों लिखे रह जायेंगे—सिद्ध गुरु के साहाय्य के अतिरिक्त योगसाधन संभव नहीं। योग्य गुरु कहाँ मिलेंगे ? कालीप्रसाद के अन्तर में यह प्रश्न उधेड़बुन कर रहा था और इस सम्बन्ध में उसने अनेक लोगों से जिज्ञासा भी की।

उसकी व्यग्रता को देखकर उसके एक सहपाठी ने कहा—'मैं एक सिद्ध पुरुष की कथा जानता हूँ। वे एक बहुत बड़े योगी हैं जो दक्षिणेश्वर की रानी रासमणि की कालीबाड़ी में निवास करते हैं। उनमें कोई पाखण्ड नहीं है। सुना है, शहर के गण्यमान्य लोगों का आवागमन उनके पास होता रहता है। वहाँ जाने पर तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी।' अतएव एक दिन कालीप्रसाद पैदल चलकर दक्षिणेश्वर में जा उपस्थित हुए। उस समय ठाकुर रामकृष्ण वहाँ नहीं थे, वे कलकत्ते में एक भक्त के घर गए थे। ठाकुर के एक तरुण भक्त शशि उस समय वहाँ उपस्थित थे। इसके पूर्व वह दो-चार बार ठाकुर के समीप आ चुका था। कालीप्रसाद को उत्साहित करते हुए कहा—'आओ, इस समय यहाँ पर माँ का प्रसाद पाने के लिए हमलोग प्रतीक्षा करें। परमहंस रात्रि में वापस आयेंगे, तब तुम उनके दर्शन करना और उनसे अपने अन्तःकरण की बातें खुलकर कहना।'

रात्रि में मेरा घर वापस जाना संभव नहीं होगा, परिणामस्वरूप माता-पिता चिन्तित होंगे। कालीप्रसाद यह सोचकर चिन्तामग्न हो गया परन्तु उसे साहस बँधाते हुए शशि ने कहा—'मेरा तो इस तरह अनेक बार यहाँ आकर कलकत्ता लौटना नहीं होता। घर पर सभी चिन्तित ही तो होंगे; दूसरा क्या

उपाय है, बोलो। साधुओं का दर्शन वांछनीय है, सो उनका दर्शन नहीं करके वापस लौटना ठीक नहीं होगा।' कालीप्रसाद ने प्रतीक्षा की। गंभीर रात्रि में परमहंसदेव वापस आए। गाड़ी से निकलकर वे अपने कमरे में आए और कुछ ही क्षणों में उन्होंने कालीप्रसाद को अपने समीप बुला लिया। भक्तिभाव से प्रणाम करते हुए काली प्रसाद सामने बिछी हुई एक चटाई पर बैठ गए और गौर-कान्तिमय तथा सौम्यदर्शन वाले उस महापुरुष की ओर निर्निमेष दृष्टि से निहारने लगे।

स्निग्ध स्वर में ठाकुर रामकृष्ण ने प्रश्न किया—'तुमने कहाँ तक अध्ययन किया है ?' कालीप्रसाद ने कहा—'जी, इंट्रेंस क्लास में पढ़ता हूँ।' 'क्या संस्कृत जानते हो ? कौन-कौन सा ग्रंथ पढ़ा है ?' 'रघुवंश, कुमारसंभव आदि काव्य और गीता, पातंजलि दर्शन तथा शिवसंहिता का अध्ययन किया है।' 'वाह, वाह' कहकर श्रीरामकृष्ण ने कालीप्रसाद को आशीर्वाद दिया और तत्पश्चात् उसे बुलाकर उत्तर दिशा के बरामदा पर एक निभृत स्थान में ले गए। वहाँ पर उन्होंने एक विशेष प्रकार की अलौकिक क्रिया सम्पन्न की। इस घटना का प्रामाणिक विवरण उत्तरकाल में स्वामी अभेदानन्द ने अपनी आत्म-कथा में इस प्रकार दिया है :—

मैं योगसाधना में उपविष्ट हुआ और परमहंसदेव ने मुझे जिह्वा निकालने के लिए आदेश दिया। जब मैंने अपनी जिह्वा को बाहर किया तब उन्होंने अपनी मध्यमांगुलि द्वारा उस पर एक बीजमंत्र लिखकर शक्ति का संचार किया तथा अपने दाहिने हाथ द्वारा मेरे वक्षस्थल की उर्ध्वदिशा में शक्ति का आकर्षण करके मुझे माँ काली का ध्यान करने को कहा। मैंने वैसा ही किया। गंभीर ध्यानावस्था में समाधिस्थ होकर मैं काष्ठवत् अवस्थित हो गया और एक अपूर्व आनन्द का अनुभव करने लगा। उस समय सभी सांसारिक विषय-वासनाएँ भुला गईं। इस भाव में मैं कबतक रहा, यह मुझे ज्ञात नहीं।

कुछ क्षणों के उपरान्त परमहंसदेव ने मेरे वक्षस्थल पर अपना हाथ रख मेरी कुंडलिनी शक्ति को अधोगामी कर उसे यथास्थान किया। तब मेरी बाह्य चेतना लौटी और सम्पूर्ण शरीर एक अपूर्व तथा निर्मल आनन्द स्रोत से परिपूर्ण हो गया। मेरी उस अवस्था को देखकर रामलाल दादा और गोपाल माँ ने मुझ से कहा था—'क्या ही आश्चर्य ! तुम्हें स्पर्श करते ही तुम काष्ठवत् ध्यान मग्न हो गए थे।' जो हो, उस गंभीर ध्यानावस्था में मैंने कैसा अनुभव किया, इस संबंध में परमहंसदेव द्वारा जिज्ञासा किए जाने पर मैंने सभी बातें उनसे बता दीं। मेरी बातों को सुनकर वे आनन्द से हँसने लगे।

तदुपरान्त उन्होंने जिज्ञासा की—'क्या तुम्हारी इच्छा विवाह करने की है?' मैंने उत्तर दिया—'नहीं।' तब परमहंसदेव ने कहा—'तुम विवाह मत करो।' तत्पश्चात् ध्यान करने की पद्धति के संबंध में शिक्षा देते हुए उन्होंने मुझ से कहा—

"शुचि अशुचि ले दिव्य घर में कब सोवोगे।
दोनों सपत्नियों में प्रेम होने पर ही श्यामा माँ को पा सकोगे।"

परवर्त्तीकाल में अभेदानन्द कहा करते थे—'ठाकुर के इन दोनों पदों का अर्थ उन दिनों समझ में नहीं आता था, बाद में मैंने उन्हें जाना। शुचि और अशुचि, अच्छा और बुरा इन दोनों का पृथक ज्ञान रहते हुए अभेद ज्ञान का स्फुरण नहीं हो सकता। मायातीत होकर सच्चिदानन्द ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान भी संभव नहीं है।'

इस प्रकार शक्ति-संचार करने के पश्चात् श्रीरामकृष्ण ने कहा :—'नित्य प्रति रात्रि में अपने विस्तर पर ध्यान करना, ध्यान से दर्शन होगा। वह सब यहाँ आकर मुझे बतला जाना। इस बार तुम स्वयं जाकर काली मंदिर में ध्यान लगाओ।' ध्यान शेष होने पर जब वह वापस आया तो ठाकुर ने स्नेह-पूर्वक उसे मिष्टान्न प्रसाद खाने को दिया।

इस बार कलकत्ता से भागकर आने की उसकी पारी थी। ठाकुर ने मृदु स्वर में कहा—'पुन: यहाँ आओ।' इसके साथ ही दक्षिणेश्वर आने के लिए रास्ता, आदि के सम्बन्ध में सभी बातें समझा दी।

सरल युवक कालीप्रसाद ने प्रश्न किया—'यदि भाड़े की व्यवस्था नहीं हो तो क्या करूँगा?' आश्वस्त करते हुए ठाकुर ने उत्तर दिया— 'जिसके कारण तुम यहाँ आ पाओगे उसी के द्वारा, यहाँ आने पर, तुम्हारे यातायात का भाड़ा भी प्रबन्ध कर दिया जाएगा।' उसी समय एक धनी भक्त ठाकुर के दर्शनार्थ दक्षिणेश्वर के मंदिर में आया। उनके वापस जाते समय ठाकुर ने कालीप्रसाद को उन्हीं के साथ गाड़ी से भेज दिया। तरुण भक्त कालीप्रसाद के मन में ठाकुर रामकृष्ण की वह स्नेहस्निग्ध मूर्ति और उनके सुधामय वचनों की स्मृति बार-बार कौंध रही थी। इस स्मृति के मधुर-रस से उसका सम्पूर्ण अस्तित्व ही रसप्लावित हो रहा था।

इधर कालीप्रसाद के माता-पिता चिन्तामग्न थे; सम्पूर्ण अहर्निश प्रतीक्षा में व्यतीत हो गया फिर भी बालक का कोई पता न चला। तब क्या वह गंगा में डूबकर मर गया अथवा दुर्घटनाग्रस्त हो गया? चतुर्दिक खोज करने के बावजूद पुत्र का कोई संधान न मिला। दूसरे दिन प्रभात वेला में

नयनतारा देवी को हठात् स्मरण हो आया कि कुछ दिन पूर्व कालीप्रसाद ने उससे पूछा था कि कलकत्ता से दक्षिणेश्वर की कालीबाड़ी कितनी दूर है ? धर्म के प्रति पुत्र की प्रबल अभिरुचि की कथा माता से छिपी नहीं थी। उसने अनुमान लगाया कि संभव है वह किसी के साथ दक्षिणेश्वर चला गया हो और किसी कारणवश वापस नहीं आ सका।

पत्नी-मुख से इस कथा को सुनकर रसिक चन्द्र दक्षिणेश्वर की ओर प्रस्थान कर गए। मंदिर में प्रविष्ट हो उन्होंने ठाकुर रामकृष्ण से इस सम्बन्ध में पूछताछ की। ठाकुर ने उत्तर दिया—'कल तो वह यहीं था। यहीं उसने भोजन किया और यहीं वह सोया भी था। आज एक-व्यक्ति के साथ उसे मैंने गाड़ी से कलकत्ता वापस भेज दिया है।' इस संवाद को सुनकर रसिकचन्द्र शांत हो गए परन्तु साथ ही साथ पुत्रके सम्बन्ध में उनके मन में एक और दुश्चिन्ता हो गई। दक्षिणेश्वर के इस पगले साधु के सन्निकट उसने आवागमन प्रारम्भ कर दिया है, ऐसा न हो कि कहीं अंत में घर-द्वार का ही त्याग कर दे। अनुनय के स्वर में उन्होंने ठाकुर से कहा—'कालीप्रसाद मेरा पुत्र है। जिसमें वह मनोयोगपूर्वक विद्याभ्यास करे एवं घर-गृहस्थी सँभाले, तज्जन्य आप दयापूर्वक उसे उपदेश दें।'

शीर्ष एवं गुरुत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में ठाकुर स्पष्ट कथा नहीं प्रकट करते। परिष्कृत भाषा में उत्तर देते हुए उन्होंने कहा—'आपके पुत्र में तेतर योगी का लक्षण है अतः योग-साधना के लिए उसका मन अधीर हो जाता है। ऐसी अवस्था में उसका विवाह-करना क्या श्रेयस्कर होगा ?' रसिकचन्द्र ने उत्तर दिया—'जैसी आपकी इच्छा। पिता-माता की सेवा ही परमधर्म है, क्या ऐसा नहीं है ?' 'हाँ, हाँ, ऐसा ही है' कहकर श्रीरामकृष्ण बार-बार अपना आह्लाद प्रकट करने लगे।

परवर्त्तीकाल में अभेदानन्द कहते थे—'पिता-माता की सेवा से उस समय ठाकुर ने जगत्पिता और जगन्माता की सेवा का तात्पर्य समझा था और इसीलिए उन्होंने उस समय अपना आह्लाद प्रकट किया था। परन्तु मेरे पिता उस समय यह बात नहीं समझ सके।'

प्रथम दर्शन के उपरान्त कालीप्रसाद का मन रामकृष्ण के चरणों में आवद्ध हो गया। घर में रहते हुए भी दिन-रात उन्हीं की कथा, उनके विपुल स्नेह और कृपा की कथा के सम्बन्ध में सोचा करते। आजकल उसका मन लिखने पढ़ने में कतई नहीं लगता तथा घर की-कोई भी वस्तु पूर्व की भाँति आकर्षक नहीं प्रतीत होती। अब वे श्रीरामकृष्ण के निर्देशानुसार प्रति रात्रि में बन्द

द्वार कक्ष में शय्या पर बैठ ध्यान करते। इस अवस्था में उन्हें अनेकों विचित्र और उद्दीपनामय अतीन्द्रिय दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता। परमहंस रामकृष्ण ने कालीप्रसाद के जीवन के मूल में एक प्रचण्ड गति प्रदान की और परिणाम-स्वरूप एक विराट् पाषाण पिण्ड से अपसारित और उन्मोचित हुई दिव्य रस की कलकल नादिनी निर्झरिणी। यह भावान्तर इनके माता-पिता की तीक्ष्ण दृष्टि से अलक्षित न रह सका और दोनों ने इन्हें दक्षिणेश्वर के उस ठाकुर के समीप पुनः जाने से वर्जित कर दिया। परन्तु कालीप्रसाद को अब अधिक रोक रखना संभव नहीं था। ठाकुर के दर्शनार्थ इनका एक-एक दिन अधीरता से व्यतीत होने लगा; किस प्रकार वे दक्षिणेश्वर के ठाकुर के चरणों की छाया में उपस्थित हो सकेंगे, यह सोच वे अधीर हो उठते।

यातायात का भाड़ा प्रायः ठाकुर ही समय-समय पर प्रबन्ध कर देते। विदा-बेला में स्नेहपूर्ण स्वरों में वे कहा करते,—'तुम्हारे यहाँ नहीं आने पर और तुम्हारे दर्शन नहीं होने से मेरे प्राण बहुत व्याकुल हो जाते हैं। प्रतिदिन तुम्हें देखने की इच्छा होती है।' मंत्रमुग्धवत् कालीप्रसाद उत्तर देते—'मैं भी तो प्रत्यह आपके दर्शनार्थ बेचैन हो उठता हूँ परन्तु, माता-पिता बिल्कुल निषेध करते हैं।' स्मित हास्य से ठाकुर उत्तर देते—'किसीको बताना नहीं, अत्यन्त गोपनीयता से यहाँ आया करो। यदि साथ में पैसा नहीं हो तो यहाँ से ले लिया करो।'

देवमानव ठाकुर की प्रेमघन मूर्त्ति और उनका मधुर-कंठस्वर कभी विस्मृत नहीं होता कालीप्रसाद द्वारा। अहा! यह कैसा अद्भुत प्रेम और स्नेह है उनका? इस प्रेम में स्वार्थ की बू तक नहीं। प्रेम करने का एकमात्र उद्देश्य है कालीप्रसाद के धर्मजीवन को गठितकर उसे मुक्ति के अमृतलोक में पहुँचाना। मर्त्य मानव मध्य यह वस्तु कहीं भी खोजने से प्राप्त नहीं होने को।

एक दिन कालीप्रसाद के पिता ने सम्पूर्ण दिन घर के द्वार में तालाबंद रखा इस आशामें कि पुत्र इससे बाहर नहीं जा सकेगा। दिन ढल जाने पर अपराह्न में उन्होंने सोचा कि दिन समाप्त प्राय है अतएव आज इस असमय में कालीप्रसाद दूरस्थ दक्षिणेश्वर को अब न जा सकेगा। अतः उन्होंने द्वार को खोल दिया। सुयोग मिलते ही उन्मादावस्था में कालीप्रसाद अग्रसरित हुए राजपथ की ओर और दक्षिणेश्वर पहुँच प्रणिपात हुए ठाकुर के चरणों पर। उनका हृदय दिव्यानन्द से भरपूर हो रहा था।

ठाकुर रामकृष्ण ने तत्क्षण अपने नूतन भक्त की ओर स्मित हास्य से देखा और उस पर एक तीक्ष्ण दृष्टि डाली। तब प्रसन्न हो मधुर कंठ से कहा—

'ठीक है। इसी प्रकार करना। ईश्वर के लिए इसी प्रकार की तो व्याकुलता चाहिए। सुयोग पाते ही यहाँ उपस्थित होना और जो कुछ दर्शन हो, अनुभूति हो, उस सब के विषय में यहाँ आकर बता जाना।'

ध्यानावस्था में कालीप्रसाद प्रायः अनेकानेक दिव्यमूर्त्तियों का दर्शन करते थे। एक दिन देखा कि अनन्त आकाश में स्थिर-एक दिव्य-चक्षु विस्फारित हो रहा है। दूसरे दिन उन्होंने देखा कि उनकी आत्मा देहपिंजर से निकलकर एक मुक्त विहंग की भाँति महाशून्य में विचरण कर रही है। नीचे से उर्ध्व दिशा में उठकर उड़ते-उड़ते एक समय वह एक परम रम्य स्थान में आकर उपस्थित हुई जहाँ असंख्य देव-देवी, अवतार और सिद्ध पुरुष विराजमान् थे। इस कथा की जानकारी देने पर ठाकुर रामकृष्ण ने उनसे कहा—'तुम्हें वैकुण्ठ का दर्शन हुआ है।'

परमहंस श्रीरामकृष्ण सत्य-सिद्ध ब्रह्मरसिक थे। उनकी जीवनलीला में दिनानुदिन नाना रस और नाना भाव वैचित्र्य प्रकट हो रहे थे। तरुण कालीप्रसाद आकण्ठ उस सुधारस का पान कर रहे थे। जीवन-कथा में उन्होंने लिखा है—'कभी तो वे भावावेश में हँसते, कभी रोते, कभी नाचते और कभी-कभी समाधिस्थ हो जाते। वे कभी मधुर स्वर में रामप्रसाद, कमलाकान्त प्रभृति साधकगणों द्वारा रचित गानों को गाते-गाते विह्वल हो उठते। कभी-कभी वे राधाकृष्ण की वृन्दावन लीला का गान करते और कभी विद्यापति, चंडीदास प्रभृति वैष्णवों द्वारा रचित पदावली का गान करते। गाते-गाते भावोन्माद की अवस्था में वे नवीन शब्दों और मुहावरों का प्रयोग बीच-बीच में करते जाते। कभी-कभी परम वैष्णव तुलसीदासजी ने किस प्रकार सीता और राम की लीला का वर्णन किया है, उसी रूप में लीला का वर्णन करते-करते वे भावावेश के परमानन्द-सागर में निमज्जित हो जाते। इस प्रकार परमहंस के जीवन में सर्वधर्म-समन्वय की भावना प्रत्यह प्रतिफलित होती थी और वे सबको 'जितने मत उतने पथ' इस उदार सार्वभौमिक भाव का उपदेश देते। उन सभी उपदेशों को हृदयंगम कर मैं एक अपूर्व आनन्द में निमग्न हो जाता।'

ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता त्यों-त्यों न जाने ठाकुर की कितनी करुणा-लीलाएँ कालीप्रसाद के नेत्रों के समक्ष उद्घाटित होतीं। उस दिन श्रीरामकृष्ण ने रामदत्त महाशय के घर पदार्पण किया। अभ्यर्थना के पश्चात् ससम्भ्रम उन्हें बैठक खाने में बैठाया गया। चतुर्दिक एक बार दृक्पात करते हुए ठाकुर ने कहा—'कहाँ है, नरेन कहाँ है, उसे तो देखता ही नहीं।' रामदत्त ने कहा—'नरेन खूब अस्वस्थ है, अतः वह नहीं आ सका। सर में अत्यधिक पीड़ा है,

आँखें नहीं खुलतीं।' ठाकुर-अत्यन्त व्याकुल हो उठे। उनकी आज्ञा से तत्क्षण कालीप्रसाद-प्रभृति नरेन के घर आ उपस्थित हुए और उनसे कहा—'ठाकुर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं, शीघ्रातिशीघ्र तुम वहाँ चलो।'

नरेन उस समय एक भींगी गमछी सर में बाँधे नीचे के कमरे में सो रहे थे। वे बोले—'देखो मेरी अवस्था। कैसे जा सकूँगा? सर में असह्य पीड़ा हो रही है।' कालीप्रसाद प्रभृति सहयोगियों के दबाव से नरेन को अगत्या जाना पड़ा। मस्तक में एक भींगी गमछी बाँधे और अपने बान्धवों का हाथ पकड़ वे किसी प्रकार रामदत्त के भवन में उपस्थित हुए। नरेन को आया जान श्रीरामकृष्ण के आनन्द की सीमा न रही। अपने पास बुलाकर उनके मस्तक पर अपना हाथ सहालते हुए कहा—'क्या रे, तुम्हारे मस्तक में क्या हो गया है।' क्या ही आश्चर्य, मस्तक पर-ठाकुर के हाथ रखते ही आँखों की तीव्र वेदना दूर हो गई और स्वाभाविक ढंग से अपनी आँखों को उन्मीलित करने में वे अब सक्षम हो गए।

विस्मय के साथ नरेन ने कहा—'महाशय, आपने क्या किया, मेरे मस्तक की पीड़ा हठात् कहाँ चली गई!' उस समय ठाकुर मंद-मंद मुस्कुरा रहे थे। थोड़ी देर पश्चात् नरेन से कहा—'अब तुम गाना गाकर सुनाओ।' बस क्या था, नरेन आनन्द से उछल पड़े। तानपुरा पर मधुर स्वर से गाने लगे वे और उसके साथ ही रामकृष्ण निमज्जित हो गए ध्यान की गहराई में। परन्तु नरेन परमानन्द में एक के पश्चात् दूसरा गाना गाते रहे। इन्हें देखकर भला कौन कहेगा कि कुछ क्षण पूर्व ही ये शय्याग्रस्त हो तीव्र वेदना से छटपटा रहे थे?

नरेन के संगीत से श्रीरामकृष्ण के शरीर एवं मन में जाग उठी एक दिव्य भाव की प्रबल उद्दीपना। प्रत्यक्ष दर्शी तरुण-साधक कालीप्रसाद उस दिन की उस चमत्कार पूर्ण घटना का यों वर्णन कर रहे हैं—"पदकीर्तन सुनकर परमहंस के मुख पर अपूर्व ज्योति और प्रसन्न हास्य की रेखा विकीर्ण होने लगी। इसके बाद-जब 'नदी में गौर प्रेम की तरंगे नृत्य कर रहीं हैं' कहकर कीर्त्तन का प्रारम्भ हुआ तो परमहंसदेव उठ खड़े हुए और अपनी कमर में वस्त्र को लपेटते हुए मदोन्मत्त सिंह की भाँति उन्होंने नृत्य करना प्रारम्भ किया। उद्दाम नृत्य के साथ उनके मुख पर प्रसन्नता की हँसी भी प्रकट हो रही थी। इस दृश्य को देखकर श्रीचैतन्यदेव के नृत्य से वशीभूत हो उनके भक्तगणों की कथा स्मरण हो आती है। उनलोगों ने कहा था—'गोरा हमारा मदोन्मत्त मतंग है।' उस दिन एक मदोन्मत्त हाथी की भाँति रामकृष्ण को उद्दाम नृत्य करते देखकर मैं

आनन्द-विभोर हो गया था।"

नरेन प्रभृति तरुण भक्तों के प्रति ठाकुर का अहेतुक स्नेह और प्रेम, इष्टगोष्ठी और कीर्त्तनानन्द का कालीप्रसाद दिनानुदिन प्रत्यक्ष दर्शन करने लगे और उससे अभिभूत होने लगे।

गिरीशचन्द्र घोष जिस प्रकार प्रतिभावान् नट और नाट्यकार थे उसी प्रकार वे एक उद्दाम प्रकृति के पुरुष थे। कालीप्रसाद ने सुन रखा था कि इससे पूर्व गिरीश श्रीठाकुर को कोई महत्व नहीं प्रदान करते। नशे की अवस्था में उन्हें कई बार निंद्य भाषा में गालियाँ तक दे देते परन्तु वीतरागमय ठाकुर रामकृष्ण इससे किंचित् भी विचलित नहीं होते बल्कि अपने अन्तरंग भक्तों के समक्ष वे कहा करते—'नशे की अवस्था में वह इस प्रकार की असंगत वार्ता करता है। ठहरो साले, कबतक खाओगे।' ठाकुर के अगाध स्नेह और प्रेमाकर्षण ने अन्ततोगत्वा गिरीश को मृदु बनाया और उसे परिणत किया एकनिष्ठ भक्त के रूप में।

उस दिन दोपहर की बेला में कालीप्रसाद दक्षिणेश्वर गए थे। वहाँ पहुँचने पर उन्होंने देखा कि एक दूसरी गाड़ी से गिरीश घोष वहाँ उपस्थित हुए हैं। क्रन्दन करते हुए आर्त्त स्वर से उन्होंने कहा—'कृपापूर्वक ठाकुर हमारा उद्धार करें।' इसीबीच श्रीरामकृष्ण भावाविष्ट हो जाते हैं और माँ भवतारिणी के साथ प्रारम्भ होता है उनका अन्तरंग संलाप। ठाकुर मृदु स्वर में माँ से कहते हैं—'वीरभक्त गिरीश वह सब अब नहीं करेगा।'

क्रमशः ठाकुर का बाह्यज्ञान लौट आया। स्नेहपूर्ण स्वर में उन्होंने गिरीश से कहा—'माँ तुमसे वकालतनामा देने के लिए कह रही हैं। तुम वही करो। तुम मुझे वकालतनामा देकर भार मुझ पर सौंप दो। तुम्हें और कुछ नहीं करना पड़ेगा।' साश्रुनयन भक्त गिरीश ने वैसा ही किया, ठाकुर का अभय आश्रय ग्रहणकर उनके चरणों पर प्रणिपात किया। कालीप्रसाद ने दक्षिणेश्वर में इन सभी विस्मयकारी घटनाओं को अपनी आँखों से देखा और आप्राण अनुभव किया ठाकुर रामकृष्ण की कृपा और आध्यात्मिक माहात्म्य का। तरुणसाधक-कालीप्रसाद स्वभाव से ही खूब ध्यान परायण थे। गुरु श्रीरामकृष्ण की अहेतुकी कृपा और उनकी साधना सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म निर्देशों ने इनकी ध्यान-प्रवणता को उच्चतर सिद्धि की उपलब्धि की ओर परिचालित किया। उस समय की एक स्मरणीय अभिज्ञता सम्बन्धी तथ्य उनके आत्मचरित्र में हमलोगों को प्राप्त होता है। उन्होंने स्वयं लिखा है :—

"दक्षिणेश्वर में परहंसदेव अपने लघु कक्ष में आसीन हैं और मैं उनका पार्श्व-

वर्त्ती हो पदसेवा कर रहा हूँ। वे मेरे मुख की ओर देखकर कहने लगे— 'ब्रह्मज्ञान का सहज में लाभ किया जा सकता है।' मैं ने उत्तर दिया—'पातंजल-दर्शन में एक सूत्र है : तीव्र सम्वेगानामासन्न :—अर्थात् जिसके अन्दर में तीव्र संवेग (श्रद्धा, वीर्यादि) रहता है उसे शीघ्र समाधि होती है।' उन्होंने हँसते हुए मुझे आश्वासन दिया—'तुम्हें ब्रह्मज्ञान होगा।' तब उन्होंने अपने नाखून से मेरे कपाल पर जोर से चिकोटी काटकर कहा—इस स्थान पर मन को स्थिर करो। नांगटा (तोतापुरी) ने तो मेरे कपाल पर एक काँच-खंड को विद्ध करके उस बिन्दु पर मुझे अपना ध्यान स्थिर करने को कहा था। और वैसा करने पर मुझे तो निर्विकल्प समाधि लग गई थी। उस अवस्था में तो कोई बाह्यज्ञान अवशेष नहीं रहता। मैं भी अहर्निश तीन दिनों तक अविरल समाधि में स्थिर रहा। मेरी अवस्था देखकर नांगटा ने कहा था,—देवी की क्या माया है ! चालीस वर्षों की साधना के उपरान्त मुझे निर्विकल्प समाधि प्राप्त हुई, उसे तुमने तीन दिनों में ही सिद्ध कर लिया ?

तत्पश्चात् परमहंसदेव ने मुझे पंचवटी के नीचे आसनस्थ हो ध्यान करने का आदेश दिया। उस समय हरीश नाम का एक दूसरा सेवक वहाँ था। परमहंसदेव की सेवा का भार उसपर सौंप परमहंसदेव को प्रणाम किया और पंचवटी के नीचे ध्यान हेतु मैं उधर अग्रसर हुआ। वहाँ पहुँचकर अपने भ्रूमध्य में मैं ने मन को स्थिर करके ध्यान किया और ध्यान करते-करते बाह्यशून्य हो गया और कितनी देर मैं समाधिस्थ रहा इसका मुझे कोई ज्ञान नहीं रहा। उसके बाद शनैः-शनैः बाह्यज्ञान लौटने लगा, तत्पश्चात् उठकर मैं परमहंसदेव के समीप पहुँचा और उनके चरणों पर प्रणिपात किया। उन्होंने स्नेहपूर्वक मेरे मस्तक पर हाथ रख मुझे आशिर्वाद प्रदान किया।"

कालीप्रसाद स्वभावतः मननशील थे अतः उनके मन में अनेकानेक प्रश्न उठा करते थे जिनके उत्तर उन्हें श्रीरामकृष्ण के पास मिलते। वे नितान्त स्वजनता के भाव से, पिता और सखा रूप से, कालीप्रसाद को इस विषय में साहाय्य करते और उसके अन्दर जागृत करते ईश्वर सम्बन्धी नूतनतर-उद्दीपना। अपने इस नवीन भक्त-शिष्य को ब्रह्म, माया और वेदान्त सम्बन्धी तत्वों का निरूपण वे बड़ी प्रांजल भाषा में करते। अत्यन्त सहज भाव से कहते—"ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है। लेकिन निर्गुण ब्रह्म को तुम कैसे जान पाओगे। जिस प्रकार साँप स्थिर होकर कुंडली मारकर घूमता है और पुनः वही साँप जब वक्र गति से चलता है तब वह सगुण ब्रह्म कहलाता है। निर्गुण ब्रह्म तो अखंड और स्थिर समुद्र की भाँति है। उस में तरंग अथवा क्रिया नहीं है। वह

सुमेरुवत् अचल और अटल है। सुषुप्तावस्था में उसकी मायाशक्ति उसी में लीन रहती है और उस अवस्था में विश्व ब्रह्माण्ड, जीव, जगत् महाप्रलय में लीन रहते हैं। मायाशक्ति के जाग्रत होते ही उस सच्चिदानन्द – सागर में तरंगें उठती हैं। उस अवस्था को वेदान्त में सगुण ब्रह्म कहा जाता है। तब त्रिगुणात्मिका माया अथवा प्रकृति में गुण-क्षोभ होता है और उसी से प्रारम्भ होता है यह सृष्टि-कार्य। यही सगुण ब्रह्म 'अर्द्धनारीश्वर', 'हरगौरी' नामों से अभिहित है शास्त्रों में।"

कालीप्रसाद प्रभृति युवक भक्तों को उत्साहित करते हुए श्रीरामकृष्ण ने आगे कहा—"आँचल में अद्वैतज्ञान की गाँठ बाँधकर जो इच्छा हो सो करो।" अर्थात् आगे चलकर साधक को अद्वैतज्ञान का लाभ करना चाहिए। इससे सांसारिक जीवन में कर्मरत मानव अविद्या और अज्ञान के रहते हुए भी निष्कृति पाता है और समर्थ होता है मुक्ति-लाभ करने में।

एक दिन कालीप्रसाद ने ठाकुर से प्रश्न किया – 'जीव और ब्रह्म में क्या भेद है? उत्तर मिला – 'स्रोतस्विनी जल के ऊपर आरपार लाठी रखने से मन में भान होता है कि जल दो भागों में विभक्त हो गया है। ठीक उसी प्रकार अहं रूपी लाठी को धारण करने से जीव और ब्रह्म पृथक्-पृथक् मन में प्रतीत होते हैं परन्तु यथार्थ में उनमें कोई पार्थक्य नहीं है। ब्रह्मज्ञान होने पर सभी भेद स्वतः दूर हो जायेंगे।" पुनः आगे कहा – 'जो निराकार हैं, वे ही साकार बने हैं। ईश्वर का साकार रूप ही जाना जा सकता है। साधक जिस रूप की चिन्ता अथवा ध्यान करता है, उसे उसी रूप का दर्शन होता है। बाद में अखंड सच्चिदानन्द में वह मिल जाता है। उस अवस्था में साकार निराकार हो जाता है।"

सर्वधर्म-समन्वय का बीज-वपन भी ठाकुर ने इसी समय किया था कालीप्रसाद एवं अन्यान्य तरुण भक्तों के साधन-जीवन में। उनसे उन्होंने कहा था "जिन्होंने सर्व-धर्म के सिद्धान्तों का समन्वय किया है वे ही यथार्थ जीव हैं अन्य सभी नीरस और निस्तेज हैं। वेदों में जिन्हें 'ऊँ सच्चिदानन्द ब्रह्म' कहा गया है, तंत्रों में उन्हें ही 'ऊँ सच्चिदानन्द शिव' कहा जाता है तथा पुराणों में उन्हें ही 'ऊँ सच्चिदानन्द कृष्ण' कहा जाता है। जितने मत हैं उतने ही पथ भी हैं। उसे पाने के नाना मत और नाना पथ हैं परन्तु लक्ष्य तो एक ही है।"

वेद-वेदान्त के तत्व तथा सिद्ध साधकों द्वारा उपलब्ध सत्य को ठाकुर अपने भक्तों को अति सहज और सरलभाव से समझा देते जो उनके हृदय में चिर दिनों के लिए अंकित हो जाता। अभेदानन्द कहते हैं— 'बीच-बीच में श्रीठाकुर

जीवकोटि और ईश्वर कोटि के प्रसंगों को उठाकर उनकी आलोचना करते परन्तु उस समय मैं अथवा हमारे मध्य कोई भी उसका यथार्थ तात्पर्य नहीं समझ पाता था। मैं सोचता था कि सच्चिदानन्द ब्रह्म तो सभी में विराजमान् हैं अतएव कौन बड़ा और कौन छोटा, इस प्रकार की चिन्ता का कोई अर्थ नहीं होता। एक दिन मैं श्रीठाकुर की चरण-सेवा में लीन था, पास में अन्य कोई भी नहीं था। उन्हें एकाकी देखकर मैं ने उनसे जीवकोटि और ईश्वर कोटि के तत्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा की। प्रसन्न हो उन्होंने मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—'ब्रह्म तो सभी में विराजमान् है, यह सत्य है परन्तु सभी की शक्तियों के प्रकाश में तारतम्य है। इस प्रकाश की तारतम्यता से ही ईश्वर कोटि और जीव कोटि का पार्थक्य होता है। जीव कोटि के लोग तो अपनी ही मुक्ति पाते हैं, वे दूसरों को मुक्त अथवा उद्धार नहीं कर सकते। परन्तु जो अपना उद्धार करने के साथ-साथ अन्यों का भी उद्धार करते हैं, वे ही ईश्वर कोटि हैं। जीव कोटि और ईश्वर कोटि में यही भेद है। कोई-कोई पुनः इसी शक्ति को लेकर जन्म ग्रहण करते हैं।'

मैं ने प्रश्न किया 'क्या जीवकोटि इस शक्ति को नहीं पा सकता? जीवकोटि क्या कभी ईश्वरकोटि के स्तर तक उठ नहीं सकता?' श्री ठाकुर ने उत्तर दिया—'हाँ, उठ सकता है। जीवकोटि यदि जगन्माता के पास दूसरों के उद्धार के लिए शक्ति की प्रार्थना करेगा, तभी माँ उसे वह शक्ति प्रदान करेगी।' इस सम्बन्ध में उन्होंने एक दृष्टान्त भी दिया। उन्होंने कहा—'वन के मध्य में चतुर्दिक मिट्टी की दीवाल से आवृत एक स्थान है। कुछ लोग उसे देखकर आनन्द से हँसते और हा-हा करते हुए चले जाते हैं। यह हुआ जीवकोटि। परन्तु जिस में विशेष शक्ति है, वह उस दीवाल पर चढ़कर भीतर की वस्तु को देखकर लौट आता है और अन्यान्य साथियों को सूचित कर उन्हें वहाँ लिवा जाता है। यह हुआ ईश्वरकोटि।'[१]

१८८५ ई० के एप्रील महीने में एक दिन अकस्मात् विदित हुआ कि श्रीरामकृष्ण के गले में कैंसर की बीमारी हो गई है। इस सूचना से उनके शिष्यों, भक्तों और अनुरागियों के उद्वेग की सीमा न रही। कुछ दिनों के पश्चात् उनकी चिकित्सा की सुविधाका विचार कर उन्हें श्यामपुकुर के एक मकान में स्थानान्तरित किया गया। इसके अतिरिक्त इस स्थान पर देवी शारदामणि को इनकी सेवा-शुश्रूषा करने में सुगमता होती। इसी समय काली-प्रसाद चिरदिनों के लिए गृहत्याग कर श्री रामकृष्ण के चरणों के आश्रय में

१. मेरी आत्मकथा :—स्वामी अभेदानन्द

उपस्थित हो अपना प्राणोत्सर्ग किया उनकी सेवा और परिचर्या हेतु। नरेन भी ठाकुर की शय्या के पार्श्व में प्रायः सदा निवास करते। इस सम्बन्ध में भक्त लोग कभी कभी परिहास के स्वर में इन दोनों विशिष्ट सेवकों को सम्बोधन करते—'पर्सनल अटैची टू हिज होलिनेस् श्रीरामकृष्ण।'

इस समय कालीप्रसाद एवं अन्याय अन्तरंग भक्तों के समक्ष ठाकुर का दिव्य भाव एवं उनकी भगवत्ता दिनानुदिन देदीप्यमान हो रही थी। एक दिन एक ईसाई भद्रपुरुष ठाकुर रामकृष्ण के दर्शनार्थ आया। कथा प्रसंग में उसने ईशु की लीला और माहात्म्य का थोड़ा वर्णन किया। बस क्या था, इसके साथ ही जाग उठा श्रीरामकृष्ण की देह और मन में दिव्योन्माद, और बाह्य चेतना शून्य हो भावावेश की अवस्था में शय्या त्याग वे उठ खड़े हुए। उस समय उस ईसाई महापुरुष को श्रीरामकृष्ण का दर्शन अपने इष्टदेव ईसा मसीह के रूप में हुआ और अपने भक्ति स्वर से उन्होंने उनका स्तवन प्रारम्भ कर दिया। तत्पश्चात् उसने कहा—'आपलोगों ने इन्हें पहचाना नहीं। हमारे ईशु और ये अभिन्न हैं। आज यहाँ मैंने जिस रूप का दर्शन किया, प्रभु ईसा मसीह का भी वही रूप है। इससे पूर्व मैंने स्वप्न में इन दोनों के दर्शन किए थे। वर्तमान युग के ईसा मसीह तो ये ही हैं।' इस कथा को सुनकर रामकृष्ण के भक्त आनन्द और विस्मय से अभिभूत हो उठे।

उस दिन विजयकृष्ण गोस्वामी श्रीरामकृष्ण को देखने के लिए श्यामपुकुर आये थे, कालीप्रसाद उस समय ठाकुर के सन्निकट उपविष्ट थे। इस अवसर पर उन दोनों के बीच जो कथा-वार्त्ता हुई उस सम्बन्ध में परवर्त्ती काल में अभेदानन्द ने लिखा है—"विजयकृष्ण गोस्वामी ने परमहंसदेव से कहा कि मैंने आपको इसी स्थूल शरीर में ढ़ाका में देखा है। क्या आप वहाँ गए थे? हँसते हुए परमहंसदेव ने उत्तर दिया—आपने अपनी प्रबल भक्ति के कारण मुझे वहाँ देखा था। इतना कहकर परमहंसदेव भावाविष्ट हो गए और उन्होंने अपना दाहिना पैर विजयकृष्ण के वक्ष.स्थल पर रख दिया। वक्षःस्थल पर उनके पाद-पद्मों के पड़ते ही विजयकृष्ण भावातुर हो अश्रुजल से भींगने लगे। हम सभी अवाक् हो इस अपूर्व दृश्य को देखते रहे और विचार करते रहे कि यह तो एक देवलीला ही है।"

वह दिन कालीपूजा का था। भक्तलोगों ने ठाकुर के पूर्व निर्देशों के अनुरूप पूजोपचार संग्रह कर उन्हें कक्ष में रखा था। पूजा का निर्धारित लग्न उपस्थित होने पर ठाकुर ने आकर आसन ग्रहण किया और अपनी देह में विराजमान जगन्माता को लक्ष्य करके अपने ऊपर ही पुष्पांजलि को अर्पण

करने लगे। इसके साथ उनके हाथों में वराभय मुद्रा प्रकाशित होने लगी। उत्तराभिमुख बैठे हुए वे समाधिस्थ हो गए।

प्रधान शिष्य गिरीश घोष समीपस्थ ही बैठे थे। ठाकुर में इस भगवत्ता-भाव के उद्दीपन का दर्शन कर उन्होंने कहा—'आप हमलोगों के समक्ष जीवन्त माँ काली विराजमान हैं। आओ, आज हम सभी इसी की पूजा करें।' ठाकुर को प्रथम गिरीश ने ही पुष्प-चंदन और माल्यार्पण किया और ऐसा करते समय वे धन-धन जय माँ, का घोष करते रहे। उधर काली प्रसाद, निरंजन प्रभृत्ति भक्तगण आनन्द से विभोर हो रहे थे। सबों ने सोत्साह पुष्पांजलि दी और भक्ति भाव से प्रसाद ग्रहण किया। भक्तों के इस स्तवगान के झंकार से सम्पूर्ण कक्ष मुखरित हो उठा। परवर्तीकाल में ठाकुर के इस भगवत्ता भाव सम्बन्धी दृश्य का वर्णन करते हुए स्वामी अभेदानन्द कहा करते—'उस अपूर्व दृश्य को मैं इस जीवन में कभी भी भूल नहीं सकता।'

चिकित्सा द्वारा रामकृष्ण की दशा में कोई सुधार न देखकर डाक्टरों ने स्थान परिवर्तन का परामर्श दिया। काशीपुर आकर उद्यान युक्त एक पुरातन बंगला भाड़े पर लिया गया। अपने भक्त सुरेश मित्र को बुलाकर रामकृष्ण ने कहा—ये लोग प्रायः गरीब लिपिक हैं, अधिक रुपए देने की इनमें क्षमता नहीं है। अतएव मकान-भाड़ा तुम्हीं दो।' सुरेश मित्र तुरत राजी हो गए। तब उन्होंने बलराम बाबू से कहा—'ओहो! तुम मेरे खर्चों को वहन करो। मैं चन्दों पर आश्रित हो भोजन करना नहीं चाहता।' सोत्साह बलराम ने इस निर्देश को शिरोधार्य किया।

ठाकुर की सेवा और दर्शन हेतु अनेकानेक गृही-भक्तों ने वहाँ आना प्रारम्भ कर दिया। ठाकुर की सेवा और चिकित्सा का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उनके तरुण और त्यागी भक्तों ने अपने ऊपर लिया। एक दिन कालीप्रसाद एवं अन्य भक्तों को सम्बोधित करते हुए ठाकुर ने कहा—'देखो, मेरे गले का व्रण एक उपलक्ष्य मात्र है। इसके मिस तुम सभी यहाँ एकत्र हुए हो।'

इस प्रकार अपनी पीड़ा को उपलक्ष्य बनाकर ठाकुर ने उत्तरकालीन रामकृष्ण मंडली का बीज वपन किया। इतना ही नहीं, जिससे यह बीज अंकुरित और पुष्पित हो सके तन्निमित्त उन्होंने उसके परिवेश की भी रचना सरलतापूर्वक कर दी। नरेन्द्रनाथ उनके युवक-भक्तों के अग्रणी हुए और सबों ने उनके नेतृत्व को स्वीकार किया। उन्होंने ग्रहण किया श्रीरामकृष्णके सेवा-कार्य का भार। नरेन्द्रनाथ के जीवन को उस दिन ठाकुर ने एक सामान्य मंतव्य और अपनी इच्छा शक्ति के प्रयोग द्वारा प्रवाहित किया विधि-निर्दिष्ट मार्ग की ओर। यह काम उन्होंने बिल्कुल अलक्ष्य भाव से किया। नरेन्द्र रात-रातभर

जागकर श्रीरामकृष्ण की सेवा करने लगे और इसके साथ ही अवसर पाकर आनेवाली कानून की परीक्षाओं की तैयारी भी करने लगे।

कथा-प्रसंगमें उस दिन श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा—'देखो, यदि तुम वकील बने तो अब आगे से तुम्हारे हाथों का जल भी नहीं ग्रहण करूँगा।' उस दिन उस समय कालीप्रसाद भी वहाँ उपस्थित थे। इन्होंने देखा कि नरेन्द्र स्तब्ध हो थोड़ी देर चिन्तामग्न हो गए और तत्पश्चात् उसी समय नीचे के मंजिल में जाकर अपने कक्ष में रखी हुई कानून की-पुस्तकों को सहेजकर उन्होंने एक किनारे रख दिया और कहा—'अब कानून की परीक्षा नहीं दे सकूँगा।'

जिस कार्य से प्राणप्रिय ठाकुर उनके हाथ का जल भी ग्रहण नहीं करेंगे उस कार्य को वे क्योंकर करेंगे ? उस दिन नरेन्द्र, कालीप्रसाद, शरत् और निरंजन प्रभृति एक साथ उद्यान में घूम रहे थे। नरेन्द्र ने कहा—'ठाकुर ने अपने शरीर पर जिस कठिन व्याधि को ले रखा है उससे प्रतीत होता है कि संकल्प द्वारा ही वे देह-रक्षा कर रहे हैं। आओ, हमलोग सभी अपने प्राणों की बाजी लगाकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करें और इसके साथ ही चलता रहे हमारा जप-ध्यान और साधन-भजन।'

परवर्त्ती काल में इस समय के जीवन के सम्बन्ध में और विशेषकर नरेन्द्र के साथ अपनी-अन्तरंगता के विषय में वर्णन करते हुए अभेदानन्द लिखते हैं :— "रात्रि में हमलोग अपना-अपना कर्त्तव्य समाप्त कर पूर्व की भाँति जलती हुई धूनी के पार्श्व में बैठ ध्यान, वेदान्त विचार, गीता पाठ और शास्त्रालाप किया करते थे। तत्पश्चात् शंकराचार्य विरचित मोहमुद्गर और निर्वाणाष्टक के स्तोत्रों की आवृत्ति करते और उसके बाद उसके अर्थों का ध्यान लगाते। उस समय से मैं और शरत् (शारदानन्द) दोनों नरेन्द्रनाथ के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट होकर उसके सभी आदेशों का पालन करते एवं उसकी छाया की भाँति उसके साथ रहते। नरेन्द्रनाथ ने मेरा और शरद् का नाम क्रमशः 'केलूया' और 'भूलूया' रखा था। उसके बाद कभी अष्टावक्र संहिता और योगवाशिष्ठ का पाठ होता और कभी श्रीमद्भागवत के 'गोपी-गीत' की आवृत्ति होती। तब नरेन्द्र अपने मधुर कंठ से रामप्रसाद के गीतों का गान करते, ब्रह्मसंगीत और श्री ठाकुर जो भी गाना गाते उन सबको गाकर हमलोगों को मदोन्मत्त कर देते। इसके बाद कभी-कभी हमलोगग 'जय राधे' बोलकर संकीर्त्तन करते और मत्त होकर नृत्य भी करते।

नरेन्द्रनाथ मुझसे लगभग चार वर्ष बड़े थे। उस समय मैं नरेन्द्र को अपने ज्येष्ठ भ्राता तुल्य प्रेम करता और वे भी मुझे अपने अनुज तुल्य

प्यार प्रदान करते। उनके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं था जिन्हें मैं अपना इतना प्यार दे सकता। मैं उनका आज्ञानुवर्ती होकर सभी कार्यों का सम्पादन करता। आज्ञा होते ही मैं उनके पीछे-पीछे सर्वदा छाया की भाँति लगा रहता और जो वे करते मैं भी निर्विवाद रूप से वह कार्य करता। वे जिस कार्य का आदेश देते, अकुंठित हृदय से तत्क्षण उसे मैं करता।

नरेन्द्रनाथ और मैं ज्ञानमार्ग के 'नेति-नेति' का विचार करता कारण कि हम दोनों अद्वैत वेदान्त मत के एकनिष्ठ पक्षपाती थे। नरेन्द्रनाथ पाश्चात्य दर्शन और न्याय, विज्ञान प्रभृति शास्त्रों के ज्ञाता थे और उनके साथ इनका आलोड़न-विलोड़न करते-करते मेरी ज्ञान-पिपासा दिनानुदिन वर्धित होने लगी। इसके अतिरिक्त इन सभी विषयों में मैं उनका इतना अनुकरण करता कि वे जब भी ध्यान के लिए बैठते, मै भी ध्यान हेतु बैठता। वे जिस भाव और सुर मे मोह-मुद्गर, कौपीन पंचक, विवेक चूड़ामणि और अष्टावक्र संहिता प्रभृति का पाठ करते, मैं भी तदनुकुल पाठ करता। हमलोगों की साधना के मध्य एक ऐसा घनिष्ठ सम्पर्क था जो अटूट रहा दीर्घकाल तक।"१

तरुण भक्तों के बीच नरेन्द्रनाथ सर्वाधिक प्राणवन्त और स्वाभाविक नेतृत्व के अधिकारी थे। ब्रह्मवादियों के मत में जितने विचार हैं उसे वे पूरा नहीं मानते कारण कि वे अत्यन्त उदारपंथी थे। एक दिन इन्होंने कालीप्रसाद आदि लोगों से कहा—'चलो, तुमलोगों का कुसंस्कार मिटा दें। पिरु की दूकान में पकायी गई फाउलकरी खिला दें।' मित्रों ने हामी भरी। क्या ही चमत्कार, मुसलमान द्वारा तैयार भोजन नरेन्द्रनाथ बड़े उत्साह से पूरा प्लेट चट कर गए। काली प्रसाद, शरत् प्रभृति ने अपने कुसंस्कारों को दूर करने और घृणा को समाप्त करने हेतु नाम मात्र का आहार ग्रहण किया। इधर श्रीरामकृष्ण उनलोगों को बार-बार बुला रहे थे। सेवा हेतु उनकी शय्या के समीप पहुँचते ही काली प्रसाद से उन्होंने पूछा—'तुमलोग सभी कहाँ गए थे, बोलो तो?'

"विडन स्ट्रीट में पिरु के होटल में"

"कौन-कौन गए थे?"

"नरेन, शरत्, निरंजन और मैं।"

"वहाँ क्या खाया?"

"मुर्गी का शोरवा।"

"तुमलोगों को कैसा लगा?"

---

१. मेरी जीवन कथा—स्वामी अभेदानन्द

'जी, मुझे और शरत् को उतना अच्छा नहीं लगा। अतएव एक छोटा टुकड़ा मुख में देकर अपने कुसंस्कार को समाप्त किया।' श्रीरामकृष्ण ने उच्चस्वर में हँसते हुए कहा—'अच्छा किया, तुमलोगों के सभी कुसंस्कार दूर हो गए, चलो यह अच्छा हुआ।' ठाकुर ने क्रोध नहीं किया बल्कि इस अभियान की कथा को सुनकर अत्यन्त कौतुक का अनुभव किया, यह देख उसी समय काली प्रसाद की चिन्ता दूर हो गई।

नरेन्द्रनाथ के उत्साह स्वरूप काशीपुर के बगीचे के पोखरे में कई दिनों तक प्रचुर मछली पकड़ने का कार्यक्रम चलता रहा। ठाकुर की सेवा शुश्रूषा के अन्तराल में तरुण भक्तगण पुष्कर के किनारे हाथ में वंशी ले बैठ जाते। इस कार्य में कालीप्रसाद की क्षमता सर्वाधिक थी और उनकी वंशी में सर्वाधिक मछली भी फँसती थी। उस दिन ठाकुर ने कहा—'क्या रे, तुम वंशी के द्वारा खूब मछली पकड़ता है ?' विनीत स्वर में उत्तर दिया—'जी हाँ।' "वंशी द्वारा मछली फँसाना पाप है, कारण कि इससे जीव हत्या होती है।" काली प्रसाद ने तर्क दिया—'कैसे ? गीता में तो कहा है—य एनं वेत्ति हन्तारं, इत्यादि—कभी भी आत्मा न तो हन्ता है और न हत, ऐसी दशा में मछली पकड़ना पाप कैसे है ?' ठाकुर भी युक्ति देकर उसे कुछ क्षण तक समझाते रहे और तत्पश्चात् कहा—'देखो, ठीक-ठीक ज्ञान हो जाने पर फिर कभी गलत मार्ग में पाँव नहीं पड़ेंगे। साधकों को प्रारम्भ में अनेक भले-बुरे और पाप-पुण्यों का विचार करना पड़ता है।'

कुछ देर चुप रह उन्होंने पुनः कहा—'इन बालकों के बीच तुझे मैं एक बुद्धिमान् बालक के रूप में समझता हूँ। मैंने तुमसे जितनी बातें कहीं हैं उन्हें तुम स्मरण रखकर उन पर ध्यान करो, तुम्हें सब कुछ समझ में आ जाएगा।' तीन दिनों के मध्य ही ध्यानाविष्ट काली प्रसाद को ठाकुर के वक्तव्य की यथार्थता उपलब्ध हुई और ठाकुर के समीप पहुँचकर उसने उनसे कहा—'इस बार मैंने समझ लिया है कि मछली पकड़ना कितना अन्यायपूर्ण कार्य है। मुझसे अब यह कार्य नहीं होगा। मुझे आप क्षमा कर दें।' यह सुन श्रीरामकृष्ण के मुखमंडल पर प्रसन्नता की हास्य रेखा बिखर गई और धीर स्वर में उन्होंने कहा—'मछली पकड़ना तो विश्वासघात करना हुआ। खाने का लोभ देकर वंशी लुकाकर घात में रहना और अतिथि अथवा बान्धव को निमंत्रित करके भोज्य पदार्थ के भीतर विष मिश्रित करना, दोनों एक ही तरह के पाप हैं।'

तरुण साधक काली प्रसाद के मर्म को यह कथा स्पर्श कर गई, वे सजल नेत्रों से करुणाघन ठाकुर की मूर्त्ति की ओर देखते रहे। श्रीरामकृष्ण ने पुनः

कहा--"आत्मा न तो मरती है और न किसी को मारती ही है। यह ज्ञान जिसे होता है वही तो आत्मस्वरूप का ज्ञाता है। अतएव अन्य किसी की हत्या करने की प्रवृत्ति उसमें किस प्रकार होगी ? जिस क्षण उसमें हत्या करने की प्रवृत्ति होगी उस क्षण से तो उसमें आत्मज्ञान भी नष्ट हो जाएगा। तभी तो कहता हूँ कि ठीक-ठीक ज्ञान होने पर मनुष्य के पैर कुमार्ग में नहीं पड़ेंगे। आत्मा को देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के परे साक्षीस्वरूप समझो।"

इस वितर्कित विषय की चर्चा से कालीप्रसाद के सभी संशय इसी बीच दूर हो गए, आनन्दाभिभूत होकर वे बार-बार केवल ठाकुर की कृपा-कथा के विषय में विचार करने लगे।

कालीप्रसाद स्वाभाविक रूप से तीक्ष्ण बुद्धिवाले, मननशील और प्रतिभा-वान् व्यक्ति थे। नवीन ज्ञान-विज्ञान के तत्व सीखने के लिए उनके कौतूहल और औत्सुक्य की सीमा नहीं थी। ठाकुर की सेवा तथा ध्यान-जप से अवकाश मिलने पर प्रायः वे प्राच्य और पाश्चात्य विज्ञानों के ज्ञान-समृद्ध ग्रंथों का अध्य-यन करते। एक दिन सेवा कर्म से छुट्टी पाकर श्रीरामकृष्ण के समीप बैठ जान स्टुआर्ट मिल की एक पुस्तक पढ़ रहे थे। ठाकुर ने प्रश्न किया—'क्या रे, यह कौन सी पुस्तक है ?' 'जी अँग्रेजी का न्यायशास्त्र है।' 'इसमें कौन सी शिक्षा है ?' 'इसमें ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण सम्बन्धी तर्क, युक्ति और विचार की शिक्षा है।' "तुम तो यहाँ देखते हो कि लड़के पुस्तकें पढ़ने से कतराते हैं। तुम क्या जानते हो, पुस्तकें पढ़ने से कुछ भी विद्या नहीं आती। तुमलोगों को मारने के लिए एक नरेन्द्र ही पर्याप्त है। दूसरों को मारने के लिए ढ़ाल-तलवार प्रभृति अस्त्र शस्त्र की आवश्यकता होगी। लेकिन जिसे लोक-शिक्षा देनी है उसके लिए इन पुस्तकों का अध्ययन अनिवार्य है।"

इस वार्तालाप के पश्चात् रामकृष्ण बिल्कुल चुप हो गये। कालीप्रसाद के पुस्तक-अध्ययन-सम्बन्धी कथा को लेकर उन्होंने और कोई आलोचना नहीं की। वे तो अन्तर्यामी थे। वे जानते थे कि परवर्त्तीकाल में उनका यही नवीन शिष्य कालीप्रसाद, पृथ्वी की श्रेष्ठ सभ्यता के केन्द्रों में जाकर भारतीय धर्म और दर्शन का प्रचार तथा प्रसार करेगा। श्रेष्ठ मनीषी और धर्म नेताओं के सम्मुख यही खड़ा हो सकेगा। अतएव उन्होंने कालीप्रसाद को ग्रंथों के अध्ययन से वर्जित नहीं किया। उस समय भक्तों और शिष्यों के बीच धार्मिक मतवाद को लेकर प्रायः तर्क-वितर्क चला करते थे। कालीप्रसाद की प्रतिभा, युक्ति, तर्क और परिष्कृत बुद्धि सबों की दृष्टि अपनी ओर आकर्षित कर लेती। ये सभी संवाद ठाकुर के कानों तक पहुँच जाते। एक दिन तो कालीप्रसाद को

बुलाकर उन्होंने उसे बहुत कुछ उत्साहित करते हुए कहा - 'इन छोकड़ों के मध्य तुम्हीं बुद्धिमान् हो। नरेन को छोड़ देने के बाद तो तुम्हें ही बुद्धि है। नरेन जिस प्रकार अपना एक सिद्धान्त चला रहा है, तुम भी उसी प्रकार कर सकोगे।

एक दिन ठाकुर को प्रवीण भक्त बूढ़े गोपाल ने बतलाया :—'महाशय, काली कुछ भी नहीं मानता। वह बिल्कुल नास्तिक हो गया है।' सुनकर ठाकुर मंद-मंद मुस्कुराने लगे। एक दिन उन्होंने कालीप्रसाद से प्रश्न किया— 'क्या रे, तुम क्या नास्तिक हो गया है ?' कालीप्रसाद निरुत्तर थे। ठाकुर ने पुनः जिज्ञासा की—'क्या तुम ईश्वर को मानता है ?' संक्षिप्त उत्तर दिया—'नहीं।' 'अन्य किसी-साधु को यह बात बतलाने पर वह तुम्हारे गालों पर एक चपत जड़ देता।'

"आप भी मारें। ईश्वर हैं और वेद सत्य हैं, जबतक इस तथ्य को मैं ठीक नहीं समझता तबतक केवल अन्धविश्वास से मैं उसे कैसे मान लूँगा ? आप मुझे समझा दें, मेरे ज्ञान-चक्षु उन्मीलित कर दें और तभी मैं सबकुछ मानूँगा।" इस कथा को सुनकर प्रसन्नता की हँसी बिखर गई रामकृष्ण के आनन पर और सस्नेह वे बोल उठे—'एक दिन तुम सब कुछ जान लोगे और सब कुछ मानोगे। देखो, पहले नरेन भी कुछ नहीं मानता था परन्तु अभी तो वह राधे-राधे बोलकर कीर्त्तन तथा नृत्य करता है। उसके बाद अब तुम भी सब कुछ मानोगे।" 'आप मुझे सब कुछ समझा देंगे तभी तो।' 'समय आने पर तुम सब कुछ समझ जाओगे। एक बात मन में रखना--कभी भी नीरस हँसी मत हँसो। मुझे नीरस भाव पसन्द नहीं।'

आप्त काम साधक स्वामी अभेदानन्द परवर्त्ती काल में लिखते हैं :— "इसके कुछ समय उपरान्त श्री ठाकुर ने मेरे ज्ञान-चक्षु खोल दिए। तत्पश्चात् मैं साधना के रहस्य सम्बन्धी सभी कथाओं से अभिज्ञ हो सका और तब मैं सभी वस्तुओं को मानने लगा। श्री श्री ठाकुर की असीम कृपा का स्मरणकर आज भी मेरे दोनों चक्षु अश्रुपूरित हो जाते हैं।"

उन दिनों काशीपुर में कालीप्रसाद श्रीरामकृष्ण की पद-सेवा में एकजुट थे, उसी समय ठाकुर ने उनसे कहा—'अरे, तुम्हारे पिता कल आए थे, तुम्हारी माँ तुम्हारे लिए रोते-रोते प्राण देने पर तुली हैं। उनकी इच्छा है कि तुम घर जाकर उनके दर्शन कर आओ। मैं ने इस तरह का वचन दे दिया है; अतः तुम एक बार अपनी माँ के पास हो आओ।'

ठाकुर की आज्ञा को शिरोधार्य करके कालीप्रसाद अहीरों की टोली में स्थित अपने निवास पर उपस्थित हुए परन्तु वहाँ जाने पर प्रायः आधा घंटा समय व्यतीत होते-होते उनका मन वहाँ से ऊब गया, एक उच्चाटन की मनो-

दशा हो गई। काशीपुर में रोग-शय्या ग्रस्त श्रीरामकृष्ण के लिए मन व्याकुल हो गया, अतएव माता-पिता से विदा ले झटपट दौड़े हुए यहाँ आ गए। यहाँ पहुँचने पर ठाकुर की दृष्टि उन पर पड़ी और उन्होंने कहा—'क्या रे, तुम घर नहीं गए ?' कालीप्रसाद ने उत्तर दिया—'जी, मैं गया था।'

"माता-पिता ने अवश्य रहने के लिए कहा होगा, तब तुम रहे क्यों नहीं ?"

'मैं था तो।'

'कितनी घड़ी तुम वहाँ रहे ?'

'आधा घंटा मात्र।'

'कैसे इतनी शीघ्रता से तुम वापस आ गए ?'

'माता-पिता ने पूर्ण प्रयत्न किया, रुकने के लिए बहुत आग्रह किया परन्तु मुझे ऐसा भान हुआ कि मैं अग्निकुंड में रह रहा हूँ। मेरे प्राण छटपट करने लगे, अतः मुँह में एक मिठाई देकर दौड़कर पलायन करते हुए आया हूँ। यहाँ पहुँचने पर ही शान्ति मुझे मिली।" श्रीरामकृष्ण प्रसन्न हो स्नेहपूर्ण स्वर में बोल उठे—'यहाँ निश्चय शान्ति मिलेगी।'

ठाकुर के स्नेह और उनकी ममता के पीछे उनकी आत्मिक शान्ति और आनन्द का स्पर्श था। इसी स्पर्श ने कालीप्रसाद प्रभृति तरुण साधकों को रूपान्तरित किया था एक नूतन मानव रूप में। अतः उनके लिए संसार, जीवन और माता-पिता का स्नेह, ममता आदि वस्तुएँ तुच्छ और व्यर्थ मन में प्रतीत होती थीं।

पौष की संक्रान्ति प्रायः आसन्न थी। गंगासागर मेला जाने के लिए साधु-संन्यासियों की भीड़ कलकत्ते के जगन्नाथ घाट पर इकट्ठी हो रही थी। बूढ़े गोपाल की इच्छा साधुओं को एक-एक गेरुआ वस्त्र और एक-एक रुद्राक्ष की माला दान करने की थी। श्रीरामकृष्ण के कानों तक यह बात जा पहुँची तो बूढ़े गोपाल को बुलाकर उन्होंने कहा—'गंगासागर के इन यात्रियों को गैरिक दुकूल दान करने की अपेक्षा हजार-गुणा अधिक फल तुम्हें होंगे मेरे इन बच्चों को देने में। इनके सदृश त्यागी साधु तुम्हें अन्यत्र कहाँ प्राप्त होंगे ? इनमें से प्रत्येक बालक एक-एक-हजार साधु के समान है। ये सभी हजारी साधु हैं। क्या समझे ?" तब बूढ़े गोपाल की विचारधारा परिवर्तित हो गई और उन्होंने ठाकुर के त्यागी भक्तों को ही दानस्वरूप वे वस्त्र और मालाएँ दे दीं।

'परमहंसदेव के आदेशानुसार नरेन्द्र, कालीप्रसाद प्रभृति अनेकों साधक एक-एक गैरिक वस्त्र और एक-एक माला धारण कर उन्हें प्रणाम करने के निमित्त उनके समीप पहुँचे। एक नवीन संन्यासी के परिधान में इन सभी का दर्शन

कर परमहंसदेव आनन्द सागर में निमज्जित हो गए। वे सभी एक-एक कर परमहंसदेव को प्रणाम करने लगे और उन्हें वे 'तुम्हें इष्ट की प्राप्ति हो' ऐसा कहकर आशिष देने लगे। एक छोटी शीशी में यत्नपूर्वक रखे हुए किरण-वारि१ सबको घ्राण कराकर एवं उसका सिंचन करते हुए उन्होंने उन सभी को संन्यास आश्रम का अधिकारी बनाया। एक वस्त्र शेष बच गया, उसे गिरीश घोष के निमित्त रख दिया गया।'२

ठाकुर रामकृष्ण द्वारा आचारित यह प्रथा निःसन्देह दशनामी सम्प्रदायों के चिर आचरित संन्यास अथवा तांत्रिक या वैष्णवीय संन्यास-दान की प्रथा से स्वतंत्र थी फिर भी नरेन, राखाल, कालीप्रसाद आदि ग्यारह त्यागी भक्तों ने उस समय ठाकुर द्वारा प्रदत्त इसी संन्यास को मन और प्राण से ग्रहण किया और उसी समय से सादे वस्त्रों का परित्याग कर धारण किया संन्यासोचित गैरिक दूकूल।

काशीपुर के बगीचे में शय्याग्रस्त श्रीरामकृष्ण के सेवकों की संख्या दिनानुदिन जिस अनुपात में बढ़ रही थी उसी अनुपात में वर्धित हो रही थी उनके दर्शनार्थ अजस्र गृहस्थ भक्तों की संख्या। उनमें से अनेक इसी जगह अपना भोजन भी करते थे, परिणामस्वरूप व्यय-भार यथेष्ट बढ़ गया। प्रवीण गृहस्थ भक्तों के बीच कोई-कोई इस व्यय को कम करने की दिशा में अत्यन्त उत्साही थे। अतः उनलोगों ने प्रस्ताव रखा कि ठाकुर की सेवा हेतु स्थायी रूप से दो भक्त बगीचे में रहें और शेष सभी जिनके घर यहाँ पर हैं, जाकर भिक्षाटन करें।

इस कथा को सुनकर ठाकुर विरक्त हो गए और उन्होंने नरेन्द्र, कालीप्रसाद आदि को बुलाकर कहा—"मुझे अब यहाँ रहने की इच्छा नहीं है। इतना खर्च कहाँ से चलेगा? क्या इन्द्रनारायण जमीन्दार को बुलाकर नहीं ला सकते? नहीं, तुमलोग बड़ बाजार के मारवाड़ी भक्त को बुलाकर लेते आओ।

इसके बाद कुछ समयोपरान्त वह मारवाड़ी भक्त प्रचुर द्रव्य भेंट स्वरूप लेकर उनके समीप उपस्थित हुआ। कुछ क्षण तक रुपयों के थैले की ओर देख कर पुनः उन्होंने कहा—नहीं, नहीं तुम्हारे कांचन का मैं स्पर्श तक नहीं करूँगा।' भक्तलोग श्रीरामकृष्ण के स्पष्ट निर्देशों की प्रतीक्षा में उनकी ओर देखने लगे। उन्होंने तब कहा—'तुमलोग मुझे अब कहीं अन्यत्र ले चलो। क्या तुमलोगों को मेरे लिए भिक्षाटन करना होगा? तुमलोग मुझे जहाँ कहीं ले जाओगे, मैं वहीं जाऊँगा। अच्छा, तुमलोग किस प्रकार भिक्षाटन करोगे, देखा-देखी। भिक्षा का

---

१. सृष्टि के निर्माण का कारण स्वरूप मौलिक जल

२. स्वामी अभेदानन्द की जीवन-कथा

अन्न शुद्ध अन्न है। गृहस्थों का अन्न खाने की मेरी इच्छा नहीं है।'

एकस्वर से सभी भक्तों ने उत्तर दिया—'आपके लिए निश्चय ही हमलोग भिक्षाटन करेंगे।' दूसरे दिन प्रभात वेला में उन लड़कों ने माँ शारदामणि के निकट जाकर भिक्षा की प्रथम मुष्टि प्राप्त की और तत्पश्चात् भिक्षा हेतु वे सभी बाहर निकल पड़े गली-गली गृहस्थों के द्वार पर। इस क्रम में कोई उन्हें दो मुट्ठी अनाज देता, कोई ताना मारते हुए उन्हें मार भगाता। कोई-कोई महिला तीक्ष्ण स्वर में कहती "ये तोंदिल नवयुवक छोकड़े शारीरिक श्रम द्वारा उदरपूर्त्ति नहीं करते, केवल भिक्षा के लिए द्वार-द्वार भटकते हैं; यहाँ से तुम सभी दूर हो जाओ।"

त्याग और तितिक्षा के मार्ग पर, गृह-निष्क्रमण के उपरान्त, नवीन भक्तों की यह एक कठोर और वास्तविक अनुभूति थी। संगृहीत सम्पूर्ण भिक्षा-द्रव्य को ठाकुर के चरणों पर निवेदित कर उन में से सभी एक-एक कर उन्हें अपना प्रणाम निवेदित करता।

उस दिन शारदामणि ने भिक्षान्न से चावल का माँड़ ठाकुर के लिए तैयार किया। खाते-खाते ठाकुर ने कहा—'भिक्षान्न बहुव पवित्र है। इससे सुन्दर और दूसरी कोई कामना नहीं है। भिक्षान्न ग्रहण कर आज मैं ने परम आनन्द प्राप्त किया।' [अपने नश्वर शरीर के त्याग के पूर्व ठाकुर रामकृष्ण ने अपने त्यागी तरुण भक्तों को संन्यास वेश धारणोपरान्त भिक्षा-ग्रहण का कर्त्तव्य भी सिखलाया।

तरुण साधकगण प्रायः ही बुद्ध की जीवनी और उनके आदर्श के सम्बन्ध में आलोचना किया करते थे। एकबार नरेन्द्र, तारक और कालीप्रसाद ठाकुर को बिना सूचना दिए बोध गया के लिए प्रस्थान कर गए। उद्देश्य था बुद्ध के पुण्यमय साधनास्थली में बैठ कर थोड़ी तपस्या करना। इस स्थान पर ध्याना-सन पर बैठ कर नरेन्द्रनाथ को ज्योति का दर्शन हुआ तथा तारक और काली-प्रसाद को आन्तरिक दिव्यानन्द और शांति की अनुभूति हुई। इसके पश्चात् इन उत्साही तापसों के मन में अनुताप हुआ कि ठाकुर को इस प्रकार छोड़कर आना उचित नहीं हुआ। अतः और अधिक विलम्ब नहीं करके वे लोग काशीपुर लौट गए। इस बीच कई दिनों तक इनलोगों की अनुपस्थिति में ठाकुर इनके लिए उद्विग्न थे। इन लोगों के लौट आने पर तीर्थस्थान की तपस्या, मधुकरी वृत्ति आदि की कथा सुन वे अत्यन्त प्रसन्न हुए।

उस दिन विजयकृष्ण गोस्वामी ठाकुर रामकृष्ण के दर्शनार्थ आए थे। कथा-प्रसंग में उन्होंने कहा कि कुछ दिन पूर्व गया के बराबर पहाड़ पर एक

प्रसिद्ध हठयोगी का दर्शन वे करते थे। गोस्वामी जी उनकी कीर्त्ति का बखान करने लगे। कालीप्रसाद ने मन ही मन संकल्प किया कि एक बार इस हठयोगी का दर्शन करूँगा और संभव हुआ तो उनके पास कुछ साधना-प्रणाली भी सीख लूँगा।

एक दिन बिना किसी को सूचना दिए वे चुपचाप ट्रेन से गया के लिए प्रस्थान कर गए। वहाँ पहुँचकर बराबर पहाड़ के नीचे ग्राम में जो धर्मशाला है, उसी में रात्रि-विश्राम किया। उस समय उस धर्मशाला में पुरी के एक दशनामी संन्यासी रहते थे। कालीप्रसाद ने उनसे अपना परिचय किया। प्रसंग में ज्ञात हुआ कि उसके पास संन्यास-पद्धति एवं विरजाहोम सम्बन्धी एक छोटी पुस्तिका है। कालीप्रसाद को यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। तब बड़ी शीघ्रता से उन्होंने इस पुस्तक से प्रेषमंत्र, मठ, मढ़ी, योगपट्ट इत्यादि संन्यास मंत्रों को लिख लिया।

दूसरे दिन वे पहाड़ पर चढ़ने के लिए प्रस्थान कर गए उस हठयोगी की गुहा की ओर। आगे बढ़ने पर ग्रामीणों ने उन्हें सावधान कर दिया कि हठयोगी की ओर जाना निरापद नहीं है क्योंकि किसी को गुहा की ओर आते देख उसके शिष्यगण ऊपर से पत्थरों के चट्टान उड़ेल देते हैं। कोई भी उसकी साधना या उसके क्रिया-कलाप में विघ्न पहुँचाये, यह उन्हें अभीष्ट नहीं। गुहा के निकट पहुँचने पर कालीप्रसाद के ऊपर भी प्रस्तर-खंड बरसने लगे। उसी समय इन्होंने एक चातुरी की। दूर से ही हठयोगी एवं उनके शिष्यों को प्रणाम किया और कहा—'ॐ नमो नारायणाय।'

अब साधुगणों ने शान्त होकर प्रस्तर-खंड गिराना बंद कर दिया। उन्हें धारणा हुई कि कालीप्रसाद एक संन्यासी है जिसके द्वारा अनिष्ट होने की कोई आशंका नहीं हो सकती। परन्तु निकट पहुँचने पर वे लोग कालीप्रसाद से मठाम्नाय, संन्यास मंत्र आदि के विषय में बार-बार जिरह करने लगे। कालीप्रसाद भी ठीक-ठीक ये सभी तथ्य जानते थे, इसी कारण हठयोगी के शिष्यगण इनके उत्तर से शान्त हो गए।

प्रश्नोत्तर के पश्चात् कालीप्रसाद की समझ में यह बात आ गई कि यह यथार्थ हठयोगी नहीं बल्कि एक अघोरपंथी है जिसे अध्यात्म-साधना के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट धारणा नहीं है। उसने निश्चय किया कि यहाँ अब और रुकना नहीं, यहाँ से खिसक जाना ही श्रेयस्कर होगा। परन्तु इस हठयोगी के खप्पड़ से पलायन करना अत्यन्त सहज नहीं। इस बीच वह हठयोगी कालीप्रसाद के प्रति अत्यधिक आकृष्ट हो गया था। उसने मन ही मन निश्चय किया कि इसे अपने शिष्यों

की मंडली में भर्ती कर लिया जाय। स्पष्ट शब्दों में उसने अपना प्रस्ताव रखते हुए कहा—'तुम्हारा माफिक चेला बहुत भाग से मिलता हाय।'१

कालीप्रसाद पलायन करने का सुयोग ढूँढ रहे थे, हठात् बीच में उन्हें एक अवसर मिल गया, वे हठयोगी की गुहा से दौड़ते हुए भाग खड़े हुये। हाँफते-हाँफते वे बराबर पहाड़ी के नीचे आ पहुँचे।

काशीपुर लौटने पर रामकृष्ण ने कहा—'बोलो तो, इतने दिनों तक तुम कहाँ गए थे? कालीप्रसाद ने ठाकुर को उस हठयोगी से अपने दर्शन सम्बन्धी सम्पूर्ण घटनाओं का विवरण सुनाया और तत्पश्चात् कहा—'मुझे हठयोगी अच्छा नहीं लगा। आपकी तुलना में तो वह कुछ नहीं है। तभी तो पुनः आपके चरणों तले दौड़ा आया हूँ।'

प्रशान्त स्वर में ठाकुर बोल उठे—"जहाँ जो महान् साधु या सिद्धयोगी हैं, सबको मैं जानता हूँ। चतुर्दिक घूमने पर भी इस तरह का (अपने वक्षः-स्थल की ओर दिखाते हुए) तुम्हें कहीं भी नहीं मिलेगा।" बोलते-बोलते उन्होंने शायित अवस्था में ही कालीप्रसाद के वक्षःस्थल में अपने चरण-स्पर्श कराए जिससे वे आनन्द—सागर में निमज्जित हो गए

इसीबीच कालीप्रसाद के पिता एक दिन रामकृष्ण के समीप उपस्थित होकर अनुरोध करने लगे—'आप कालीप्रसाद को इतना अधिक प्यार करते हैं, आपही उसके यथार्थ मंगलकांक्षी हैं। उसे समझा-बुझाकर घर भेज दें। घर का लड़का शुभ-शुभ घर में वापस हो जाए।' इस बार ठाकुर ने स्पष्ट शब्दों में उसे ज्ञापित कर दिया—"तुम्हारे पुत्र को मैं ने खाने के लिए छोड़ दिया है। अतः वह अब तुम्हारा नहीं है। अब वह यहाँ से वापस नहीं होगा।"

गुरु-कृपा से वैराग्यमय साधना द्वारा कालीप्रसाद एक नूतन मानव के रूप में रूपान्तरित हो गया है—उस दिन ठाकुर ने उनके पिता को यह तथ्य स्पष्ट भाषा में समझा दिया।

सेवा-निमग्न कालीप्रसाद को आगे एक दिन उन्होंने कहा—'तुम्हारे साथ आत्मा और आत्मा का सम्बन्ध है—इसे पूर्व जन्म का समझो। मानो तुम बन्दर हो और मैं मदारी। बन्दर जब दुष्टता करता है तो मदारी-रज्जु को जोर से खींचता है और तब बन्दर रास्ते पर आ जाता है।'

१८८६ ई० का १६ अगस्त। कालीप्रसाद और उनके गुरु-भाइयों ने शोक सागर में निमज्जित हो संवरण किया ठाकुर रामकृष्ण की मरण-लीला को।

---

१. अर्थात् तुम्हारे सदृश शिष्य बड़े भाग्य से उपलब्ध होते हैं।

तरुण भक्तों ने अपना गृह-त्याग कर एकान्त भाव से ठाकुर के पाद-पद्मों में आश्रय लिया था। परन्तु आज वह आश्रय भी अन्तर्हित हो गया।

माँ शारदामणि कुछ समय के पश्चात् अयोध्या, वृन्दावन प्रभृति तीर्थों की यात्रा पर गईं; उस समय कालीप्रसाद भी उनके साथ गए। वृन्दावन पहुँचने पर उनके अन्दर ब्रजमंडल की परिक्रमा करने की प्रवल इच्छा जग पड़ी। सुअवसर मिलने पर वैष्णव साधुओं के एक दल के साथ वे सम्मिलित हो इसके लिए निकल पड़े और इस प्रकार बड़े आनन्द से उन्होंने परिक्रमा प्रारम्भ की।

पथ में विश्राम के लिए पड़ाव आने पर कालीप्रसाद 'नारायण हरि' कहते हुए ब्रजवासियों के घर मधुकरी के लिए पहुँच जाते और यत्र-तत्र एक-दो टुकड़े मड़ुआ की रोटी पा उसी से येनकेन प्रकारेण जीवन धारण करते। उस समय वे गैरिक वस्त्र धारण किए हुए थे, इसी से वैष्णव साधुगण इन्हें सोहंवादी संन्यासी समझ यथा संभव इनका परिहार करते हुए चलते। वे सोचते कि इनके मन में कृष्ण-प्रेम कतई नहीं है परन्तु शीघ्र ही एक दिन उनकी यह भूल जाती रही। कालीप्रसाद को भागवत की गोपी-गीता कंठस्थ थी। एक दिन कृष्ण-प्रेम में विभोर हो वे अपने मन में उन श्लोकों का पाठ कर रहे थे। इसे सुन सभी वैष्णव मुग्ध हो उन्हें घेरकर खड़े हो गए और उत्फुल्ल स्वर में बोल उठे—'आप श्रीकृष्ण के परम भक्त हैं, इस बात से इतने दिनों तक अनभिज्ञ रह कर हमलोग अपने आपको आपसे दूर ही रखते आए। अभी देखता हूँ कि आप तो हमलोगों के अति निज व्यक्ति हैं। अब आपको हमलोग मधुकरी नहीं करने देंगे तथा आप की सेवा-व्यवस्था भी हमलोग ही करेंगे।

परिक्रमा के क्रम में श्रीकृष्ण-लीला-स्थलियों का दर्शन करके कालीप्रसाद के मन और प्राण आनन्द से परिपूर्ण हो गए। वृन्दावन से लौटने पर ज्ञात हुआ कि रामकृष्ण के शिष्यों ने बड़ानगर में एक छोटे से मठ की स्थापना की है। यह एक अत्यन्त सुन्दर संवाद था। माँ शरदामणि की सम्मति लेकर वे शीघ्र ही इस मठ में आ गए।

मुंशीबाबू लोगों का एक भूतग्रस्त और परित्यक्त उद्यान-गृह ग्यारह रुपए मासिक भाड़ा पर मठ के लिए ले लिया गया है। भक्त सुरेश ने भाड़ा देने का भार अपने ऊपर लिया है। चरम कृच्छ्र साधना के मध्य तीन त्यागी भक्त—तारक, लुटको गोपाल और बूड़ो गोपाल—अपने हृदय में रामकृष्ण की स्मृति संजोये यहाँ निवास करते हैं। कालीप्रसाद मठ के चतुर्थ स्थायी निवासी हुए।

इस समय नरेन्द्रनाथ की नेतृत्व-शक्ति ने असंभव को भी संभव कर दिया।

श्रीरामकृष्ण के आदर्शों को केन्द्रित कर त्यागी भक्तों के लिए मठ और मंडली की स्थापना में वे बद्ध परिकर हो दत्तचित हुए और स्वयं भी संसार त्यागकर स्थायी रूप से मठ में योगदान करने का व्रत लिया।

नरेन्द्र और कालीप्रसाद की युग्म प्रचेष्टा के फलस्वरूप उस समय मठ स्थापना की प्रकृत भित्तिभूमि निर्मित हुई। उस समय की अवस्था का एक चित्र स्वामी शंकरानन्द ने यों दिया है—'श्रीरामकृष्ण के विस्तर के सम्मुख बैठकर सभी ध्यान-जप करते हैं। भिक्षाटन के क्रम में जो कुछ मिलता उसी को बारी-बारी से क्रमानुसार रंधव कर सभी अपनी क्षुधा शांत करते। इन लोगों को भोजन का अत्यधिक कष्ट था, चावल उपलब्ध हो जाने पर नमक नहीं मिलता। इस तरह का अभाव था इन्हें। कभी इन्हें केवल भात और कभी सुस्वादु और ठीक से पकाया गया भोजन भी मिल जाता। कालीप्रसाद के आ जाने से इनमें एक नवीन उत्साह का जागरण हुआ। नरेन्द्रनाथ, शरत्, शशि, राखाल सभी मठ से लौट गए थे और सभी मनोनिवेशपूर्वक अपने-अपने अध्ययन में जुट गए थे। कालीप्रसाद के आने पर उनकी भेंट नरेन्द्रनाथ से हुई और इन दोनों ने मिलकर भावी कार्यपद्धति की रूप-रेखा तैयार करना प्रारम्भ कर दिया। सभी लड़कों को एकत्र रखना—श्री श्री ठाकुर के इस आदेश का पालन नहीं कर पाने के कारण नरेन्द्रनाथ का मन अत्यन्त खिन्न और सीदित हो रहा था। इस घड़ी में कालीप्रसाद को अपने सहायक के रूप में प्राप्त कर उनका उत्साह वर्द्धित हुआ। दोनों ने मिलकर अपने भक्त बालकों के घर जाना प्रारम्भ किया एवं श्री श्री ठाकुर के आदेश तथा वैराग्योद्दीपक वाक्यों के द्वारा उनके बीच प्रचारित करने लग गए संसार-त्याग की कथा।

शेष बालक भक्तों के मन में इस प्रकार आतंक उत्पन्न हुआ कि नरेन्द्रनाथ और कालीप्रसाद को देखते ही अनेक बालक दौड़कर अपने घर का द्वार बंद कर लेते परन्तु नरेन्द्रनाथ भी बड़े दृढ़-प्रतिज्ञ और पिंड छोड़ने वाले न थे। वे दरवाजे पर इस प्रकार धक्का-मुक्की करते कि बाध्य होकर असमंजस और भय की अवस्था में उन्हें द्वार खोलना ही पड़ता। उन बालकों के अभिभावकों को यह अच्छा नहीं लगता अतएव उनकी अनुपस्थिति में ये सभी कार्य होते। उस समय नरेन्द्रनाथ और कालीप्रसाद के इस प्रकार के आचरण से अभिभावकगण अत्यन्त संत्रस्त हो गए थे। एक दिन वे दोनों आदमी लुटको गोपाल, शरद् और शशि के घर पहुँच द्वार पर धक्का देने लगे परन्तु शरद् द्वार नहीं खोल रहा था, उधर नरेन्द्र भी छोड़नेवाले न थे। तब नरेन्द्रनाथ ने और बलपूर्वक दरवाजे पर मुष्टिका प्रहार प्रारम्भ कर दिया, परिणाम स्वरूप द्वार

खोलना पड़ा। घर में प्रवेश करते-करते ही नरेन्द्रनाथ ने अविरल गति से तीव्र वैराग्य और भगवद् लाभ का प्रसंग छेड़ एक ऐसी अपूर्व आध्यात्मिक वातावरण की सृष्टि कर दी जिससे शरद् और शशि उनके वाक्य-स्रोतों में प्रवाहित हो गए। अंत में जब नरेन्द्रनाथ ने कहा—'चलो, बड़ानगर मठ में चलें। तब उन-लोगों ने पुनः कोई आपत्ति नहीं की। शरद् और शशि शरीर पर चादर ओढ़ उसी समय उनलोगों के साथ वराह नगर के लिए प्रस्थान कर गए।

वराह-नगर के मठ में नवीन साधकों का त्याग, वैराग्य और कृच्छ्र साधन चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया परन्तु नरेन्द्रनाथ की प्रेरणा और उनके नेतृत्व के प्रभाव स्वरूप कोई भी इस कठोर जीवन के कष्टों का अनुभव नहीं करता। उस समय की याद करते हुए परवर्त्ती काल में अभेदानन्द ने कहा था—"महा-समाधि की पूर्व रात्रि में श्रीठाकुर ने नरेन्द्र को अपने समीप बुलाकर कहा था: 'तुम बालकों को एकत्र रखना और उनकी देख-रेख करते रहना।' श्री श्री ठाकुर के इसी निर्देश का स्मरण दिलाकर हमलोगों ने नरेन्द्रनाथ को सब का प्रधान बनाया और उसी के अनुसार चलकर मठ में नियमित रूप से ध्यान-धारणा, पूजा-पाठ, कीर्त्तन आदि करके दिन व्यतीत करने लगे। स्वाभाविक रूप से हमलोगों की आशा और सुख-सांत्वना के आश्रय थे नरेन्द्रनाथ। उस समय हम सबों का जीवन अतिशय दुःख, कष्ट और दारिद्र्य में व्यतीत हो रहा था; फिर भी एक मात्र श्री श्रीठाकुर को अपने जीवन का सम्बल मान मन में आनन्द का अनुभव कर हमलोग दिन यापन करने लगे। निश्चय ही उस समय भोजन और वस्त्र का अत्यधिक कष्ट था।"

"तारक दादा, मैं, लाटू और गोपालदादा प्रभृति सभी लोग भिक्षाटन के लिए निकल पड़ते और सहज रूप से चावल आदि जो सामग्री मिलती उसी को पकाकर हम सभी अपनी क्षुधा शान्त करते। कभी-कभी शाक-सब्जी किसी भी प्रकार से उपलब्ध न होने पर हमलोग तेलाकुचा के पत्तों को लाकर उसे सिद्ध करते और उसी के साथ भात खाते और निश्चय ही यह आहार भी हमलोगों को एस समय ही प्राप्त हो पाता। हम सभी के पास पहनने को वस्त्र नहीं थे। एक कपड़े को फारकर उसका कौपीन बना हम सभी धारण करते और मात्र एक कपड़े को हमलोग रख देते, बाहर-जाने की आवश्यकता होने पर हम बारी-बारी से उसे पहन बहिर्गमन करते। उन दिनों के दुःख-कष्टों के विषय में और अधिक क्या कहूँ? इस समम उन सभीकथाओं की स्मृतिकर मन आनन्दित हो उठता है।"

उस समय रामकृष्ण की तरुण संततियों में कृच्छ्र साधना, ध्यान और शास्त्र-पाठ

की चरम अभिलाषा थी। कालीप्रसाद का अपना एक छोटा सा घर था उसमें वे दिन रात तपस्या और अध्ययन-रत रहा करते और इस क्रम में वे अपने शरीर का भी कोई विचार नहीं करते उनके गुरु भाई इस घर के विषय में कहा करते— काली तपस्वी का घर।

एक दिन कालीप्रसाद मठ के बरामदा में सोये हुए थे। उसी क्रम में उनका वाह्य ज्ञान जाता रहा। मध्याह्न सूर्य की किरणों से बरामदे की भूमि उत्तप्त हो गई और वे उसी पर सोये रहे। उसी समय स्वामी विवेकानन्द के मझले भाई महेन्द्रनाथ दत्त वहाँ पधारे। काली प्रसाद को बेसुध अवस्था में देख वे उनके पास गए और अपने हस्त-स्पर्श से देखा कि उनका शरीर उस भीषण धूप से संतप्त हो गया है और उनके अन्दर जीवन के कोई लक्षण नहीं प्रतीत होते। महेन्द्रनाथ आश्चर्य में पड़ गए; उन्होंने सोचा कि कृच्छ्र साधना के कारण ही कालीप्रसाद की मृत्यु हो गई है।

मठ के भीतर जाकर उन्होंने विषण्ण स्वर से इस कथा को सुनाया। सुनते ही योगानन्द हँसते-हँसते बोल उठे--'वह क्या मरेगा ? वह शाला इसी प्रकार ध्यान लगाता है।' काली प्रसाद की ध्यान-निष्ठा के सम्पर्क में रहने के कारण उस समय के उनके सभी गुरु भाई इस प्रकार की उच्च धारणा उनके सम्बन्ध में रखते थे।

मठ के भीतर उन गुरु भाइयों के बीच जो अभेद्य बंधुत्व और अन्तरंगता उत्पन्न हो गई थी, उसकी तुलना निश्चय ही विरल है। एक दिन किसी कार्य-वश नरेन्द्र और काली प्रसाद कलकत्ता गए थे। गृही भक्तों के घर घूम-घूमकर वार्त्तालाप और आलोचना-प्रत्यालोचना करते रहे परन्तु किसी ने इन्हें भोजन के लिए आग्रह नहीं किया। क्रमशः रात्रि अधिक हो गई और काली प्रसाद के साथ नरेन्द्र अपने पैतृक घर आ पहुँचे। उस समय उनका परिवार घोर आर्थिक कष्ट झेल रहा था, मोकदमे के कारण उनलोगों का सर्वस्वाहा हो चुका था और दो मुट्ठी अन्न भी उपलब्ध नहीं था। इस विषम परिस्थिति से दोनों अवगत थे अतएव घर में भी इन दोनों ने अपने आहार की बात तक न की।

सम्पूर्ण दिन इस प्रकार अनाहार में व्यतीत हुआ था और रात्रि में भी भोजन मिलने की संभावना नहीं थी। ऊपर से पूष की प्रचण्ड शीतल रात्रि बड़ी विपिदायुक्त थी। नरेन्द्र अथवा काली प्रसाद, किसी के गात्र पर कोई वस्त्र न था।

इस अवस्था में क्या किया जाय ? फेंट के वस्त्र को किसी प्रकार लपेटकर दोनों आदमी एक दूसरे से अपनी पीठ सटाकर सो गए। तम्बाकू पीना, वेदान्त

की आलोचना करना आदि सभी कुछ चलने लगा परन्तु शीत की यातना किसी भी तरह कम नहीं हो रही थी। इधर अनाहार के कारण शरीर भी अवसन्न था। काँपते-काँपते काली प्रसाद बोले--'भाई नरेन, शीत के प्रकोप से मैं नहीं सो पा रहा हूँ।' नरेन्द्र ने उत्तर किया–'दूर शाला, घबराने से क्या होगा, और अधिक सटकर सो जाओ।'

इसके बाद काली प्रसाद को अत्यधिक कष्ट होते देख नरेन्द्र उठकर बैठ गए और बोले--'ठहरो शाले, उठ बैठो, देखता हूँ तुम्हारे लिए चाय की कोई व्यवस्था हो सकती है अथवा नहीं।' खोजने पर कुछ चाय पत्ती, चीनी और केटली का संग्रह हो सका। चाय तैयार हो जाने पर नरेन्द्र ने कहा--'क्या रे शाला, जगा है?' उस समय भी काली प्रसाद शीत से कम्पित हो रहे थे, वे बोले--'इस अवस्था में जगा न रहूँगा तो और क्या? नींद और उष्णता कहाँ? शीत के प्रकोप से मेरा शरीर श्याम हो गया है।'

'लो शाला, चाय पीओ, और थोड़ी उष्णता का अनुभव करो।' इस प्रकार बोलते हुए नरेन्द्र ने चाय का प्याला काली प्रसाद के हाथों में दे दिया। कुछ क्षणोपरान्त रात्रि का अवसान हुआ और उष्णता के साथ प्रभात का आगमन हुआ। इसके साथ ही दोनों व्यक्ति बड़ी शीघ्रता से पलायन कर गए वराहनगर की दिशा मे। सुख और दु:ख, आपद और विपद् में रामकृष्ण के इन तरुण तनयों ने इस प्रकार दिन पर दिन व्यतीत किए; उनके भीतर तो एक प्रकार का अभेद्य आत्मिक बंधन गठित हो गया था।

मठ के ये तरुण साधक अहर्निश शास्त्र-पाठ, जप-ध्यान और कीर्त्तन में मत्त रहते। एक दिन हठात् नरेन्द्र ने इनलोगों से कहा—'मैं सोचता हूँ; हम सभी मिलकर इस बार शास्त्रानुसार संन्यास ले लेंगे। तुमलोगों के क्या विचार हैं?' कालीप्रसाद ने अपना मंतव्य प्रकट करते हुए कहा—'शास्त्रानुसार संन्यास लेने के लिए हमलोगों को विरजा होम करना होगा। मेरे पास विरजा होम का मंत्र भी है।' कौतूहलता से नरेन्द्रनाथ ने प्रश्न किया—'तुम्हें मंत्र कैसे प्राप्त हुआ?'

कालीप्रसाद ने कहा--'बराबर पहाड़ पर उस बार हठयोगी के संधान हेतु गया था, यह जानते हो? उस समय पहाड़ के नीचे जो धर्मशाला है उस में एक संन्यासी के पास एक पुस्तक थी। उसी से मैं ने इसे लिख लिया था।' यह सुन नरेन्द्रनाथ को अतीव प्रसन्नता हुई और वे बोले—'यह सब ठाकुर ही की कृपा है। देखो, कैसा अच्छा संयोग है। आओ हम सभी विरजा होम सम्पन्नकर शास्त्रानुसार पूर्णरूप से संन्यासी हो जांय।' सभी ने सोत्साह

एकस्वर से इसका समर्थन किया।

इस अनुष्ठान का वर्णन करते हुए कालीप्रसाद ने लिखा है—'एक दिन प्रातः-काल गंगा-स्नान करके वराहनगर मठ के ठाकुर के घर में श्री श्री ठाकुर की रखी हुई पवित्र पादुका के सम्मुख सभी उपबिष्ट हुये। शशि ने विधिवत श्रीठाकुर की पूजा की समाप्त की। होम के लिए थोड़ा विल्व-काष्ठ, १२ विल्व-दण्ड और गोघृत संग्रह करके अग्नि प्रज्वलित की गई। नरेन्द्रनाथ के आदेशानुसार तन्त्रधारक के रूप में मैंने अपनी पुस्तक से संन्यास सम्बन्धी प्रेष-मंत्र का पाठ प्रारम्भ किया। प्रथम नरेन्द्रनाथ, तब राखल, निरंजन, शरत्, शशि, शारदा प्रभृति ने मेरे पाठ के साथ साथ प्रेषमंत्र का पाठ करते हुए उस प्रज्वलित अग्नि में आहुति दी और बाद में मैंने अपना प्रेषमंत्र पढ़ते हुए अग्नि में आहुति दी। निश्चय ही हमलोगों ने दीक्षा तो पहले ही श्री श्री ठाकुर के सान्निध्य में ग्रहण की थी। पूर्व में ही गोपालदादा ने गंगासार के मेले में आगत साधुओं को प्रदान करने हेतु बारह गैरिक वस्त्र और रुद्राक्ष मालाओं का जो प्रबन्ध किया था वे हमें श्री श्री ठाकुर की उपस्थिति में प्राप्त हो गये थे; उसके बाद वराहनगर मठ में हमलोगों ने शास्त्र सम्मत संन्यास का अनुष्ठान सम्पन्न किया।

संन्यास के बाद नरेन्द्र ने विविदिषानन्द[1] नाम ग्रहण किया, राखाल ने ब्रह्मानन्द और कालीप्रसाद ने अभेदानन्द। नरेन्द्रनाथ की सम्मति के अनुरूप अन्यों ने भी अपने नाम ग्रहण किए।

कुछ समय पश्चात् माँ शारदामणि का आशीर्वाद लेकर स्वामी अभेदानंद तीर्थाटन हेतु निकल पड़े। सर्व प्रथम उत्तराखंड के हरिद्वार, हृषिकेष, बदरी, केदार प्रभृति आदि स्थानों का इन्होंने परिभ्रमण किया। इस समय परिव्राजक अभेदानंद ने संकल्प लिया कि वे रुपये पैसे का स्पर्श तक न करेंगे, रंधन नहीं करेंगे, कुरता आदि ऊपरी वस्त्र न पहनेंगे एवं किसी के घर शयन न करेंगे। इसके अतिरिक्त मधुकरी द्वारा जीविका निर्वाह करेंगे और रात्रिकाल में किसी वृक्ष के नीचे आश्रय ग्रहण करेंगे।

इस परिव्राजन के क्रम में वे अनेकानेक विपद एवं आपदाओं में पड़े परन्तु प्रत्येक बार सद्गुरु श्रीरामकृष्ण की कृपा से उनका उद्धार हुआ। पथ-प्रान्तर, निर्जन अरण्य और एकांत ध्यान-गुहा में सर्वत्र उसी सद्गुरु ने अलक्ष्य रूप से उनका आहार

१. परवर्तीकाल में नरेन्द्रनाथ ने इस विविदिषानंद नाम को परिवर्तित कर अपना नाम विवेकानंद रखा। अपने शिष्य क्षेत्री के राजा अजीत सिंह के परामर्श से इन्होंने यह नाम धारण करके अमेरिका की यात्रा की।

—द्रष्टव्य—स्वामी विवेकानंद : ए फौरगोटन चैप्टर आफ हिज लाइफ
—वी० एस० शर्मा

जुटाया और पद-पद पर उनकी रक्षा करते हुए उन्हें आश्रय प्रदान किया। इस परिभ्रमण में इनका अधिकांश समय हृषिकेश में व्यतीत हुआ। इस स्थान में भारत के अन्यतम श्रेष्ठ वेदांती धनराज गिरि का आश्रम था। इन्हीं के समीप अभेदानन्द ने वेदान्त का अध्ययन किया और ज्ञान-मार्ग के सर्वोच्च तत्व को हस्तामलक कर लिया।

इसके कुछ पश्चात् हृषिकेश में स्वामी विवेकानन्द का धनराज गिरि के साथ साक्षात्कार हुआ। अभेदानन्द के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर गिरि महाराज ने अपना मंतव्य यों प्रकट किया—'अभेदानन्द ? उसे तो अलौकिक प्रज्ञा है।'

इसके उपरांत पश्चिम और दक्षिण भारत के तीर्थों का भ्रमण कर अभेदानन्द कलकत्ता लौटे। उस समय मठ आलम बाजार में स्थानान्तरित हो चुका था। वहाँ पहुँच कर वे बड़े प्रसन्न हुऐ। अब पूर्व की तरह आर्थिक दुरवस्था नहीं थी। तरुण तपस्वियों के मुख पर अब थोड़ी रौनक थी। गृहस्थ भक्त भी नाना प्रकार के भेंट भेजते थे अतः ठाकुर की पूजा और भोग-राग में इस समय कोई असुविधा नहीं थी।

१८९३ ई० के अंत में एक अप्रत्याशित संवाद मिला। शिकागो की धर्म महासभा में हिन्दू-धर्म के प्रतिनिधि रूप में स्वामी विवेकानन्द ने जो अपना भाषण प्रस्तुत किया उससे सम्पूर्ण अमेरिका आलोड़ित हो उठा था। कुछ समय बाद मठ में स्वामी विवेकानन्द का एक पत्र आया जिसमें उन्होंने लिखा था कि उनके विरुद्ध एक अभिरुन्धिमूलक प्रचार द्वारा कहा जाता है कि वे हिन्दू धर्म के कोई प्रतिनिधि नहीं हैं; वे तो एक भेगाबौण्ड मात्र हैं। अतः कलकत्ता में अविलम्ब एक सार्वजनिक सभा आह्वान करके उसमें यह प्रस्ताव पारित करना है कि विवेकानन्द हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि हैं तथा इनके प्रचार-कार्य के पीछे भारत के जनमानस का समर्थन है।

अभेदानन्द, शारदानन्द प्रभृति गुरु भाई इस कार्य में तत्पर हो गए। कलकत्ता में एक विराट् सभा का आयोजन कर उसमें पारित प्रस्ताव प्रेषित हुआ अमेरिका को।

कलकत्ता की तत्कालीन कर्मतत्परता के सम्बन्ध में विवेकानन्द के भाई महेन्द्र दत्त महाशय ने लिखाहै—'वेदान्ती काली ने इस समय प्राणपन से मिहनत की है। एक उन्मत्त की भाँति अहर्निश कार्य करके टाउन हाल में उन्होंने सभा की। अपने परिचितों से धन-संग्रह कर सभा की कार्यप्रणाली मुद्रित करवाई और इस रिपोर्ट को अनेक प्रेसों में प्रेषित किया तथा अन्य समस्त कार्यों को इन्होंने एक साधना की तरह पूरी मुस्तैदी से किया।'

१८९६ ई० में स्वामी अभेदानन्द के जीवन में एक नवीन अध्याय का संयोजन हुआ। आधुनिक युग के अन्यतम वेदान्त-प्रचारक रूप में प्रथम इंगलैंड में और तत्पश्चात् अमेरिका में 'काली वेदान्ती' का अभ्युदय देखने को मिलता है जहाँ जाकर उन्होंने अद्वैत वेदांत और श्रीरामकृष्ण की विचारधारा का प्रचार किया। विशेष रूप से अमेरिका में पच्चीस वर्षों तक निवास कर इन्होंने विवेकानन्द द्वारा प्रचारित भावधारा को विस्तारित किया और एक दृढ़ संगठन का निर्माण किया।

उस बार विवेकानन्द अमेरिका होते हुए लंदन पहुँचे। वहाँ वेदांत के प्रचार के लिए एक सुयोग्य गुरु-भ्राता की आवश्यकता थी, अतः तन्निमित्त उन्होंने अभेदाननंद को वहाँ बुला लिया। प्रायः एक महीने के अपने लंदन प्रवास काल में अभेदाननंद ने वहाँ के रीति-रिवाजों को शनैः शनैः आयत्त कर लिया। इस समय विवेकानंद अनेक स्थानों में घूम-घूमकर भाषण दे रहे थे। एक दिन हठात् अभेदानंद को बुलाकर उन्होंने कहा—'यहाँ के क्राइस्ट थियोसौफिकल सोसाइटी में तुम्हें भाषण देना होगा। वक्ता के रूप में तुम्हारा नाम भी छाप दिया गया है।'

अभेदानंद तो मानो आकाश से गिर पड़े। उद्विग्न हो बोले—'यह क्या कह रहे हैं? मैं भला किस प्रकार भाषण दे सकता हूँ? मैं तो भाषण देना नहीं जानता।'

'यह कथा मैं नहीं सुनना चाहता, तुम्हें तो भाषण देना ही होगा।' 'हम में यह क्षमता एकवारगी नहीं हो सकती, मैं तो कुछ भी नहीं कर सकूँगा।' 'तब तुम यहाँ आए क्यों?' उत्तेजित स्वर में बोले विवेकानंद। 'तुमने मुझे बुलाया था तभी तो। बोलो मैं अभी वापस चला जाता हूँ। मुझे वक्तृता देनी होगी यह कथा बतलाने पर मैं कभी भी नहीं आता।'

इस बार विवेकानंद दृढ़ स्वर में बोले—'सो नहीं होगा। तुम्हें यहाँ रहना होगा और भाषण देने की कला सीखनी होगी।' 'मुझ से नहीं हो सकेगा।' 'ऐसी स्थिति में तुम क्या मुझे अपमानित करना चाहते हो?' 'कैसे आप अपमानित होंगे?'

'इस सभा में मुझे ही भाषण के निमित्त निमंत्रित किया था परन्तु मैं ने कहा कि इस बार मैं नहीं भाषण दे सकूँगा; मेरे एक गुरु भाई जो महापंडित हैं, आए हुए हैं, वही भाषण करेंगे। यह सुन बड़े प्रसन्न हुए वे लोग और उन्होंने इस आशय की सूचना भी छपवा दी है।' 'पहले से नहीं सूचित कर तुमने इस

प्रकार का निमंत्रण क्यों दिया ?' 'ऐसा करके मुझे नीचे देखना पड़ रहा है, और क्या होगा ?'

अभेदानंद अब कुछ नम्र हुए और बोले—'तब भाषण कैसे प्रारम्भ करूंगा और उसका समापन किस तरह होगा, यह मुझे बता दो।' 'मुझे कब किसने बतलाया था ? तुम्हारे भीतर जो भाव और जो रस पूर्णरूप से निवास करते हैं उन्हें तुम क्रमशः सिलसिलेवार ढ़ंग से प्रकट करो। तुम तो काली वेदांती हो। इतने दिनों तक न जाने तुमने वेदांत की कितनी आलोचना की, उन्हीं के विषय में बोलना। यह पंचदशी तो एक वेदांत का ही ग्रंथ है—इस में जो शिक्षा दी गई है उसे अंग्रेजी भाषा में लिख लो। लिखने के उपरांत उसे अनेकबार पढ़ो और तब उसे हटा दो। बाद में सभा में जाकर उसे बोलो।'

'अँग्रेजी में लिखने का मेरा अभ्यास जो नहीं है।' चेष्टा करो, ट्राइ-ट्राइ ट्राइ एगेन। प्रैक्टिस करो। प्रैक्टिस मेक्स ए मैन परफेक्ट।'

अभेदानंद एक बड़ी समस्या में पड़ गए। अपनी अक्षमता का विचार कर वे हताश हो गए। सूचना तो यथार्थ में प्रसारित की गई है, ऐसी अवस्था में भाषण न देने पर यहाँ के समाज में स्वामी विवेकानंद को निश्चय ही अपमानित होना पड़ेगा। परन्तु आकण्ठ प्राण रहते अभेदानंद ऐसा नहीं होने देंगे। अगत्या हृदय में साहस बटोरकर वे भाषण देने के लिए प्रस्तुत हुए। श्री श्रीठाकुर और श्री माँ का भक्तिभाव से स्मरण कर 'पंचदशी' पुस्तक लेकर एक दीर्घ प्रवन्ध लिख लिया। तत्पश्चात् बार-बार पढ़ उसे आयत्त भी कर लिया।

अपने इष्ट का स्मरण करते हुए अभेदानंद मंच पर दंडायमान हुए। इससे पूर्व किसी भी जन सभा में उन्होंने भाषण नहीं दिया था, उस पर से यह सभा ऐसी थी जहाँ इंगलैंड सरीखे अग्रसर देश के शिक्षित और संस्कृतिवान् श्रोतागण इकट्ठे हुए थे तथा इनके सम्मुख उपविष्ट थे स्वामी विवेकानंद, इससे मन में थोड़ा आतंक और दौर्वल्य का अनुभव हुआ परन्तु साहस बटोर कर अपने को दृढ़ कर लिया; श्रोतागण इनकी इस चंचलता और दुर्बलता को भाँप न सके। क्रमशः आत्मस्थ हो वे विशुद्ध अँग्रेजी भाषा में वेदांत के उच्चतम भावों की चमत्कारपूर्ण व्याख्या धारा प्रवाह रूप से करने लगे। ऐसा प्रतीत होता था मानो देवी-सरस्वती उनके कण्ठ में अधिष्ठिता हैं। माँ शारदामणि ने एक बार अभेदानंद को आशीर्वाद दिया था—'पुत्र, सरस्वती तुम्हारे कण्ठों में निवास करें'। यह कथा आज सब के समक्ष फलित हुई।

लंदन में ये दोनों गुरु भ्राता जिस अंतरंग परिवेश में निवास करते थे उसकी कुछ झलक शंकरानंद जी ने इस प्रकार दी है—'एक नूतन गृह में

स्वामीजी, गुडविन और अभेदाननंद निवास करने लगे। गुडविन स्वामीजीके भाषणों को सांकेतिक लिपि में लिपिवद्ध करता और उसे बेचता। अभेदानंद गृह-कार्य और रंधन आदि सम्पादित करते कारण कि घर में दास-दासी थी नहीं। बीच-बीच में स्वामीजी भी स्वयं भोजन पकाकर अँग्रेज बन्धुओं को आमंत्रित कर उन्हें खिचड़ी, निरामिष डालमा प्रभृति भारतीय सामग्रियों से स्वागत करते। गुडविन भी भोजन पकाने की चेष्टा करता परन्तु उससे कुछ भी नहीं हो पाता।

जिस दिन स्वामीजी संध्या के पश्चात् लम्बा भाषण देते उस दिन रात्रि में उन्हें गहरी निद्रा नहीं आती। मस्तक में रक्त का प्रवाह अधिक होने से मस्तिष्क गर्म हो जाता। रात्रि में जाकर अभेदानंद उनके मस्तक को सहलाते तथा उनके अन्य सेवा कार्य में लगे रहते। आहार के सम्बंध में स्वामीजी का कोई नियम नहीं था। कभी तो पेट भर यथेष्ट सामिष भोजन करते; कभी फलाहार लेते, कभी उपवास भी करते तो कभी अर्द्ध उपवास रखते। इस प्रकार की अनियमितता के फलस्वरूप उन्हें प्रायः पेट सम्बंधी कष्ट रहा करता। अभेदानंद तो उन्हें बार-बार आहार-नियंत्रण की बात कहा करते।'

लंदन के वेदांत समिति के सभापति के रूप में स्वामी अभेदानंद ने योग्यता और सफलतापूर्वक एक वर्ष तक अपना योगदान किया और तत्पश्चात् स्वामी विवेकानंद ने सम्पूर्ण अमेरिका में एक विराट् जागरण उत्पन्न कर दिया था और उस समय के शिक्षित समाज में भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रति उद्भूत हुई एक विस्मयकारी श्रद्धा। स्वामी विवेकानंद का यह आंदोलन सीमित था एक उदारपंथी दल के बीच। बाद में स्वामी अभेदानंद ने इस आंदोलन को स्थायित्व प्रदान किया और इसे और अधिक विस्तारित भी किया। प्रायः पचीस वर्षों तक इन्होंने अमेरिका में निवास किया और अपनी प्रतिभा तथा कर्मकुशलता के द्वारा उस देश के श्रेष्ठ मनीषी एवं धर्म-प्राण व्यक्तियों की श्रद्धा अर्जित करने में सफलता प्राप्त की।

उस देश में प्रारम्भ में अभेदानंद को द्रारिद्र्य और प्रतिकूल परिस्थिति का भरपूर सामना करना पड़ा। इस संबंध में स्मरण करते हुए वे लिखते हैं—[1] 'अमेरिका में वेदांत प्रचारार्थ स्वामी विवेकानंद ने जो सूत्रपात किया था उसे सफल बनाने हेतु मैं उपाय खोजने लगा। कार्य को अग्रसारित करने हेतु उस समय मेरे पास न तो कोई द्रव्य ही था और न किसीप्रकार का दान ही प्राप्त हुआ था। निश्चय ही मुझे अपने बल बूते पर अकेले घर-भाड़ा, होटल का खर्चा व्याख्यान भवन का भाड़ा, निजी जेब खर्च, विभिन्न साप्ताहिक एवं अन्यान्य

१. लीभ्स आफ माइ डायरी : अभेदानन्द (अनुवाद : प्रज्ञानानन्द)

समाचार पत्रों में विज्ञापन का व्यय आदि के लिए धन संग्रह करना पड़ता। वर्ग लेने अथवा साधारण वक्तृता के पश्चात् श्रोतागण स्वेच्छा से जो कुछ प्रदान करते उसके अतिरिक्त आय का अन्य स्रोत तो था नहीं। ऐसी अवस्था में निजी सुख-सुविधा का विसर्जन करके मैं उन दिनों अपने छात्रों के समीप अनेक दिन आतिथ्य ग्रहण कर अपने व्यय को कम करता। यह थी भारत के संन्यासियों की भिक्षावृत्ति की प्रणाली।

परिस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ अमेरिका के बुद्धजीवी और मुमुक्षु नर-नारियों का एक समुदाय क्रमशः आकृष्ट हुआ स्वामी अभेदानंद की मनीषा, प्रतिभाशाली वक्तृता, वाग्मिता एवं उनके पावन चरित्र की ओर। धर्मतत्व-व्याख्यान का कौशल उनका सर्वाधिक आकर्षक था। आवेग और भावमयता की अपेक्षा तार्किकता और युक्ति-संगति की पुट उसमें अधिक होती। वेदान्त के चरम तत्वों के साथ आधुनिक विज्ञान तथा पाश्चात्य जीवनधारा का कोई विरोध नहीं है, इस विषय पर वे बराबर जोर देकर कहा करते।

'हिन्दूइज्म इनभेड्स अमेरिका' पुस्तक के लेखक मि० वेलडन टामस ने अभेदानंद की जनप्रियता के प्रसंग में लिखा है[1] :—'स्वामी अभेदानंद में अपनाने की शक्ति पर हमलोगों की विशेष कर दृष्टि पड़ी है। मार्किन प्रदेश के प्रतिष्ठानों के साथ उसकी भाषा तथा उसकी जीवनधारा को उन्होंने मिश्रित कर लिया था। ······ ······ ऐतिहासिक घटनासमूहों और कर्म-परिधि की ओर दृक्पात करने पर हमलोग देखते हैं--स्वामी अभेदानंद ने अपने विश्व-वरेण्य नेता की अपेक्षा प्राच्य वेदांत तत्व को पाश्चात्य संस्कृति के अनुरूप विशेष मात्रा में ढ़ाला था। वे ज्वलंत और धारा प्रवाह वाग्मिता देकर अभिभूत नहीं करते बल्कि सत्यकर युक्तियों, तर्कों तथा नूतन और आकर्षक तथ्यों की सहायता से श्रोताओं का मन जीतने की ओर अधिक ध्यान देते हैं।'

ईशु खीष्ट और ईसाई धर्म के सम्बन्ध में अभेदानंद अपने भाषणों में जो नवीन मूल्यांकन करते थे उसने अमेरिका निवासी मनीषियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। इस प्रसंग में अध्यापक कर्सन ने कहा है : — आपकी वक्तृता ने ईशु खीष्ट के सम्बधं में मेरी धारणाओं में एक युगातंर ला दिया है। .. ····· ईशु खीष्ट के सम्बन्ध मे आपने एक ऐसी चूड़ांत मीमांसा की है जिससे कि कट्टर पंथी भावापन्न ईसाई धर्म को भी अंत में आपके सिद्धान्तों के आगे मस्तक झुकाना पड़ता है।'

अद्वैत तत्व को लेकर अभेदानंद के साथ अमेरिका के प्रसिद्ध दार्शनिक अध्यापक विलियम जेम्स का एक दीर्घ वितर्क हुआ था। अंत में अध्यापक

1. मन और मानव : स्वामी प्रज्ञानानन्द; २ ऐ—ऐ

जेम्स ने कहा, स्वामीजी के दृष्टिकोण और युक्ति तर्कों के द्वारा विचार करने पर अद्वैत तत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता परन्तु इस सत्य को भी अपने दृष्टिकोण से देखने पर स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस वितर्क के समय वहाँ जो प्रख्यात पंडित उपस्थित थे उनके नाम हैं लानमान, शेलार, लूई जेम्स प्रभृति। स्वामी अभेदानंद की मनीषा और उनके पांडित्य को देखकर वे सभी मुग्ध थे।

१८९९ ई० में स्वामी विवेकानंद प्रचार कार्य के निमित्त दूसरी बार अमेरिका में उपस्थित हुए। इसबीच स्वामी अभेदानंद बड़े ठाठ-बाठ से वहाँ बस गए थे। इन्होंने न्यूयार्क में भी वेदांत समिति की स्थापना की थी। इनकी सफलता को देख स्वामी विवेकानंद ने सहर्ष कहा था—'इस न्यूयार्क के द्वार पर मैंने तीन-तीन दस्तक दिए परन्तु कोई उत्तर न मिला। तुमने एक स्थायी केन्द्र स्थापित कर लिया है, यह देखकर मुझे अपार हर्ष हो रहा है; न्यूयार्क में हमलोगों की समिति का यह प्रथम निजस्व गृह है।

अमेरिका में स्वामी अभेदानंद द्वारा पचीस वर्षों तक प्रचार कार्य का एक सुदूरगामी परिणाम हुआ। इस सम्बधं में अपने एक व्याख्यान में उन्होंने स्वयं कहा था :—

'मेरे वेदांत प्रचार के फलस्वरूप अमेरिका के ईसाई पादरियों की आँखें खुली। गिरिजाघर में अपनी उपासना के समय वेदांत के भावों को ग्रहण कर ईसाई धर्म के मूलतत्वों की नवीन रूप से व्याख्या उन्होंने प्रारम्भ कर दी। सत्यान्वेषी और चिन्तनशील लोगों का ईसाई धर्म के कट्टरतापूर्ण क्रिया कलापों में अब और अधिक विश्वास न रह गया। इस समय अमेरिका में नवीन-नवीन धर्म-आन्दोलनों का श्रीगणेश हो रहा है। 'न्यू थौट', 'ईसाई साइन्स', 'स्पिरि-च्युएलिस्ट सोसाइटी' आदि नवीन धर्ममत प्रचारित किए जा रहे हैं परन्तु इस सब के पीछे मुख्य रूप से काम कर रहा है हमलोगों का पचीस वर्षों तक वेदांत प्रचार और प्रसार का कार्य। 'ईसाई साइन्स' की प्रतिष्ठात्री मेरी वेकर ने गीता के चन्द श्लोकों पर अपने सम्प्रदाय की स्थापना की थी। 'न्यू थौट' सम्प्रदाय वाले सभी विवेकानन्द के छात्र थे। वे सभी कहते कि ईश्वर तो चरा-चर में व्याप्त हैं, वे ही सब कुछ हुए हैं; वे तो अद्वितीय हैं। ईशु खृीष्ट कहकर वे किसी भी व्यक्ति में विश्वास नहीं करते, फिर भी वे लोग 'खृीष्टत्व' नाम के आध्यात्मिक आदर्शों को स्वीकार करते हैं। खृीष्टत्व सर्वव्यापी है, यह तो हमलोगों के अभ्यन्तर में भी विराजमान है। सत्य कथा कहते हुए भी वे क्या मन में विश्वास करते हैं—प्रत्येक जीवात्मा स्वरूपतः 'खृीष्ट' है। यह उदार

मत कट्टरपंथी खृीष्ट धर्म की धर्मान्धता पर कुठाराघात करता है कारण कि कट्टर ईसाई गण ईशु खृीष्ट नामक एक व्यक्ति में विश्वास रखते हैं तथा मन में सोचते हैं कि खृीष्ट ने अपना रक्त-दान कर पापियों के पात-ताप को दूर किया था। चिन्तनशील व्यक्ति इस प्रकार के पापों से मुक्ति में विश्वास नहीं रखते। शिक्षित-समाज, विशेषकर जिन्होंने विज्ञान और दर्शन का अध्ययन-मनन किया है, 'अनन्त नरक' के सिद्धान्त में आस्था नहीं रखता। इस समय इस प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ विलुप्त प्राय हो रही हैं।'

"छः हजार वर्ष पूर्व इस पृथ्वी की रचना हुई थी इस बात पर वे लोग अब विश्वास नहीं करते और वे इस तथ्य में भी विश्वास नहीं रखते कि ईशु खृीष्ट के रक्तों से ही समस्त पाप धुलेंगे बल्कि 'खृीष्ट' शब्द का वे एक आध्यात्मिक अर्थ ग्रहण करते हैं। इसको वे लोग 'खृीष्टु' कहकर सम्बोधित करते हैं और कहते है कि यह 'खृीष्टत्व' तो प्रत्येक जीवात्मा के भीतर सुप्तावस्था में अवस्थित है तथा वह जागरित होगा। यह तो सुप्तावस्था है और उसके जागरित होने पर प्रत्येक व्यक्ति एक-एक 'खृीष्ट होगा। खृीष्टत्व की वे लोग इस प्रकार व्याख्या करते हैं। पचीस वर्ष पूर्व का खृीष्ट धर्म और अमेरिका का वर्तमान खृीष्ट धर्म एक नहीं है। वेदान्त में प्रचारित एक अनन्त और सत्य सत्ता के ऊपर ही खृीष्ट धर्म को वर्तमान समय में खड़ा करने की चेष्टा चल रही है। वेद वाक्यों 'एकमेवाद्वितीयम्', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' प्रभृति वाक्यों को आज खृीष्ट साइन्स, न्यू थौट तथा स्पिरिच्युएलिज्म ने ग्रहण किया है। हमलोगों ने जो नूतन भाव-धारा प्रवाहित की है उससे वे लोग अत्यधिक अनुप्राणित हुए हैं।"

"शनैः शनैः इसका प्रभाव यूरोप पर भी निश्चित रूप से पड़ा है। इसी के फलस्वरूप इंगलैंड में भी आज 'खृीष्ट साइन्स'—इसके चर्च तथा 'न्यू थौट' मन्दिर असंख्या संख्या में खड़े हो रहे हैं। सर आर्थर कनान डयेल, सर औलिभर लौज प्रभृति प्रेत-तत्व-विद् गण भी वेदान्त के भावों से अनुप्राणित हुए हैं। वर्तमान समय में प्रेत-तत्व के अनुशीलन द्वारा हमलोग जानते हैं कि आत्मा नित्य और अविनाशी है; मृत्यु के पश्चात् हमलोग नरक में नहीं जाते। सर आलिवर लौज की ही कथा को लीजिए। वे एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं और उन्होंने अपनी पुस्तक 'रेमण्ड' में स्पष्टतया स्वीकार किया है कि हमलोग मृत स्वजनों के संग कथांवार्ता चलाते हैं।

मनीषी अभेदानन्द ने दीर्घ गवेषणा एवं अपने लेखों द्वारा अमेरिका के शिक्षित समाज के भीतर भारत के प्राचीन एवं गौरवमय ऐतिह्य को भी ऊँचा उठाया था। इसके परिणामस्वरूप भारत की एक अपूर्व भावमूर्त्ति वहाँ स्थापित

हुई थी। उन्होंने कहा है—'आर्य सभ्यता की अरुण आभा भारत के अन्तरिक्ष में सर्वप्रथम उद्भासित हुई थी। ग्रीस, रोम, अरब अथवा फारस नहीं बल्कि भारतवर्ष ही अध्यात्मशास्त्र, दर्शन, न्याय, ज्योतिष, विज्ञान, कला विद्या, संगीत, चिकित्सा शास्त्र और नैतिक धर्म की आदि भूमि रही है।

हिन्दूओं ने ही सर्व प्रथम वैदिक ऋक् छन्दों के द्वारा संगीत कला का विकास किया था; विशेष कर सामवेद तो संगीत के लिए ही निर्दिष्ट हुआ था। ग्रीक वासियों से बहुशत वर्ष पूर्व ही भारतवासी सप्तस्वर तथा तीन ग्रामों से अभिज्ञ थे। संभवतः भारतवासियों से ही ग्रीकों ने इन सभी वस्तुओं की शिक्षा ग्रहण की थी। आपलोगों को यह जानकर कौतूहल होगा कि विख्यात पाश्चात्य संगीतज्ञ वाग्नार भी हिन्दू संगीतज्ञों के विशेषकर उनके 'लिङ्गि मोटिभ' के लिए—ऋणी थे। भारतीय संगीत के साथ वाग्नार की संगीत पद्धति का प्रचुर साम्य है। इसीसे प्रतीत होता है कि पाश्चात्य संगीत शिक्षार्थियों के लिए उनके संगीत उतने सरल और बोधगम्य नहीं थे। वाग्नार ने अनेक भारतीय संगीत शास्त्रों का लैटिन अनुवाद पढ़ा था तथा जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर के साथ उन्होंने एतत्संबंधी आलोचना भी की थी।"

स्वामी अभेदानन्द ने और भी कहा था—'अधिकांश इतिहासज्ञ इस कथा को स्वीकार करते हैं कि पिथागोरस भारतवर्ष आए हुए थे। हिन्दुओं के समीप उन्होंने ज्यामिति, अंकशास्त्र, जन्मान्तर और परलोकवाद, निरामिष आहार तथा पंचतत्व आदि की शिक्षा ग्रहणकर इन्हें ग्रीसवासियों को वापस जाकर सिखलाई थी। इन्दुदीद एसेनी सम्प्रदाय के मध्य भी इन सभी भावधाराओं का प्रचलन था! ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रीकों के समीप एसेनियों ने शिक्षा ग्रहण कर इन सभी भावों को गृहीत किया था। मिश्र और ग्रीसवासी चार तत्वों (उपादन अथवा एलीमेंट) को ही स्वीकार करते थे, उस समय आकाश तत्व उनसे अज्ञात था। हिन्दुओं से सम्पर्क होने के पश्चात् इन दोनों देशों ने आकाश के तत्व सम्बंधी ज्ञान उपार्जित किया था।"

विवेकानन्द के प्रचार कार्यों से पूर्व भी अमेरिका में वेदान्त की भावधारा किसी-किसी अमेरिकन मनीषी द्वारा प्रचारित थी। निःसन्देह उस समय यह धारा अत्यंत क्षीण थी। इस संबंध में स्वामी अभेदानंद ने कहा है—'राल्फ वाल्डो एमर्सन अमेरिका के एक विश्व विश्रुत मनीषी थे जिन्होंने सर्वप्रथम अमेरिका में वेदांत का प्रचार और प्रसार किया था। उनकी पुस्तक में एतत्संबंधी भाव परिलक्षित होते हैं। तभी तो उनके 'एसे औन इमोर्टेलिटी (आत्मा की अमरता शीर्षक निबंध) के भीतर नचिकेता संबंधी आख्यान हैं। 'ब्रह्म' नाम्नी उनकी

एक कविता है। गीता में जो आया है—

"य ऐनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥"

उस कविता में यही भाव है—इसीका स्वच्छन्द अनुवाद है वह। उस समय चार्ल्स विल्किन्स साहेब की गीता का अँग्रेजी अनुवाद था। वारेन हेस्टिंग्स के समय यह अनुवाद हुआ था। इमर्सन और कार्लाइल ये दोनों बांधव थे, कार्लाइल के साथ इमर्सन की भेंट होने पर उन्होंने इमर्सन को गीता का उपहार देते हुए कहा था—'यह तो एक आश्चर्यमयी पुस्तक है। इस में मैं ने सभी सन्देहों का निराकरण पा लिया है और मुझे विश्वास है कि मेरी तरह आप भी गीता के उपदेशों से प्रचुर प्रेरणा ग्रहण करेंगे।' इस गीता पुस्तक का अध्ययन करके ही इमर्सन ने 'ब्रह्म' सम्बन्धी अपनी कविता की रचना की थी।

'इमर्सन क्लब के प्रेसिडेंट मि० म्यालय ने मुझ से 'ब्रह्म' सम्बन्धी उस कविता का अर्थ पूछा और जिज्ञासा की कि उन्हें यह सब कहाँ प्राप्त हुआ? मैंने तब उनसे गीता की ये सब बातें बतलाईं।

मैं ने इमर्सन का पुस्तकालय देखा है, वहाँ गीता, मनु-संहिता, विष्णु पुराण आदि का अँग्रेजी अनुवाद है।"[१]

अमेरिका में क्रिश्चियन साइन्स नामक तत्ववाद का प्रचुर प्रभाव है। स्वामी अभेदानंद बतलाते हैं कि अमेरिका में इसका पुष्कल प्रभाव है। भारतीय दर्शन और धर्मविज्ञान का यह तत्व ऋणी है, इस तथ्य को ये मतावलम्बी स्वीकार नहीं करना चाहते।

मिसेस एडी ने इस मतवाद का प्रवर्तन किया था। इनके द्वारा रचित ग्रंथ 'साइन्स ऐण्ड हेल्थ' के अनेक संस्करण अमेरिका में हुए हैं। इस ग्रंथ का चौबीसवाँ संस्करण अभी दुष्प्राप्य है। इस संस्करण के अष्टम अध्याय में गीता के श्लोक स्पष्ट रूप से उद्धरित थे। परन्तु वर्तमान में उसे निकाल दिया गया है। अपने अमेरिका प्रवास काल में स्वामी अभेदानन्द ने कठिन श्रम करके इन तथ्यों काउद्घाटन किया था और अमेरिकावासियों की आँखों में उँगली डालकर बतला दिया था कि उनका जनप्रिय क्रिश्चियन मतवाद भारतीय दर्शन से कहाँ तक प्रभावित हुआ है।

अमेरिका प्रवास काल में नाना प्रतिकूल अवस्थाओं में पड़ने पर तथा अनेक घात-प्रतिघातों के कारण क्लान्त होने पर भी अभेदानन्द ने कभी भी अपनी मानसिक स्थिरता नहीं खोयी। बीच-बीच में अपने सहकर्मियों को कहा

१. महाराज की कथा—स्वामी चित् स्वरूपानन्द

कहते कि शुद्ध होकर श्री श्री ठाकुर की ओर अपनी दृष्टि लगाकर तथा विवेकानन्द के असीम प्रेम की कथा को स्मरण करके ही वे लोग इस दीर्घ संग्राम में जूझ सकेंगे।

इस समय रामकृष्ण-संघ जननी शारदामणि का स्नेहाशिष भी उनलोगों को यथेष्ट प्रेरणा प्रदान कर रहा था। माँ शारदामणि के एक पत्र से इसका कुछ-कुछ परिचय प्राप्त होता है। उन्होंने लिखा था—'कल्याणीयेषु, कल तुम्हारा कुशलता सूचक एक पत्र पाकर मैं आनन्दित हुई। तुम्हारे द्वारा प्रेषित पार्सल मिल गया है। तुम शारीरिक और मानसिक रूप से अच्छे हो, यह जानकर बहुत संतोष हुआ। तुम्हारे कार्य सुन्दर ढ़ंग से चल रहे हैं यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। तुमलोग श्री श्री ठाकुर का मुख उज्ज्वल कर रहे हो। श्री श्री ठाकुर के समीप मैं सर्वदा प्रार्थना करती हूँ और आशीर्वाद देती हूँ जिससे तुम्हारे कार्य सफल होवें। तुम्हारे इस महान् कार्य में वे सहायक होंगे इसमें और अधिक सन्देह क्या है? आहारादि के संबंध में अब उस प्रकार की विशेष कठोरता नहीं करना। आगे अब तुम बिल्कुल निरामिष आहार नहीं करना, उत्तम मत्स्यादि आहार करना। ऐसा करने से तुम्हें कोई दोष नहीं होगा। मैं तुम्हें अनुमति प्रदान कर रही हूँ, तुम स्वच्छंन्दतापूर्वक उसे खाना। शरीर की ओर सर्वदा अपनी नजर रखना। बीच-बीच में जाकर निर्जन स्थान में निवास करना। बीच-बीच में अपना कुशल लिख सुखी करना। तुम्हें मेरा आशीर्वाद है। इति। तुमलोगों की माँ।"

श्री माँ के विषय में अपनी प्रणति जतलाकर अभेदानन्द उनके भक्तों को बीच-बीच में कहा करते—"आलम बाजार मठ में 'श्री माँ का स्तोत्र' है। रचना कर सर्वप्रथम माँ को ही सुनाया था। उसे सुन आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा—'तुम्हारी जिह्वा पर सरस्वती का निवास होवे।' 'मूकं करोति वाचालं' सत्य ही उन्होंने मेरे सदृश मूक व्यक्ति को वाचाल कर दिया। ऐसा नहीं होने पर इंगलैंड और अमेरिका सदृश देशों में उन सभी धुरन्धर और पंडित पादरियों के समीप मेरे समान एक नगण्य भारतवासी क्या विजयश्री को ले पाता? यह सब तो श्री माँ और श्री ठाकुर की कृपा है।"

अभेदानन्द ने एकनिष्ठ हो, आप्राण एवं दत्तचित्त हो दृढ़तापूर्वक सद्गुरु रामकृष्ण को पकड़ रखा था। परिव्राजक का जीवन हो या प्रचारक का या आचार्य का, सर्वत्त और सर्वदा उन्हें विश्वास था कि ठाकुर रामकृष्ण उनकी रक्षा कर रहे हैं एवं ईश्वरीय कर्म-साधना के लिए वे ही दिव्य प्रेरणा भी दे रहे हैं।

परवर्त्ती काल में कथा प्रसंग में अपने भक्तों के बीच उन्होंने ठाकुर की

करुणा-लीला के संबंध में प्रकाश डालते हुये कहा था—"उन्होंने पीछे रह कर जब-जब हमलोगों की (अपनी संतानों की) सहायता और रक्षा की है और इस समय भी सर्वदा कर रहे हैं उसके ज्वलंत उदाहरण हमारे और तुम्हारे सामने हैं। जीवन में उनकी उपस्थिति का अनुभव हमलोगों ने अनेक बार किया है। वे असीम करुणामय हैं, हमलोगों का सर्वदा हाथ पकड़ कर वे मार्ग दर्शन कर रहे हैं, इस कथा को मैं अपने मर्म-मर्म में अनुभव कर रहा हूँ।

"उस बार लंदन होते हुए अमेरिका जाना था। जहाज के टिकट के क्रय के हेतु सब प्रबंध कर लिया था। इंगलैंड के बंदरगाह होते हुए जो जहाज जाएगा उसका नाम था लूसिटेनिया। टिकट क्रय हेतु जाने पर (६ मई १६१५ ई०) एक अद्‌भुत घटना घटी। टिकट खरीदते समय एक आवाज सुनाई पड़ी जिसने मुझे टिकट खरीदने से स्पष्टतया निषेध किया। मैं तो घबरा गया; सोचा मेरे मन का भ्रम है यह। इधर-उधर देखा, कोई दिखाई नहीं पड़ा। अतएव पुनः टिकट खरीदने हेतु गया परन्तु इस बार भी वही बात हुई। तब तो टिकट खरीदना संभव नहीं हो सका। लौटकर घर आ गया और आगे का कार्यक्रम सोचने लगा। विचार किया—न हो तो कल ही जाया जाय। परन्तु दूसरे दिन प्रातःकाल समाचार-पत्र खोलते ही बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था—S. S. Lusitania is no more. अर्थात् लूसिटेनिया ने एटलांटिक महासागर के वक्षःस्थल पर कल रात्रि में जल-समाधि ले ली। मैं अभिभूत हो गया। मेरी आँखें अश्रुपूरित हो गईं। विचार किया कि श्री श्री ठाकुर ने ही मेरी रक्षा की है।" १

अभेदानन्द कुसुम सदृश मृदुल और वज्र के सदृश कठोर थे। अंतरंग भक्तों के साथ वार्त्तालाप करते समय उनका अंतर एक शिशु की भाँति सरलता से पूर्ण रहता। उनके बहिरंग जीवन को देखकर उन्हें समझने में भूल हो सकती थी परंतु तात्विक विचार के समय इस मनुष्य की विस्मयकारी विश्लेषण शक्ति, क्षुरधार बुद्धि और सिद्धांत-निरूपण की दृष्टि का परिचय मिलता था।

अभेदानंद की अमेरिकन शिष्या सिस्टर शिवानी (मेरी ल' पेज) ने उनके जीवन वैशिष्ट्य का परिचय देनेवाली दो-एक घटनाओं का उल्लेख किया है।२ शिवानी ने लिखा है कि हमलोगों की वरीयसी बांधवी मिसेस केप ने एक दिन हमलोगों के सदृश अनेक तरुणी छात्राओं को कहा था—'देखो, जिस किसी सामान्य घटना के संबंध में तुमलोगों के मन में संदेह उत्पन्न हो उस संबंध में

१. मन और मनुष्य : स्वामी प्रज्ञानानन्द
२. स्वामी अभेदानन्द इन अमेरिका—सिस्टर शिवानी

स्वामीजी का विचार नित्य सुनने की चेष्टा करो। मैं एक सामान्य घटना के विषय में सुना रही हूँ। उस दिन का रामकृष्णोत्सव। अधिक पैसे खर्च करके मैं ने एक मनोरम गुलदस्ता खरीद लिया। उस समय स्वामीजी भजनगृह की वेदी के समीप प्रसन्न मुद्रा में खड़े थे, मैं सोत्साह-पूर्वक शीघ्रता से आगे गई और गुलदस्ता की ओर देखते हुए उनसे मैं ने कहा—'स्वामीजी, देखिये तो मेरा यह पुष्पार्घ्य कैसा चमत्कारपूर्ण है, क्या आप इसे पसन्द नहीं करते ?' उसी क्षण स्वामीजी ने अपना मुँह फेर लिया, एक शब्द मुझसे बोले तक नहीं। उस मनोरम पुष्प-गुच्छ के संबंध में शिष्टाचार के नाते भी एक सामान्य शब्द तक उच्चारण नहीं किया। मैं तो स्तब्ध खड़ी रही। स्वामीजी ने मेरे साथ इस भांति कठोर आचरण कभी नहीं किया था। इतना ही नहीं; उनके सदृश भद्र और कोमल आचरण मुझे अत्यल्प लोगों में देखने को मिला। तब फिर आज ऐसा क्यों किया ? मैं अन्दर ही-अन्दर मर्माहत हुई। भ्रांत और हतबुद्धि होकर मैं रह गई। समिति-भवन त्याग करने से पूर्व मैं ने इस संबंध में उनसे पूछा तो वे मुँह घुमाकर दूसरी ओर खिसक गए।

मेरा चिर दिनों का अभ्यास रहा कि है किसी वस्तु के तह तक जाकर उसे देखना। कई दिनों के पश्चात् पुन: मैं ने स्वामीजी को पकड़ा और उनसे कहा—'उस दिन निश्चय ही आपने अपने कठोर आचरण के द्वारा मुझे कोई शिक्षा देनी चाही थी। वह कौन सी शिक्षा थी, उस संबंध में मुझे स्पष्ट रूप से कहें। उत्तर में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा—'उस दिन क्या तुम मेरे लिए वे पुष्प-गुच्छ लाई थी या मेरे श्रद्धेय गुरुदेव के निमित्त ?"

तत्क्षण मिसेस केप को इस कथा का तात्पर्य समझ में आ गया। जो पुष्पार्घ्य प्रभु रामकृष्ण के निमित्त लाया गया था उसके द्वारा प्रभु-दास अभेदानन्द की मन तुष्टि की चेष्टा करना उसके लिए समीचीन नहीं था।

सिस्टर शिवानी द्वारा वर्णित एक और कथा द्वारा अभेदानन्द के पौरुष का परिचय प्राप्त होता है। "उस दिन आश्रम के पुस्तकालय में बैठकर हम-लोगों की प्रियदर्शिनी सेक्रेटरी एवं एक दूसरी छात्रा कार्य कर रही थी। उसी समय हाउस-कीपर एक अपरिचित व्यक्ति को उस कमरे में लेकर आया। आश्रम सम्बन्धी दू-चार प्रश्न करने के पश्चात् वह व्यक्तिगत स्तर पर उतर गया। उच्च स्वर से उसने प्रारम्भ किया स्वामीजी के संबंध में अपमानजनक मन्तव्य तथा गाली गलौज। वह जानना चाहता था कि पाश्चात्य देश की भद्रमहिलाएँ इन सभी कृष्णकाय हिन्दुओं के साथ किस प्रकार सामाजिक रूप से सम्मिश्रण करती हैं ?

पुस्तकालय में उपविष्ट महिलाद्वय ने इस पर अपना प्रतिवाद उत्तेजित स्वर से प्रकट किया। इसी समय सीढ़ियों पर एक भारी जूते की पद ध्वनि श्रवित हुई। क्षण भर में देखने में आया कि स्वामीजी ने इस अपरिचित अभद्र पुरुष को बलपूर्वक पकड़कर बाहर फेंक दिया और सीढ़ी के उस पार रास्ते के किनारे उसका शरीर जा गिरा। इस घटना से स्वामीजी की शक्ति का परिचय मिलता है। उस समय किसी में यह साहस नहीं था कि उनका प्रतिरोध या प्रतिवाद करता। शीघ्र ही आश्रम मंडली में इस कथा का प्रचार हो गया और सभी भक्त इससे बड़े आनन्दित हुए। इस कथा को सुनकर स्वामीजी के प्रति उनलोगों की आस्था बहुत बढ़ गई। गुरु के रूप में तथा एक सामाजिक व्यक्ति के रूप में अभेदानन्द की कोई तुलना नहीं है, ऐसा भाव उस दिन अनेकों के मन में आया।''

सिस्टर शिवानी कहती हैं— 'स्वामी अभेदानन्द की योगशक्ति और रोग निवारण शक्ति के सम्बन्ध में अनेकों को विश्वास था परन्तु स्वामीजी स्वयं इस विषय में कभी हाँ अथवा नहीं, कुछ भी नहीं बोलते। स्वामीजी की योग-विभूति से सम्बन्धित एक सर्वाधिक विस्मयकारी घटना मुझे स्मरण है। आश्रम की एक छात्रा की तरुण बहन का मस्तिष्क खराब हो गया था। आश्रम में वह प्रायः आया जाया करती और स्वामीजी से उसकी खूब जान-पहचान भी थी। इस विक्षिप्त तरुणी को मानसिक रोग के अस्पताल में जब इलाज के लिए भर्ती किया गया तो डॉक्टरों ने स्पष्ट शब्दों में जतला दिया कि इसकी चिकित्सा करने स कोई फल नहीं मिलेगा।

अब तो इस पगली तरुणी की बहन ने जो आश्रम की छात्रा थी, स्वामीजी की शरण में आकर उनसे कहना प्रारम्भ किया—'आप तो महात्मा हैं और आपकी योग-विभूति पर हमें अटूट विश्वास है। मेरी बहन की उन्माद रोग से रक्षा करें, उसे चंगा कर कृपया उसे बचा लें।' स्वामीजी योगी नहीं होने और योगबल द्वारा रोग-निवारण की पद्धति से अपनी अनभिज्ञता की जितनी वकालत करते उतनी ही वह छात्रा जिद पकड़ने लगी और अंत में उससे छुटकारा न मिलते देख उन्होंने कहा— अच्छा तुम तीन दिनों के बाद मुझसे मिलो, तब मैं तुम्हारी इस प्रार्थना का उत्तर दे सकूँगा।

उस छात्रा ने वैसा ही किया। तीन दिनों के उपरान्त वह आश्रम में उपस्थित हुई। अभेदानन्द उसके साथ उस मानसिक अस्पताल में चले गये। वहाँ पहुँचकर वे उस रोगिणी के समीप प्रशान्त मुद्रा में चुपचाप बैठ गए और स्नेहपूर्वक उसका हाथ पकड़ रहे और बीच-बीच में उसे थपथपाते रहे। वे कुछ

बोल नहीं रहे थे, अधिकांश समय वे अन्तर्लीन रहे, कोई जादू टोना नहीं किया, कोई शोरगुल भी नहीं किया। एकान्त भाव से प्रशान्त और निर्विकाम हो वे केवल कुछ क्षणों तक टकटकी लगाकर देखते रहे।

इसके कई दिनों के पश्चात् वह उन्मादिनी आरोग्य लाभ करने लगी। इतना ही नहीं अस्पताल के डाक्टरों ने सानन्द उसे वहाँ से मुक्त कर दिया। उसके बाद वह रोग-पूर्व स्वाभाविक अवस्था में आ गई। अपनी बहन के इस आरोग्य लाभ के पश्चात् उस छात्रा ने कृतज्ञतापूर्वक स्वामीजी के समीप आ उन्हें कुछ द्रव्य, सोना और आभूषण भेंट स्वरूप प्रदान किया। उसकी बात सुन स्वामीजी ने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया कि सत्य का कभी भी क्रय-विक्रय संभव नहीं। इस विषय में मैंने कुछ नहीं किया है। रोग मुक्ति के लिए जो कुछ करना था वह मेरे परम कृपालु गुरुदेव ने किया है।"

सिस्टर शिवानी के लेख से एक कथा और भी मालूम होती है। उसके एक निकट आत्मीय की एक तरुणी बान्धवी थी। इस तरुणी को किस प्रकार से अभेदानन्द की अलौकिक रूप से कृपा प्राप्त हुई, उसका वर्णन सिस्टर शिवानी ने दिया है। एक दिन मध्याह्न भोजन के समय वह तरुणी अपने कार्यालय में एक प्रचण्ड मानसिक आघात से खिन्न होकर मेरे निवास के कक्ष में चली आई। मैं उस समय बाहर थी और मेरी अनुपस्थिति में उस तरुणी ने आत्महत्या की चेष्टा की परन्तु हमलोगों के हाउसकीपर की सावधानी से उसका यह प्रयास असफल हुआ। उसके बाद मैं घर वापस आई और अपराह्न में उस तरुणी की सम्पूर्ण झंझटें मेरे माथे पड़ी।

उस लड़की ने स्वामीजी की कथा मुझसे पूर्व में सुनी थी। सायंकाल उसने कहा कि स्वामीजी की वक्तृता सुनने वह आश्रम जाएगी। निर्धारित समय पर हम सभी उस भाषण कक्ष में उपस्थित हुए। आश्चर्य की बात है कि भाषण के क्रम में स्वामी अभेदानन्द ने हठात् आत्महत्या की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में बोलना प्रारम्भ किया। उन्होंने कहा कि इस प्रवृति के परिणाम मनुष्य की देह और आत्मा के लिए विपर्ययकारी हैं। इस प्रवृति के जो शिकार हुए हैं उनके लिए उन्होंने अनेक आशा और आश्वासन भरे शब्दों का प्रयोग इस समय किया।

भाषण समाप्त होने पर उस रुग्ण मानसिक तरुणी ने स्वामीजी से मिलने की बात कही। साक्षात्कार के समय उसने स्वामीजी को धन्यवाद दिया और अपनी मानसिक दुरवस्था के विषय में स्पष्ट रूप से कहा। बड़े आश्चर्य की बात है कि स्वामीजी से साक्षात्कार के पश्चात् एक सप्ताह के भीतर वह तरुणी पूर्णरूपेण स्वस्थ्य हो गई। अब यदि कोई हमसे प्रश्न करता कि किस प्रकार

स्वामीजी उस दिन उसकी मानसिक पीड़ा को जान सके, कैसे उस आत्महत्या के प्रसंग को समझकर आश्वासन भरे शब्दों में उससे कहा तो मैं उत्तर देती कि यथार्थ में स्वामीजी एक अन्तर्यामी महापुरुष थे।"

प्राय: पचीस वर्षों तक अभेदानन्द ने अमेरिका में निवास किया और इस बीच उन्हें शताधिक बार अटलांटिक महासागर पार करना पड़ा था। इस दीर्घावधि में इन्होंने अक्लान्त और एकनिष्ठ कर्मसाधना के द्वारा स्वामी विवेकानन्द के अभीप्सित कार्यों का उद्यापन किया। वेदान्त के वचन अब अमेरिका एवं विश्व के अग्रसर देशों में शनैः-शनै प्रतिध्वनित होने लगे थे। उस समय अमेरिका की वेदान्त समिति भी सुसम्बद्ध रूप से संगठित हो गई थी।

अब अभेदानन्द ने संकल्प किया जन्मभूमि भारत में प्रत्यावर्तन करने का। जापान, चीन और प्राच्य के अन्य विभिन्न दूर स्थलों का परिभ्रमण करते हुए वे कलकत्ता में उपनीत हुए १९२१ ई० के शेष भाग में।

अपने अमेरिका प्रवास के समय अभेदानन्द ने रूसी पर्यटक निकोलस नटोभिच की पुस्तक 'द अननोन लाइफ आफ जेसस क्राइस्ट' को पढ़ा था जिसमें उसने तिब्बत के हिमिस मठ में रक्षित एक पुस्तक का विवरण उद्धृत किया है। उस पुस्तक में ईशु खीष्ट के तिब्बत और भारत आगमन का विवरण है। तत्व और तथ्य के सम्बन्ध में अभेदानंद का कौतूहल और उनकी गवेषण-निष्ठा असाधारण थी। इसीलिए तो भारत लौटते समय वे तिब्बत में उपस्थित हुए और हिमिस मठ जाकर प्रधान लामा के पास नटोभिच प्रदत्त तथ्यों के सम्बंध में उन्होंने अनेक प्रकार के अनुसंधान किए। उस अनुसंधान के फलस्वरूप उन्होंने अपनी 'काश्मीर और तिब्बत' नाम की पुस्तक में अनेक सनसनीखेज तथ्यों को सन्निविष्ट किया है।

१९२६ ई० में अपनी कल्पना के अनुसार अभेदानन्द अद्वैतवाद और रामकृष्ण तत्व के प्रचारार्थ अग्रसर हुए। तदनुकूल उन्होंने कलकत्ता और दार्जिलिङ्ग में रामकृष्ण वेदान्त मठ की स्थापना की। उसके बाद उनके जीवन के शेष भाग अतिवाहित हुए नूतन प्रतिष्ठानों में केन्द्र स्थापित करने में।[१]

कलकत्ता और दार्जिलिङ्ग के मठों में अनेकानेक मुमुक्षु भक्त, देश के अनेक कर्मी उनसे साक्षात्कार करते। कर्मयोग, मनीषा और तत्वज्ञान के सम्मिलित

१. असंख्य भाषणों के अतिरिक्त स्वामी अभेदानन्द ने अनेकानेक ग्रंथों की भी रचना की है। उनके संगठित रामकृष्ण वेदान्त मठ के द्वारा स्वामी प्रज्ञानानन्द के व्यवस्थापन में उनकी रचनावली प्रकाशित हुई है। अभेदानन्द की प्रवर्तित 'विश्ववाणी' पत्रिका इस मठ का मुखपत्र है।

मूर्त्त विग्रह स्वरूप इस महापुरुष की वाणी और पावन चरित्र ने उनके जीवन में आत्मिक साधना की प्रेरणा जागृत की।

आचार्य के रूप में स्वामी अभेदानन्द एक असामान्य दिग्दर्शक थे जिनके सान्निध्य में उपस्थित हो अनेक प्राच्य और प्रतीची के भाग्यवान् साधक उनके अमृतोपम उपदेशों का श्रवण कर अपने जीवन का तदनुकूल निर्माण करते।

ब्रह्मानंद तथा ब्रह्म साक्षात्कार के विषय में उन्होंने एक दिन कहा—ब्रह्मानंद में सभी छोटे-छोटे सुख अन्तर्निहित हैं और छोटे-छोटे ये सभी सुख इस ब्रह्मानंद के एक-एक कण हैं। बृहदारण्यक में आया है—एतस्यैवानंदस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। जिसे इस ब्रह्मानंद का आस्वादन हो चुका है उसे टुकड़े-टुकड़े आनंद नहीं चाहिए। वह तो आनंदमय हो चुका है और उसे कभी भी संसार-सुख का अभाव बोध होता ही नहीं। ब्रह्म साक्षात्कार के पश्चात् यह संसार तुच्छ हो जाता है और ये सुख क्षणस्थायी। यदि विचार किया जाय तो दुख ही अधिक दिखलाई पड़ते हैं।

दूसरी ओर ब्रह्मविद् पुरुषों के सुख नित्य हैं। वे जिस आनंद का उपभोग करते हैं वह तो निरपेक्ष है अर्थात् अन्य किसी भी वस्तु की वे अपेक्षा करते ही नहीं।

गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' श्लोक को लेकर आलोचना चल रही थी। इस प्रसंग में उन्होंने कहा—'ईश्वर-ईश्वर करते हो, कौन ईश्वर ? क्या वह आकाश में निवास करता है ? उसकी सेवा किस प्रकार करोगे ? इस समस्त मानव-समुदाय के मध्य उसको देखो। उसीको विराट् पुरुष कहा जाता है। इसी भाव से तुम संसार में पुत्र कलत्र के भीतर, पड़ोसी के भीतर--बंदनीय शूद्र, चांडाल, ब्राह्मण इन सबों के भीतर जो नारायण हैं, उसे देखो और इस प्रकार ईश्वर बुद्धि के साथ नाम, यश अथवा स्वार्थ सिद्धि किसी भी तरफ ध्यान न देकर उनके दुखों से दुखी होओ तथा उनकी सेवा करो।

तुम मन में क्या सोचते हो—जो कोई कार्य तुम करते हो उसे भगवान् उसी समय बैठकर देखते रहते हैं और उसका हिसाब लगाकर उसका फल प्रदान करते हैं ? ऐसा नहीं है। उनका सब कुछ का विधान और नियम बना हुआ है। वे तो नित्य, शुद्ध और मुक्त हैं। नित्य क्या—अनादि, अनन्त। शुद्ध अर्थात् उसमें कुछ भी मालिन्य नहीं है। इसीलिए वे ज्ञान और चैतन्य स्वरूप हैं। ऐसे भगवान् को प्राप्तकर हमलोग भी उसी अवस्था को प्राप्त करेंगे। जो अनित्य, अशुद्ध, अज्ञान अथवा बंधन है, उसे त्याग करना होगा। प्रतिदिन रात्रि के समय अच्छे-बुरे, पाप-पुण्य सब भगवान् को अर्पित करो। ठाकुर एक

फूल लेकर माँ के पाँव पर रखकर बोले–'माँ, यह न तुम्हारा पाप, यह न पुण्य, यह न तुम्हारी अविद्या, यह न तुम्हारा अच्छा, यह न तुम्हारा बुरा; मुझे शुद्धा भक्ति दो।' उपासना का यही है आदर्श। भगवान् की दृष्टि में भला-बुरा नहीं है। जैसे आग को लो। इससे भोजन भी बनाया जा सकता है और जाड़े में ठंढ़क पड़ने पर शरीर भी गर्म किया जा सकता है। पुनः जब बच्चा जल जाता है अथवा सर्वनाश होने पर लोग कहते हैं--ईश्वर का अभिशाप है। स्वार्थ की हानि होने पर हमलोग उसे बुरा कहते हैं परन्तु यह तो बताओ कि आग का इसमें दोष क्या है ? इसी प्रकार बिजली को लो। क्या सुन्दर ट्राम चलता है परन्तु टूटकर यदि माथे पर पड़ जाय तो अनिष्ट हो जायेगा। अतः एक ही वस्तु अच्छी भी है और बुरी भी है। यदि तुम भलाई को ग्रहण करते हो तो उसकी बुराई भी तुम्हें ग्रहण करनी होगी।' 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।' आग की ज्वाला के साथ-साथ उसके धुएँ को भी निश्चय ही ग्रहण करना होगा। ऐवस्योल्यूट गुड् अथवा बिलकुल अच्छा, यहाँ कुछ भी नहीं है। मन में यही भावना करो कि यह संसार भगवान् का है। 'मैं-मेरा' कहते ही फल के भागी बनोगे। वासना-वर्जित होकर कार्य करने का अभ्यस्त होना पड़ेगा।''[1]

एक दूसरे दिन स्वामीजी समझा रहे थे कि देह की भोगेच्छा त्याग कर ब्रह्मानन्द की ओर मन को ले जाना होगा। इसके लिए देह से आत्मा को पृथक् समझने की भावना का अभ्यास करना होगा। इस प्रसंग में उन्होंने कहा—'देह से आत्मा को पृथक् कर लेने पर बाह्यज्ञान लुप्त हो जाता है। हमलोगों ने ठाकुर को ऐसा होते देखा है। आँखें खुली रहने पर और उनमें अंगुलियाँ डालने पर भी पलकें गिरती नहीं। मन निश्चल होते ही शरीर जड़वत् हो जाता है। ये सभी वस्तुएँ ठाकुर ने दिखला कर सिखला दिया– व्याख्या करके नहीं। प्रत्यक्ष देखा है कि हाथ निर्जीव हो गए हैं—सब कुछ स्टीफ जैसा, गतिहीन। ऐसी कौन सी कठोर तपस्या है जिसे उन्होंने नहीं की ? सूर्योदय से सूर्यास्त तक निराहार रह कर उन्होंने स्थिर भाव से सूर्य की ओर अपनी दृष्टि निर्दिष्ट रखी इस प्रकार की अन्य अनेक साधनाएँ उन्होंने की।

क्रमशः ऐसी अवस्था हो गई कि वे अहर्निश गंभीर भाव में डूबे रहते। तब एक साधु एक रूल लेकर उन्हें खूब सावधानी से मारकर ज्ञान कराता और उस अवसर पर बलपूर्वक उन्हें कुछ खाने को भी देता। आघात बंद करने पर उनकी पुनः वही अवस्था हो जाती। १२ वर्षों तक वे सोये नहीं, आँखों की पलकें तक न गिरी। अत्यल्प साधक इस अवस्था को पहुँच पाते हैं। बाद में

१. महाराज की कथा : चित्स्वरूपानन्द

वे कहते--अरे, वह तो एक आंधी और तूफान था, उस समय मुझे चतुर्दिक का कुछ ज्ञान न था। उस समय हमलोग इसे समझ नहीं पाते--अवाक हो कर रह जाते। इस समय यह सब कुछ समझ में आ रहा है। एकबारगी देह से आत्मा को पृथक् करलिया था उन्होंने, उस प्रकार की विदेहावस्था में भी अपने शरीर को टिका पाने बाले इनके सदृश महापुरुष अत्यल्प हैं।"

प्रणव तत्व की व्याख्या करते समय अभेदानन्द उत्साहपूर्वक कहते; तस्य वाचकः प्रणवः--जो कुछ नाम स्मरण तुम करते, जो कुछ पढ़ते और सुनते, विष्णु का सहस्र नाम हो अथवा शिव का लक्ष नाम--सब कुछ उस एक प्रणव से ही हुए हैं। यही है यथार्थ तत्व। मांडूक्योपनिषद् तो ओंकार की ही व्याख्या है। अकार जाग्रतावस्था है, उकार स्वप्नावस्था, मकार सुषुप्ति एवं नाद तुरीयावस्था है। कंठ, तालु प्रभृति शब्दोच्चारण के एक-एक स्थान हैं। अकार की उत्पत्ति कंठ से है। इसके उच्चारण में कोई अड़चन नहीं वह अत्यन्त सरल है। अकार ही वेदों का मूल है 'म' शेष वर्गीय वर्ण है, ओष्ठ-द्वय बंद करके इसका उच्चारण किया जाता है और 'उ' इन दोनों के मध्य में है। अतएव तुम जितने भी प्रकार के शब्दों का उच्चारण करोगे, वे सभी यही एक ओंकार हैं। ईसाई लोग प्रार्थना के अंत में जिस 'आमेन' का उच्चारण करते हैं वह इसी का अप्रभंश रूप है।

"तज्जपस्तदर्थभावनम्। इस ओंकार का जप करना चाहिए। पत्थर के मस्तक पर भी क्रमशः एक-एक बूंद जल गिरते रहने से वह भी अपना एक निश्चित स्थान निर्धारित कर लेता है। उसी प्रकार क्रमशः एक वस्तु का चिंतन करने से होता है। मन अन्यत्र जाता ही नहीं। हाथ में हरिनाम की माला मानसिक बाधाओं को दूर करेंगी, मन में ऐसी भावना होती है--परन्तु इससे कुछ नहीं होता। जप के साथ-साथ उसके अर्थ का भी चिंतन करना होगा। इससे मन की मलिनता, कालुष्य प्रभृति दूर हो जायेंगे--चित्त शुद्ध हो जायगा। यह विषयी मन बड़ा बदमाश है। वह ईश्वर क्या केवल फूल मधु छींट कर शिक्षा देते हैं? ऐसा नहीं। वह तो मस्तक में ठोकर मारकर शिक्षा देते हैं। आत्मीय स्वजन की मृत्यु— इस प्रकार बार-बार अनेकों ठोकर खाकर ही मन की शिक्षा होती है। सांसारिक दृष्टि से ये सब घोर अशांति के कारण समझे जाने पर भी ईश्वरीय दृष्टि से अत्यंत कल्याणकारक हैं। तभी तो कुन्ती ने कहा था--हे प्रभो, मुझे दुख दो। संसार में इस प्रकार की प्रार्थना दूसरा कौन कर सकता है? कहावत भी है:--

जो करता अपनी आश, उसका करता मैं सर्वनाश।
सब कुछ श्मशान बन जाने पर मन होता निरालम्ब।
और तभी तो भगवान् भी होते अवलम्ब।"

एक दिन पुनः भक्तों को सम्बोधित करते हुए वे कह रहे थे[1]—ब्रह्म अथवा भगवान् तो ज्ञान स्वरूप हैं। तुम भी तो वही हो। ज्ञान स्वतः प्रकाश है। ज्ञान अपने प्रकाश के लिए अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता। आलोक को जानने के लिए अन्य किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। साधन-भजन करने से कब ज्ञान-लाभ होगा, इस प्रकार का लेखा-जोखा नहीं किया जा सकता। साधन-भजन तो आलू और बैंगन का व्यवसाय नहीं जो खाता-बही देखकर लाभ-हानि का लेखा-जोखा किया जाय।

साधन-भजन की बेला में यदि लाभ-हानि होती है तो वह एकमात्र साधक के निजी गुण और दोष के परिणाम हैं। निष्ठा और आन्तरिकता के साथ चेष्टा करने पर अवश्य ही सिद्धि-लाभ होगा। यदि दूसरों के प्रदर्शनार्थ जप-ध्यान करते हो तो स्वयं ठगे जाओगे। यथार्थ में साधन-भजन करते समय यह विचार करना होगा कि तुम कितनी आन्तरिकता से उसे करते हो, तुम्हारा मन कहाँ तक उदार तथा संस्कार मुक्त हुआ है, दूसरों का दोष-दर्शन न करके उनके गुणों की ओर तुम्हारी दृष्टि कहाँ तक जाती है, तुम अपने आपको जितना प्यार करते हो उसी प्रकार दूसरों के लिए तुम्हारे मन में कहाँ तक प्यार है, तुम्हारे भीतर से स्वार्थ बुद्धि और काम-भावना कहाँ तक दूर हुई हैं—इन सब पर विचार करना एवं इनका लेखा-जोखा करना होगा। ऐसा न करके तुम साधन-भजन भी करते हो और अपने मन के भीतर कुसंस्कारों को भी जगाए रखते हो तो उससे कुछ भी होने को नहीं।

साधन-भजन के समय एकान्त में रहकर मन को स्थिर करके यदि साधना की जाय तो मन के सभी संस्कार दूर हो जायेंगे। जिस दिन मन के सभी संस्कार दूर हो जाँयगे उसी दिन सिद्धि-लाभ हो जायगा। मन में संकीर्णता रखकर भगवान् को नहीं प्राप्त किया जा सकता। शंकराचार्य भी इसी तरह की बात कहते हैं—ज्ञान लाभ करने का अर्थ है अज्ञान को दूर करना। दीपक का प्रकाश तो है ही, अज्ञान रूप आवरण के कारण ही अन्धकार है। इसीलिए अंधकार दूर करने के लिए जिस प्रकार दीपक के प्रकाश की आवश्यकता होती है उसी प्रकार अज्ञान दूर करने के निमित्त साधन-भजन अर्थात् आत्मतत्त्व का विचार आवश्यक है। ब्रह्मज्ञान तो सर्वदा है ही, अतएव साधन-भजन द्वारा और क्या लाभ मिलेगा? जो वस्तु नहीं है उसे प्राप्त करने के लिए प्रयास या चेष्टा की

---

1. मन और मनुष्य : स्वामी प्रज्ञानानन्द

आवश्यकता है परन्तु जो सर्वदा विद्यमान है उसे पाने के लिए और क्यों चेष्टा की जाय ? अज्ञान के नाश के साथ ही साथ ज्ञान का प्रकाश हो जाता है ।"

तरुण साधक और भक्तगण निविष्टपूर्वक उनकी कथा सुन रहे थे । उन्होंने कहा—'इन सब की ठीक-ठीक धारणा करने हेतु कुंजी की आवश्यकता है ।'

'यह कुंजी क्या है ?'—इस प्रश्न के उत्तर में अभेदानन्द जी ने कहा—"ऐकान्तिकता, एकनिष्ठ भक्ति, विश्वास और व्याकुलता ये ही कुंजी हैं । उद्देश्य के प्रति मन की एकमुखता की आवश्यकता है । तुम्हारा मन केवल अपने इष्ट को चाहे, संसार की अन्य किसी भी वस्तु की वह कामना न करे । सभी पार्थिव वस्तुएं मन के बाहर पड़ी रहें, तुम्हारा मन आत्मनिष्ठ होकर रहे । ऐसी अवस्था में मन का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाएगा । मन को इस आत्मनिष्ठ अथवा ब्रह्मावगाही करने के कौशल के ज्ञान को ही कुंजी कहा जाता है । 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं वरेण्यम्'—आत्मा हृदय-गुहा में अवरुद्ध अथवा छिपी हुयी है । इसी गुहा के द्वार को खोलने के लिए इस कुंजी की आवश्यकता है ।"

आत्मज्ञान और अद्वैतबोध के द्वारा ईश्वर-प्रेम और ईश्वर-भावना किस प्रकार प्रतिष्ठित हो सकती है, उस संबंध में अभेदानन्द भी प्रायः एक उदाहरण दिया करते थे । वे कहते—"एक सूफी अपने किसी मित्र के द्वार पर जाकर दस्तक देने लगा । भीतर से प्रश्न किया गया, 'बाहर कौन है ?' सूफी ने उत्तर दिया—'मैं, तुम्हारा मित्र ।' उस मित्र ने गंभीर स्वर से उत्तर दिया—'मित्र जाओ, मेरे टेबुल पर दो व्यक्तियों के लिए स्थान नहीं है ।' वह सूफी मित्र उस समय एक घोर कष्ट के साथ लौटने को बाध्य हुआ परन्तु विरह की ज्वाला ने उसके हृदय को दग्ध कर दिया । अतएव वह लौट आया, उसने भय और श्रद्धा से पुनः अपने मित्र के द्वार पर दस्तक दिया । भीतर से पूर्ववत् प्रश्न किया गया—'बाहर कौन है ?' इस बार सूफी मित्र ने उत्तर दिया—'हे प्रियतम, तुम्हीं ।' तब द्वार-खुला और उसके मित्र ने कहा—'जब तुम्हारा मेरापन समाप्त हो गया है तब भीतर आओ । कारण कि मेरे घर में दो जनों के मेरेपन के लिए स्थान नहीं है ।"

एक दिन मन के सम्बन्ध में अपने भक्त साधकों से कहा—"मनुष्य के मन के सदृश और कुछ है कि नहीं, बोलो तो । मन के समान बली कौन है ? उसके पीछे रहनेवाली सर्वशक्तिमय आत्मा है । चन्द्र जिस प्रकार सूर्य से प्रकाश ग्रहण करके ज्योतिष्मान् होता है, मन भी उसी प्रकार करता है । अन्यथा मन तो एक जड़ यंत्र है, आत्मचैतन्य ही उसके पीछे रहकर उसे नियंत्रित करता है और मन तदाज्ञानुरूप कार्य करता है । मन सब कुछ करता है का अर्थ है आत्मा ही मन को प्रेरणा प्रदान करती है । मन तो उसका माध्यम या यंत्र है परन्तु आत्मा के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि गुण

या अहंकार नहीं हैं। फिर भी 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति', उसी के आलोक से संसार की सभी वस्तुएँ आलोकित होती हैं। जीव-जन्तु सभी उसी से शक्ति और प्रेरणा प्राप्त कर कार्य करते हैं। देदीप्यमान सूर्य की किरणें सभी के ऊपर समान भाव से पड़ती हैं, उसमें कुछ भी पक्षपात नहीं है। सूर्य की किरणें यदि न हो तो आलोक का अस्तित्व नहीं रहेगा। आग भी क्या मिलेगी? आत्मा भी उसी प्रकार है। मन आत्मा का द्वारपाल है, एक साधारण लोक है, ऐसी स्थिति में मन के ही कर्त्ता भाव से और मन के वशीभूत हो यदि सृष्टि हो तो अनर्थ हो जाएगा।

साधना का अर्थ ही है मन के अहं और कर्तृत्वाभिमान का विनाश करना; मन को समझा देना कि तुम कर्त्ता नहीं हो, कर्त्ता तो है शरीरी आत्मा—जो इस शरीर में भी है और विश्व में सर्वत्र व्याप्त भी है। जब इस तरह के भाव जागृत होंगे तभी तुम्हारा मन वशीभूत होगा और तुम मन के परे जा सकोगे। मुक्ति के मार्ग में मन ही बाधक है और वही मन मुक्ति में सहायक भी है। बाधक—कारण कि कर्त्ता रूप आत्मा मन से पृथक् है, इस तथ्य को मनुष्य को मालूम नहीं होने देता और सहायक—कारण कि मन ही बुद्धि रूप से आत्मा से परिचय कराता है। बुद्धिवृत्ति के द्वारा ही चैतन्य ब्रह्म प्रतिविम्बित होता है और उसीके द्वारा वृत्तियों के मध्य जो अज्ञान है उसे नष्ट कर ज्ञान स्वत: प्रकाशित होता है। यही ज्ञान शुद्धज्ञान अथवा आत्म-ज्ञान है—अंग्रेजी में जिसे कहते हैं सेल्फ नौलेज अथवा गुड कौनसेन्स। श्री श्री ठाकुर ने इस तथ्य को भिन्न रूप से कहा है। उन्होंने कहा है—महामाया अन्त:पुर तक नहीं जाती हैं, वे दूर से ही ब्रह्म को देखकर अदृश्य हो जाती हैं। इसे दिखलाने की शक्ति तो मन में ही है अर्थात् बुद्धि की। लेकिन मन अथवा बुद्धि ही माया अथवा महामाया है और इसके साथ ब्रह्म का भेद केवल पार्थिव दृष्टि से है, पारमार्थिक दृष्टि से दोनों एक ही हैं।"[१]

भक्तलोगों ने प्रश्न किया—"महाराज, श्री श्री ठाकुर ने कहा था कि यदि मन प्रसन्न रहे तो वह आत्मज्ञान भी दे सकता है। ब्रह्म तो मन और बुद्धि से अगोचर है परन्तु शुद्ध मन के द्वारा गोचर है, वह क्या है?"

अभेदानन्दजी ने उत्तर दिया—"हाँ, निश्चय ही वैसा है। मन प्रसन्न होने का अर्थ है मन का शुद्ध होना। मन की संकल्प-विकल्प ये दोनों वृतियाँ चले जाने पर ही मन शुद्ध होता है। साधक का मन शुद्ध होने पर दूसरा मन तो रहता नहीं, तब तो शुद्ध चैतन्य रूप ही प्रतिभात या स्पष्ट होता है। इसी को

---

१. मन और मनुष्य : स्वामी प्रज्ञानानन्द

भिन्न प्रकार से कहा गया है कि मन प्रसन्न रहने पर वह आत्मज्ञान देता है। दोनों एक ही बात है।"

अभेदानन्दजी के सभी तत्वोपदेशों में ज्ञानचर्या एवं आत्मज्ञान-लाभ की कथा सुनने को मिलती है। परन्तु उनके सभी वक्तव्यों के पार्श्व मे निहित है मानव-प्रेम, जीवों के लिए असीम प्रेम की भावना।

वे कहा करते कि इस युग में ज्ञानचर्या की चेष्टा तो विवेकानन्द ने ही की थी। जब देश अंधकार में डूब चुका था तब तो वेदान्त और उपनिषद् की चर्या की आवश्यकता थी। आत्म-ज्ञान तो लाभ करना होगा। तभी मृत्यु-भय नहीं रहेगा—संसार को प्यार कर सकोगे। ऐसा नहीं करके केवल अपना-अपना पुत्र और कलत्र। संसार डूब जाए मुझे क्या? इसकी औषधि है प्रेम—तुम अपने समान अपने पड़ोसी को भी प्रेम करो—इस प्रकार का प्रेम अभी तो संन्यासियों के भीतर भी नहीं है। तभी तो वेदान्त की चर्या की आवश्यकता है–वृक्ष के नीचे बैठकर नहीं तथा यह केवल संन्यासियों के लिए ही नहीं है। घर में, स्त्री-पुत्र के अन्दर, समाज में और पड़ोसियों के मध्य में इसका प्रचार करना होगा। प्रत्येक मां अपने पुत्र को यह शिक्षा दे; तभी हमलोगों के देश का मंगल होगा।

भक्त प्रवर चित्स्वरूपानन्द के अनुसार अभेदानन्द के चरित्र की विशेषता थी उनका अपार मानव-प्रेम। इस दृष्टि से स्वामीजी का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने कहा था: उनके जीवन में मनीषा, प्रतिभा, साहस, क्षुरधार-विचारबुद्धि, निविड़ दार्शनिकता और गंभीर-ज्ञान समान रूप से पुष्पित हुआ था। इस सब के ऊपर उनके चरित्र का परम माधुर्य था उनकी असीम सरलता तथा निष्कारण सबों से प्रेम करने की भावना। आज जब वे सब कथाएँ स्मरण होती हैं तो मन में प्रतीत होता है कि वे यथार्थ में क्या थे वह ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। केवल इतना ही जानता हूँ कि मेरे साथ उनका एक गंभीर आन्तरिक आकर्षण था। वे एक प्रेमी थे, सत्य के द्रष्टा थे, अत: उनके समीप जो कुछ प्राणवान् है तत्सम्बन्धी प्रेरणा उनसे प्राप्त होती थी। विश्व के दरबार में प्रचार हेतु जाने पर भी वे भूल नहीं सके स्वदेश के दु:ख और स्वजाति की व्यथा को। 'इंडिया ऐंड हर पीपुल' यह कहते ही देश के दु:खों की स्मृति से उनके प्राण रो पड़ते। उनका प्रेम-सागर भौगोलिक सीमा में आवद्ध नहीं किया जा सकता। वे केवल बंगाल के ही नहीं है, भारतवर्ष के ही नहीं हैं–सम्पूर्ण मानवों की अन्त:-वेदी पर युग-युग से उनका कालजयी सिंहासन विराजमान है।

मानव इतना सरल है, उसे न देखने पर यह बात मैं कभी भी विश्वास

नहीं करता। मैंने कई बार उसे क्षमा-मूर्त्ति रूप में देखा है और क्षमा-सुन्दर चक्षुओं से देखा है। कितने ही लोग आते हैं, भक्ति दिखलाते हैं, प्रणाम करते हैं और कृतार्थ होकर चले जाते हैं और फिर कई लोग इस स्वर्णिम आदर्श को निर्मम भाव से अस्वीकार कर चले जाते हैं। परन्तु जिसके समक्ष ये सभी चीजें घटित होती हैं, उसकी हँसी––उस देवदुर्लभ हँसी को कोई भी म्लान नहीं कर सकता।[१]

स्वामी अभेदानन्द के दीर्घ कर्ममय जीवन में अब शनैः-शनैः परित्याग की पारी आई। इस समय बीच-बीच में मंद-मंद मुस्कान के साथ अपने अंतरंग भक्तों की ओर देखकर वे कहते—'जानते हो, इस बार ठाकुर मुझे पेंशन देंगे। इस शरीर से बहुत खटा हूँ, अब विश्राम करने की इच्छा होती है।'

शरीरान्त होने के डेढ़ वर्ष पूर्व से ही स्वामीजी को अनेक शारीरिक कष्टों को भुगतना पड़ा। अंतरंग भक्त एवं सेवकों ने प्राणपण से उनकी चिकित्सा और सेवा की व्यवस्था की।

रोग शय्या-ग्रस्त होने पर भी अभेदानन्द तरुण साधनार्थियों को उपदेश देने में नहीं चूकते। जो कोई भी उनके समीप जिज्ञासु होकर जाता, पाता उनका साधन उपदेश और इस प्रकार रामकृष्ण की संतति के मुख से रामकृष्ण की स्मृति की कथाओं को सुनकर अपना जीवन सार्थक करता।

एक दिन स्वामीजी एक बालक की भाँति हठात् बोल उठे—'देश के सर्वस्व त्यागी नायक सुभाष को देखने की मेरी प्रबल इच्छा हो रही है।'

इस संवाद को पाते ही सुभाषचन्द्र ने स्वामीजी के वेदान्त मठ में उपस्थित हो उन्हें अपना प्रणाम निवेदित किया। उस समय स्वामीजी अत्यधिक अस्वस्थ थे, वे उठने-बैठने की स्थिति में नहीं थे परन्तु देश के मुक्ति-संग्राम के पुरोधा, पुरुष-सिंह सुभाषचन्द्र को देखते ही वे आनन्द से विह्वल हो उठे। उत्साहपूर्वक उन्होंने कहा—'आओ, आओ सुभाष। एकबार तुम्हारा आलिंगन तो कर लूँ।'

किसी प्रकार उठकर अपने दोनों हाथों से स्नेहपूर्वक सुभाषचन्द्र का हृदय से आलिंगन किया और गद्‌गद् होकर बोले––'मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ, तुम विजयी होओ।' असीम श्रद्धा के साथ एक नम्र किशोर बालक की तरह सुभाषचन्द्र स्वामीजी की शय्या के बगल में बैठे रहे और बीच-बीच में दोनों में देश के भविष्य के सम्बन्ध में बातचीत होने लगी। एक घंटा के पश्चात् सुभाषचन्द्र ने स्वामीजी को प्रणाम कर बिदा ली।

---

१. महाराज की कथा : चित्स्वरूपानन्द

शरीर-त्याग में अब विशेष विलम्ब नहीं था, इस बात को अभेदानन्द अच्छी तरह जानते थे। कभी-कभी अपने अंतरंग भक्तों से कहते—-क्या रे, तुमलोग मेरे शेष कृत्य कहाँ करोगे ?'

अनेक प्रकार की कथाओं को कहकर वे स्वयं निर्देशित करते—'सब कोई अपना भला चाहता है, सभी ठाकुर के चरणों के तले सोना चाहते हैं।' भक्तगण समझ गए कि वे काशीपुर श्मशान में, ठाकुर रामकृष्ण के समाधि स्थल की कथा का उल्लेख कर रहे हैं।

चिर विदा की निर्धारित घड़ी आ पहुँची। १६३६ ई० के ८ सितम्बर को आत्मकाम साधक श्री अभेदानन्द ने सामाधि योग में महाप्रयाण किया।

अध्यात्मशिल्पी श्रीरामकृष्ण ने यत्नपूर्वक अपने साधकगण रूपी संतानों का जो मणिमय हार गूँथा था उसकी एक उज्ज्वल मणि उस दिन टूट गई।

वेलूर मठ के संन्यासीगणों ने अपने इस गुरु भाई के सम्बन्ध में अपनी आन्तरिक श्रद्धा निवेदित करते हुए लिखा था१—"वे (अभेदानन्द स्वामी) भारतवर्ष के बाहर हमलोगों की जन्मभूमि और उसकी धर्म-संस्कृति के एक प्रख्यात प्रवक्ता थे जिनके जीवन में एक साथ गंभीर अध्यात्म शक्ति एवं सेवा-निष्ठा का सम्मिलन हुआ था और जिनका पुण्यमय जीवन अखिल मानवता के परम कल्याण में निःशब्द निवेदित हुआ था। ईश्वरेच्छा से अपने सद्गुरु के कर्मव्रत के उद्यापन हेतु आविर्भूत हुए स्वामी अभेदानन्द। अतएव उस व्रत की समाप्ति के पश्चात् वे अन्तर्धान हो गए उसी आलोक—उत्स में जहाँ से वे इस धराधाम पर आविर्भूत हुए थे।"

---

१. द डिसाइपुल्स ऑफ रामकृष्ण : अद्वैत आश्रम

गोस्वामी लोकनाथ

श्रीगौरांग महाप्रभु का आविर्भाव प्रेमाभक्ति के एकमात्र शक्तिधर नायक के रूप में नवद्वीप में हुआ था जिनके पाद-पद्मों की छाया में वैष्णव नर-नारियों का समूह अनेकानेक दलों में विभक्त हो आश्रय ग्रहण कर रहा था। वैष्णवों में अग्रगण्य और सर्वजन श्रद्धेय अद्वैताचार्य, श्रीवास पंडित और अवधूत नित्यानन्द प्रभृति को बारी-बारी से उन्होंने आत्मसात् कर लिया था और इसके साथ ही कीर्त्तन-स्थल—श्रीवास का निवास—तो मानो प्रभु और उनके परिकरों के मिलन का स्वर्ग-स्थल में परिवर्तित हो रहा था जहाँ लीला-नाट्य और रस विलास की विचित्रता अपने नित्य नूतन रूप में उद्घाटित हो रही थी और उसके साथ-साथ प्रोद्भासित हो रही थी श्रीगौरांग की ज्योतिरूपा भगवत्ता।

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी का नवद्वीप भारतवर्ष के एक प्रख्यात विद्या-केन्द्र के रूप में विश्रुत था जहाँ उच्चतर संस्कृत टोलों में (चतुष्पाठी) दिक्पाल पंडित, तार्किक और दार्शनिक अपने सान्निध्य में प्रतिभाशाली शत-शत छात्रों को नव्य न्याय, स्मृति और वेद-वेदान्त की शिक्षा प्रदान कर रहे थे। प्राच्य के इस आक्सफोर्ड में तत्कालीन भारत के कोने-कोने से पंडितों और शिक्षार्थियों का समुदाय एकत्रित हो रहा था। परिणाम स्वरूप उस समय के नवद्वीप के सारस्वत जीवन में जो कोई तरंग, जो कोई तार्किक विचारधारा और जो कोई धर्म-संस्कृति का आन्दोलन उद्वेलित होता, वह देश के सामाजिक जीवन के सभी स्तरों को त्वरित प्रभावित करता।

श्रीगौरांग के नवीन प्रेमाभक्ति का जो ज्वार उस समय सम्पूर्ण देश के दिग-दिगन्त को तरंगायित कर रहा था उसकी एक लहर उत्तर बंगाल के तालखड़ी ग्राम तक पहुँच चुकी थी।

तालखड़ी के संस्कृत टोल के तरुण पंडित लोकनाथ चक्रवर्ती को, लोक-मुख से श्रीगौरांग के आविर्भाव की कथा सुनकर, हृदय में असीम आनन्द हुआ। ये गौरांग तो उनके एक समय के प्रिय मित्र थे जो विश्वम्भर मिश्र के नाम से

अभिहित थे। ये दोनों प्रायः समवयस्क ही थे। आचार्य अद्वैत के समीप जब लोकनाथ भागवत का अध्ययन कर रहे थे उसी समय विश्वम्भर पंडित गंगादास के टोल पर व्याकरण का पाठ कर रहे थे और दोनों के बीच परस्पर घनिष्ठता भी थी। वही विश्वम्भर आज गौड़ीय वैष्णवों के महानायक रूप में आविर्भूत हुए हैं जिन्हें श्रेष्ठ साधक साक्षात् भगवत्स्वरूप समझते हैं। अतः लोकनाथ के हर्ष की आज सीमा नहीं है।

विषय-विरक्त और नैष्ठिक वैष्णव साधक पंडित लोकनाथ ने अब संसार-त्याग का संकल्प लिया और संसार से विदा ले वे उपनीत हुए नवद्वीप में।

गौरांग प्रभु अपने अलिन्द में विराजमान हैं और उनके सम्मुख उपविष्ट हैं गंगाधर, मुरारि, श्रीराम आदि अन्तरंग भक्त। भावावेश की अवस्था में प्रभु कभी तो कृष्ण-कथा कहते हैं और कभी कृष्ण-विरह से मूर्च्छित हो जाते हैं। उनकी मुखाकृति से चिन्ता और गंभीरता प्रकट हो रही है।

इसी बीच स्थिर हो प्रभु संन्यास के संकल्प की बात कह रहे हैं। वे अपने भक्तों को समझा रहे हैं कि कृष्ण-विरह में उन्मत्त हो वे यदि निज गृह-त्याग न करेंगे तो लोग कृष्ण के लिए किस प्रकार व्याकुल होंगे? सर्वत्यागी संन्यासी न होने पर विषयी लोग उनकी कथा किस प्रकार सुनेंगे? इस वार्त्तालाप के क्रम में प्रभु की मुखाकृति बीच-बीच में अत्यधिक गंभीर होते देख भक्तों के प्राण सूख रहे थे। विषण्ण हो वे मन ही मन विचार करते हैं कि प्रभु-विछोह संभवतः अब आसन्न ही है और इसमें अब अधिक विलम्ब नहीं।

इसी समय एक सुदीर्घ पथ-गमन जन्य श्रान्ति और क्लान्ति ले भक्त-प्रवर लोकनाथ वहाँ उपस्थित हुए। आते ही विरहातुर लोकनाथ एक कटे हुए वृक्ष की नाईं प्रभु-चरणों पर गिर पड़े। सर्वदर्शी प्रभु ने अपनी बाहें विस्तृत कर उन्हें प्रेमालिंगन में आवद्ध किया जिससे इनके प्राण परमानन्द से उद्वेलित हो उठे। कृष्ण-चिह्नित भक्त लोकनाथ के हृदय में कृष्णप्रेम की विह्वलता उद्दीप्त हो उठी थी अतः सर्वस्व त्यागकर आज वे उपस्थित थे प्रभु-सान्निध्य में।

गद्‌गद् वाणी से श्रीगौरांग बार-बार उनसे कह रहे हैं—'लोकनाथ! मेरे प्राणों के लोकनाथ! तुम आ गए हो, अहा! श्रीकृष्ण की क्या ही कृपा है! अपने भूले हुए मित्र को मैंने आज पुनः पा लिया है।'

नव-नव भावोद्दीप्त हो प्रभु ने अब नर्तन और कीर्त्तन प्रारम्भ किया। प्रभु का दिव्य लावण्य, उनकी भाव-विह्वलता और उनके सात्विक प्रेम-विकार के दर्शन से लोकनाथ तुरत आनन्द-विभोर हो उठे। मानो उनका चिर वांछित सुख-स्वप्न आज साकार हुआ। इस बार उन्हें प्राप्त हुआ कृष्ण-प्रेम के मूर्त्त विरह स्वरूप गौरांग का मधुर सान्निध्य और इसके साथ ही भरपूर हुआ उनका दिव्य प्रेम। आज लोकनाथ के नयन, मन और प्राण सभी मानो सार्थक हुए।

मध्य रात्रि में कीर्त्तन, कृष्ण कथा और इष्ट-गोष्ठी समाप्त हुई। तब प्रभु ने कहा—'बहुत दूर से पैदल चलकर आने के कारण तुम श्रान्त और क्लान्त हो। आज तुम घर जाकर विश्राम करो और कल प्रातः हमलोगों का पुनर्मिलन होगा। अन्तरंग कथा, प्राण सदृश गोपनीय कथा के सम्बन्ध में मैं तुम से उस समय कहूँगा। लोकनाथ, कृष्ण की क्या अपार महिमा है जो इस बार तुझ सदृश मित्र के साथ उन्होंने मेरी भेंट करा दी है। कृष्ण-कार्य के लिए मुझे तुम्हारी अत्यधिक आवश्यकता है। कल तुम्हें सभी बातें स्पष्ट रूप से कहूँगा।"

प्रभु की यह स्पष्ट वाणी सुनने के पश्चात् लोकनाथ जब घर पहुँचे तो उन्हें सम्पूर्ण रात्रि निद्रा नहीं आई। उनका चित्त एक अनिर्वचनीय आनन्द से उद्वेलित हो रहा था। प्रभु की कई स्नेहपूर्ण कथाएँ उनके अन्तस्तल में प्रतिध्वनित हो रही थी।

प्रभात वेला में श्रीगौरांग के सान्निध्य में उपस्थित हो लोकनाथ ने प्रभु की चरणा वंदना की और उठ खड़े हुए, उसी समय प्रभु ने उन्हें अपनी भुजाओं में प्रगाढ़ स्नेहालिंगन किया। प्रसन्न स्वर में प्रभु ने कहा :— "लोकनाथ ! तुम परम भाग्यवान् हो। कृष्ण के कार्य में तुम्हें अविलम्ब समर्पित होना होगा। अब तुम्हें नवद्वीप में रहने की आवश्यकता नहीं, तुम अविलम्ब वृन्दावन चले जाओ। प्रेम-माधुर्य-मंडित कृष्ण की लीला स्थली आज लोक-चक्षु से ओझल हो रही है। अनेकानेक वर्षों के व्यवधान के कारण वे सभी पुण्य-स्थल अब अरण्य में परिवर्तित हो रहे हैं। तुम उनके उद्धार का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लो। अभी से तुम्हारे दो ही पावन नित्य कर्म सुनिश्चित हुए, प्रथम तपस्या और द्वितीय कृष्ण-तीर्थों का उद्धार।'

लोकनाथ के कर्ण-कुहरों में ये शब्द क्या पड़े, मानो उसके मस्तक पर वज्रपात हो गया। उसने मन में सोचा कि गौर सुन्दर यह क्या निष्ठुर कथा मुझसे कह रहे हैं। उसने करवद्ध हो प्रभु से विनती की, "प्रभु ! बड़ी आशा सँजोये गृह-त्याग कर आपके सन्निकट नवद्वीप में आया था आपकी भुवन मोहिनी लीला का रसास्वादन करने और एक भिखारी की तरह यहाँ एक ओर किनारे में पड़े रहने हेतु। परन्तु इस प्रकार क्या आप हमारी आशाओं पर वज्रपात करना चाहते है ? अपने दर्शन लाभ के पश्चात् इस प्रकार क्यों आप मुझे दूर भगाना चाहते हैं ? हमारे कौन से अपराध के कारण आप मुझ पर इस तरह निर्मम हो रहे हैं ?"

"मैं निर्मम कहाँ हूँ लोकनाथ ? तुम पर कृष्ण-कार्य का जो भार सौंप रहा हूँ, उसे छोड़ वैष्णवों की दूसरी कौन सी अभिप्सित वस्तु है, बोलो तो लोकनाथ ?"

'नहीं प्रभु, आप जो कह रहे हैं उसे मैं समझता हूँ। आपके विशाल हृदय में इस नगण्य लोकनाथ के लिए इतना स्थान भी नहीं है। तभी तो उसे आप इस प्रकार यहाँ से हटा रहे हैं।'

उत्तर देते हुए प्रभु ने कहा—'लोकनाथ, वृन्दावन ही तो हमारा हृदय है। उसी वृन्दावन में तो तुम्हें स्थायी रूप से स्थापित कर रहा हूँ। भगवान् कृष्ण ने कहा है—वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकम् न गच्छामि। उसी वृन्दावन में चिर दिनों तक कृष्ण-ध्यान में विभोर होकर और उनका सहचर बनकर तुम निवास करोगे। क्या यह कम सौभाग्य की बात है? लोकनाथ, जो वृन्दावन-विहारी-कृष्ण और उनकी लीलाएँ तुम्हारे उपजीव्य हैं, उसी वृन्दावन में तो मैं तुम्हें भेज रहा हूँ।'

'प्रभो, आप इतने निष्ठुर न हों। हमें इस समय आप दूर न करें।' क्रन्दन करते हुए लोकनाथ ने प्रतिवाद किया।

प्रबोधन के स्वर में प्रभु ने पुनः कहा—'मेरी कथा ध्यानपूर्वक सुनो लोकनाथ। नित्य वृंदावन तो सिद्ध वैष्णवों का आस्वाद्य है, सभी जनों के लिए वह नहीं है परन्तु पार्थिव वृन्दावन सकल भक्त नर-नारियों का आस्वाद्य है। मैं चाहता हूँ तुम्हारी साधना और कर्म के द्वारा उस पार्थिव वृन्दावन को जागृत कर उसका द्वार भक्त और पाखंडी सबों के लिए उन्मोचित करना। हताश मत होओ लोकनाथ, मैं भी वृन्दावन जाऊँगा और जायेंगे मेरे साथ मेरे प्राणप्रिय भक्तगण। हम सब मिलकर कृष्ण-लीला की पवित्र स्थली को प्रकट करेंगे और लीला-माहत्म्य का प्रचार-प्रसार कर अपने जीवन को सफल करेंगे।'

इसके साथ ही प्रभु ने वृन्दावन-वास का निर्दिष्ट स्थान और दिनचर्या के विषय में संकेत किया। इस संबंध में भक्त नित्यानन्द दास ने अपने प्रेम-विलास में लिखा है :—

कदम्ब श्रेणी में है चीर घाट वासस्थली
जिसके निकट पूर्व है कुंज परम माधुरी।
जहाँ वकुल वट तमाल हैं विराजते।
जहाँ के दृश्य हैं मन को सदा मोहते॥
वंशीवट में है निधुवन वासस्थली।
जहाँ त्रिविध वायु है बहा करती॥
नित्य करना यमुना स्नान ओ अयाचक भिक्षा।
और करना भजन स्मरण जीव देह दीक्षा॥

प्रभु-दर्शन और कृपा-लाभ के पश्चात् यह विरह-व्यथा असह्य थी। अपने अन्तरंग भक्तों के लिए प्राणप्रिय प्रभु नवद्वीप में आनन्द का मेला लगाकर

प्रेमभक्ति के दुर्लभ रस को प्रवाहित कर रहे थे। इसे त्यागकर अरण्य संकुल और निर्जन वृन्दावन में किस तरह दिन व्यतीत होगें, इसकी परिकल्पना तक लोकनाथ नहीं कर पा रहे थे। परन्तु इसके साथ ही प्रभु की आज्ञा की कथा और कृष्ण-लीला स्थलों के उद्धार सम्बन्धी ईश्वरीय व्रतों के पालन जैसे गुरुतर भार को भुला भी नहीं पा रहे थे। अत: वे वृन्दावन वास करने अवश्य जायेंगे परन्तु प्रभु का पुण्यमय दर्शन और साहचर्य कुछ दिनों के लिए उन्हें और चाहिए।

सजल नेत्रों से उन्होंने प्रभु से कुछ और दिनों के लिए सान्निध्य की भिक्षा माँगी। प्रभु ने अपनी सहमति प्रकट की। तब लोकनाथ ने नवद्वीप में पाँच दिनों तक उस प्रेम लीला का प्राण भर कर दर्शन किया और तत्पश्चात् वृन्दावन धाम की यात्रा की। इस जीवन में प्रभु के साथ उनका साक्षात्कार पुनः नहीं हो सका। प्रभु द्वारा आदिष्ट कर्मों का उद्यापन एवं उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर कृष्ण-भजन में निष्ठा ही उनके दीर्घ जीवन का उपजीव्य बना।

जिस समय लोकनाथ के वृन्दावन-यात्रा की कथावार्ता चल रही थी उस समय गदाधर पंडित का नवीन शिष्य भूगर्भ प्रभु के समीप दंडायमान था। वृन्दावन जाकर साधन-भजन की प्रबल इच्छा बहुत दिनों से प्रच्छन्न रूप में उसके अन्दर थी। भूगर्भ ने इसे एक परम सुयोग समझ प्रभु से कहा— 'प्रभु, आपकी आज्ञा यदि मिले तो मैं भी पंडित लोकनाथ के साथ वृन्दावन जा सकता हूँ? उनका पार्श्वचर बनकर आप द्वारा निर्दिष्ट कार्यों को यत्किंचित् भी यह अधम यदि सम्पन्न कर सकेगा तो वह अपना परम सौभाग्य समझेगा।'

असहाय और सम्पदाहीन अवस्था में वृन्दावन जाने पर लोकनाथ के साथ एक सहचर रहना उत्तम होगा, ऐसा सोचकर प्रभु के आनन्द की सीमा नहीं रही। प्रभु ने प्रसन्न हो भूगर्भ को लोकनाथ का सह-यात्री होने की अनुमति प्रदान की और इस प्रकार प्रभु की आज्ञा जान गदाधर पडित को भी किसी प्रकार की आपत्ति न रह गई। प्रभु ने तुरत उन दोनों को अपने निर्दिष्ट कार्य-सम्पादन हेतु विदा किया।

अपने भक्तों के संग कीर्तन के रंग में गौरांग प्रभु प्राय: प्रमत्त हो उठते थे जहाँ सात्विक प्रेम-विकार के फलस्वरूप इनका बाह्यज्ञान लुप्त हो जाता था। फिर वे दिव्य भावों से प्राय: आविष्ट हो जाया करते थे। सूक्ष्मेक्षण से पता चलता था कि ईश कार्य के सम्पादन हेतु एक प्रेरित पुरुष के रूप में उनका आगमन हुआ था। उन्होंने जिस कार्य को ग्रहण किया, शत-शत भावावेश और प्रमत्तता के मध्य भी, उसके लक्ष्य एवं दायित्व को वे विस्मृत नहीं कर सके। वैसी अवस्था प्राप्त होने पर भी वे उससे किंचित् च्युत न हुए।

आचार्य अद्वैत, श्रीवास प्रभृति भक्तों की सहायता के लिए ही प्रभु ने नवद्वीप में वैष्णव आन्दोलन के भाव तरंगों को प्रवाहित किया था। बंगाल में वैष्णव संगठन कार्य हेतु उन्होंने अवधूत नित्यानन्द को आत्मसात् कर उसे गृही और व्रती बनाया था। इसी प्रकार वासुदेव सार्वभौम, स्वरूप, राय रामानन्द तथा राजा प्रतापरुद्र के माध्यम से उड़ीसा में भक्ति-आन्दोलन को दृढ़मूल किया।

अंत में नवयुग के वृन्दावन के गठन हेतु उन्होंने लोकनाथ, रूप, सनातन प्रभृति को वृन्दावन में गोस्वामी रूप से बसाया। उन्हीं गोस्वामियों की तपस्या और कर्म साधना के फलस्वरूप वृन्दावन में भक्ति-साम्राज्य की स्थापना और उसका प्रसार संभव हो सका। इसी के फलस्वरूप पार्थिव वृन्दावन के कृष्ण-लीला-स्थलों का जिस प्रकार उद्धार संभव हो सका उसी प्रकार सम्पूर्ण भारतवर्ष के जन-मानस में वृन्दावन की पवित्रता और उसका माधुर्य भी प्रतिफलित हो सका।

ईश्वरीय कर्मों का निष्पादन प्रभु अपूर्व दूरदर्शिता से करते थे। उसकी कर्म-सूची के प्रत्येक चरण पर उनकी सजग और तीक्ष्ण दृष्टि सतत निबद्ध रहती थी। अपने प्रिय सुहृद् और प्रिय भक्त लोकनाथ को सुदूर वृन्दावन में भेजने के पीछे थी उनकी दूरदर्शिता और अन्तर्दृष्टि। वृन्दावन में कृष्ण-लीला-स्थलों के पुनरुद्धार का कार्य करनेवाले गोस्वामी लोकनाथ ही मानो प्रथम पथिक थे। उनकी अक्लान्त चेष्टा के परिणामस्वरूप सुदूर दुर्गम अरण्य में प्रारम्भ हुआ सहस्र-सहस्र भक्तों का समागम। परवर्ती काल में रूप, सनातन और श्री जीव प्रभृति प्रतिभा सम्पन्न गोस्वामियों ने प्रेमधर्म के प्राण-केन्द्र वृन्दावन में गौड़ीय धर्म और संस्कृति का जो विराट् सौध खड़ा किया उसकी नींव तो इन्हीं लोकनाथ ने डाली थी। इन्होंने कठोर वैराग्य, कृष्णमय तपस्या तथा विग्रह-सेवा में अत्यन्त निष्ठा के साथ एक कंगाल वैष्णव साधक की जो ज्वलन्त मूर्त्ति अपने जीवन में प्रकाशित की वह दीर्घकाल तक गौड़ीय स्वामी और साधकों के बीच स्मरणीय रही।

लोकनाथ गोस्वामी का एक और विशिष्ट अवदान था नरोत्तम को दीक्षा देना जो परवर्त्तीकाल में गौड़ीय धर्म के अन्यतम प्राण पुरुष सिद्ध हुए। तितिक्षा परायण साधक नरोत्तम ने सदा आत्मगोपनशील महावैरागी लोकनाथ को जिस प्रकार लोक-लोचनों के सम्मुख एक दीक्षा-गुरु रूप में उपस्थापित किया, उसकी स्मृति आज भी गौड़ीय वैष्णव-समाज में यथावत् शेष है।

अनुमानतः १८८४[1] ई० में यशोहर जिला के तालखड़ी ग्राम में गोस्वामी

---

१. यह तिथि प्रत्यक्षतः अशुद्ध है, संभवतः मुद्रण संबंधी भूल के कारण मूल बंगला पुस्तक में ऐसा उल्लेख हुआ है। यह तिथि प्रायः १४८० ई. हो सकती है।

लोकनाथ का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम था पद्मनाभ चक्रवर्त्ती और माता का सीता देवी। पद्मनाभ एक प्रख्यात पंडित थे। अपनी तरुणावस्था में नवद्वीप में रहकर उन्होंने विद्योपार्जन किया था और वैष्णवाचार्य श्री अद्वैत से वैष्णव धर्म में दीक्षित हुए थे। गृह प्रत्यागमन पर पद्मनाभ ने एक चतुष्पाठी (संस्कृत टोल) की स्थापना की। देश के उस अंचल में वे एक सुपंडित आचार्य तथा भक्तिमान् साधक के रूप में परिचित हो गए। इन्हीं की तृतीय संतति के रूप में गोस्वामी लोकनाथ आविर्भूत हुए।

अपनी बाल्यावस्था में लोकनाथ ने अपने पिता की चतुष्पाठी में ही शिक्षा ग्रहण की। १४ वर्ष की अल्पायु में ही संस्कृत साहित्य और शास्त्र में उनकी संतोषजनक पैठ हो गई थी। इसके बाद उच्चतर शिक्षा के लिए उन्हें नवद्वीप जाने की प्रेरणा हुई और यहाँ आकर लोकनाथ शास्त्रों के अध्ययन में तल्लीन हो गए। अपने पितृ-आदेश से उन्हीं के गुरु अद्वैताचार्य के समक्ष इन्होंने भागवत का पाठ प्रारम्भ किया। अद्वैत के पाठ चक्र और कीर्तन-सभा में उनके घनिष्ठ सहयोगी थे गदाधर। अद्वैत की शास्त्र-व्याख्या और वैष्णव-साधना से प्रभावित होकर लोकनाथ कृष्ण-भजन और कृष्णतत्त्व-अध्ययन में अभिरुचि लेने लगे।

इसके अनन्तर कई वर्षों के पश्चात् लोकनाथ भागवत-तत्त्व के अधिकारी विद्वान हो गए। अब उनके अभ्यन्तर में कृष्णाराधना और कृष्ण-मिलन की दुर्निवार भावना जग उठी। अतः अद्वैताचार्य ने इस स्नेह-भाजन तरुण को कृष्ण-मंत्र की दीक्षा दी और इसके साथ लोकनाथ के अन्तर्जीवन में आया एक दूरगामी परिवर्तन। प्रेमाभक्ति का रस-उत्पन्न होने पर वे साधना, तत्त्वानुसंधान और साधन-भजन में निविष्ट हो गए।

नवद्वीप में निवास करते समय अपने छात्र जीवन में लोकनाथ तरुण विश्वम्भर के घनिष्ठ सान्निध्य में थे। दोनों प्रायः समवयस्क थे। दोनों शुद्ध और सात्विक थे जिसके फलस्वरूप दोनों में शीघ्र ही अभिन्न मित्रता हो गई। नवदीप में अध्ययन समाप्त कर लोकनाथ अपने घर यशोहर के तालखड़ी ग्राम वापस आ गए और वहाँ एक चतुष्पाठी की स्थापना कर उसमें अध्यापन-कार्य प्रारम्भ कर दिया। शनैः-शनैः उस अंचल में निष्णात् पंडित, अध्यापक और कृष्ण-भक्त आचार्य के रूप में उनकी ख्याति हो गई।

ऐसी जनुश्रुति है कि एक बार पंडित विश्वम्भर ने जो परवर्ती काल में श्री चैतन्य प्रभु के नाम से प्रख्यात हुए, तालखड़ी में पदार्पण किया था। एक पंडित के रूप में विश्वम्भर उस समय पूर्व बंगाल के कतिपय अंचलों का परि-भ्रमण कर रहे थे और उसी क्रम में उनका आगमन हुआ था तालखड़ी ग्राम में।

नवद्वीप से विश्वम्भर पंडित के आगमन की कथा सुनकर लोकनाथ के पिता पद्मनाभ ने ग्राम की सीमा पर जाकर उनकी आगवानी की और उन्हें अपने गृह अतिथि के रूप में रखा। अपने पूर्वकालिक मित्र तथा नवद्वीप के प्रतिभा सम्पन्न नवीन पंडित विश्वम्भर के आगमन से लोकनाथ के आनन्द की सीमा न रही। छात्रावस्था तथा नवद्वीप की पुरातन कथाओं के ऊहापोह में दोनों मत्त हो गए।

इस साक्षात्कार के अनेकों वर्ष पश्चात् विश्वम्भर के जीवन में आया एक विराट् परिवर्त्तन। तीक्ष्ण बुद्धि और विद्याभिमानी उस तरुण पंडित का कायाकल्प हुआ एक नवीन मानव के रूप में जिसने नूतन प्रेम-भक्ति के आन्दोलन का महान् नायक होकर नवद्वीप के साधक और पंडित समाज के मध्य सृष्टि किया एक विराट् चेतना को। शीघ्र ही उनकी कीर्ति फैल गई अगणित वैष्णव भक्तों के मार्ग-दर्शक और आश्रय दाता के रूप में।

ऐसे ही समय लोकनाथ बेचैन हो उठे श्रीगौरांग के दर्शनार्थ। माता सीता देवी को बहुत पूर्व भान हो गया था कि उनका पुत्र एक यथार्थ वैराग्यवान् साधक है और वह कृष्ण-प्रेम और कृष्ण-आराधना के लिए यहाँ नहीं रुकेगा। अति शीघ्र ही एक दिन कृष्ण की बाँसुरी ने लोकनाथ को घर और संसार के घेरे से बाहर खींच लिया। जननी सीता देवी और बृद्ध पिता पंडित पद्मनाभ अत्यन्त भाग्यवान् थे। तरुण पुत्र लोकनाथ के गृहत्याग के शोक को वे सहन नहीं कर सकते थे। पुत्र के वैराग्य ग्रहण के कुछ समय पूर्व ही उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की।

इस बीच लोकनाथ के ज्येष्ठ दो भाईयों ने विवाह कर अपनी घर-गृहस्थी बसा ली परन्तु लोकनाथ अविवाहित ही रहे। उस समय उनकी उम्र प्रायः पच्चीस वर्ष की थी। इस तरुणावस्था में ही उनके अन्तर में तीव्र निर्वेद जाग उठा और उनका मन एकान्त भाव से नवद्वीप की ओर लगा रहता। कारण, वहाँ प्रेम-धर्म के नव उद्गाता, उनके पूर्व परिचित सुहृद् गौरचन्द्र का उदय हुआ था। जिनके भक्ति-प्रेमालोक से समुज्ज्वल हो उठा था बंगाल का तमसावृत अध्यात्म-गगन। उसी आलोक के हस्त-संकेतों ने आज लोकनाथ को पागल बना दिया था।

अग्रहण महीने के एक निशीथ में उनके जीवन का वह परम लग्न आकर उपस्थित हुआ। इष्टदेव के अमोघ हस्त संकेतों ने उसे व्याकुल कर दिया और कृष्ण-कृष्ण उच्चारण करते हुए वे घर के बाहर आकर खड़े हो गए। तमसावृत उस निशीथ में वे पैदल चल पड़े पथ-प्रान्तरों की ओर। तीन दिनों के निरन्तर भ्रमण के पश्चात् एक लम्बी दूरी पारकर वे नवद्वीप में उपस्थित हुए और प्रभु

का दर्शन लाभ कर कृत्य-कृत्य हुए। तत्पश्चात् मात्र पाँच दिनों के अन्तराल में प्रभु की आन्तरिक इच्छा और निर्देश के कारण चल पड़े चिर प्रवास हेतु वृन्दावन को।

वृन्दावन के यात्रा-पथ पर लोकनाथ और भूगर्भ को प्रायः तीन महीने व्यतीत करने पड़े। उन दिनों पथ-घाट बिल्कुल निरापद नहीं थे अतएव लोकनाथ और भूगर्भ को विपद-संकुल नाना अंचलों का मार्ग परित्याग कर अनेक अन्य मार्गों से घूमकर वृन्दावन में प्रवेश करना पड़ा। इन तीन मास के निरन्तर साहचर्य के कारण लोकनाथ और भूगर्भ का परस्पर घनिष्ट परिचय हो गया, परिणामस्वरूप वे दोनों आबद्ध हो गए एक अभिन्न एकात्मकता के बंधन में। वृन्दावन वास के समय भी इन दोनों का यह प्रीति-बंधन अक्षुण्ण रहा। शास्त्रविद् प्रेमिक लोकनाथ लुप्ततीर्थ-उद्धार-कार्य में प्रभु के प्रधान भार प्राप्त व्यक्ति थे और भूगर्भ पंडित थे उनके सदा विश्वस्त सहयोगी और सहचर।

दोनों ने सम्मिलित रूप से मथुरा तथा ब्रजमंडल के अनेकानेक स्थलों का परिभ्रमण प्रारम्भ किया और इसके साथ ही प्रारम्भ हुआ लीला-स्थलों का अनुसंधान कार्य। शास्त्र, पुराण और जनश्रुतियों से संकेत ग्रहण कर उनलोगों ने अनेकानेक स्थलों का घूम-फिर कर निरीक्षण किया। परन्तु मथुरा, वृन्दावन और ब्रजमंडल का बहुत बड़ा भूभाग उस समय अरण्य-आवृत था। मार्ग-दुर्गम थे तथा तस्कर और दस्युओं से उपद्रुत भी थे। निःसहाय वैरागी-द्वय किस प्रकार इस कार्य का सम्पादन कर सकेंगे, यह उनकी समझ के परे था।

स्थानीय साधुओं के समीप पुराण वर्णित-कृष्ण-लीला-स्थलों का कुछ-कुछ संधान अवश्य उपलब्ध था परन्तु उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करना कठिन था। यह अंचल जब अरण्य में परिणत हो गया तब कुछ निम्न श्रेणी के लोग तथा जंगली जातियों ने यहाँ आकर अपना बसेरा बनाया। प्राचीन इतिहास अथवा ऐतिह्य में इसका कोई आलेख नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में वंश-परम्परा द्वारा भी कोई जनश्रुति उपलब्ध नहीं होती।

इन सभी असुविधाओं के बावजूद लोकनाथ और भूगर्भ ने असीम निष्ठा और अध्यवसाय के साथ प्रभु-आदिष्ट कर्मों को करने में संलग्न रहे।

वृन्दावन के लुप्त तीर्थों के दर्शन और उद्धार के लिए अद्वैताचार्य और नित्यानन्द प्रभु ने कम परिश्रम नहीं किया परन्तु ब्रजमंडल में उनका निवास अल्प समय के लिए हुआ था। अतएव उनके लिए इस संबंध में कोई यथार्थ अनुसंधान करना संभव नहीं था। इसके विपरीत लोकनाथ और भूगर्भ तो यहाँ स्थायी

निवासी के रूप में पधारे थे और शिरोधार्य किया था लुप्त तीर्थों के उद्धार का महान् व्रत। जितना श्रम साध्य है, जितना कष्ट और विपद् संकुलता संभव है सबको झेलते हुए आप्राण चेष्टा द्वारा इस व्रत के उद्यापन में बंधु-द्वय सन्नद्ध हुए।

अनाहार और अनिद्रा से देह क्लेशित हो रहा है। मानव विहीन दुर्गम और गंभीर वन में पता नहीं कितने दिन और कितनी रातें व्यतीत करनी पड़ीं परन्तु कहीं कोई वस्तु उनकी दृष्टि में नहीं आई। जब जिससे जो जनश्रुति तथा शास्त्रीय संकेत प्राप्त होते उन्हें अपार निष्ठा से लिपिवद्ध करते जाते और तीर्थयात्री साधु-महात्माओं की सहायता लेकर वहाँ पहुँचते, उन तथ्यों के निरुपण और परीक्षण हेतु।

मथुरा और व्रजमंडल का पौराणिक ऐतिह्य अति प्राचीन है। रामायण में ही हमें मथुरा का प्रथम उल्लेख मिलता है। उन दिनों इसका मधुपुरी नाम प्रचलित था। महर्षि वाल्मीकि कहते है :—'इषं मधुपुरी रम्य मधुरा देव निर्मिता।'१ यही मधुपुरी पीछे मधुराह हो गया और उसी का अपभ्रंश हुआ मथुरा। परवर्तीकाल में इसी नाम का अनुशरण करके दाक्षिणात्यों ने मधुराई अथवा मदुरा नगरी का निर्माण किया।

शास्त्र और पुराणों के अनुसार मधु दैत्य ने मधुराई की स्थापना की थी। उन दिनों इस अंचल में आर्य-प्रभाव-प्रसारित नहीं हुआ था। मधु दैत्य के अनुज शत्रुघ्न ने मधुपुरी अथवा मधुरा पर अपना अधिकार जमाया। तब से यह अंचल आर्यों के अधिकार में है और आर्य-सभ्यता के एक विशिष्ट केन्द्र के रूप इसने अपनी पहचान बना ली है। परवर्तीकाल में शूरसेन वंश के आर्यों ने यहाँ अपना निवास स्थापित किया और शक्तिमान् राजवंशी के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की।

शूरसेन के क्षत्रिय वंश में कालक्रम से ययाति नाम के प्रसिद्ध राजा का आविर्भाव हुआ। इसका पुत्र यमदुर निम्नवंशीय यादवों द्वारा मथुरा में पराजित हुआ। इन्हीं यादवों की वृष्णि-शाखा में अवतरित हुए थे अवतारी पुरुष—वासुदेव श्रीकृष्ण।

यादवों की अन्यतम शाखा भोज-वंश के प्रधान राजा कंश ने मथुरा के राजसिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। वासुदेव श्रीकृष्ण के साथ उसका संघर्ष हुआ और वह मारा गया। उस समय से अद्यावधि भारत के राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन में मथुरा और व्रजमंडल की ख्याति और प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रही है।

---

१. रामायण, उत्तर कांड, ८३

महाभारत युद्ध के पश्चात् राजा युधिष्ठिर अर्जुन के पौत्र परीक्षित को अपना राज्य सौंप महाप्रस्थान के पथ पर अग्रसरित हुए। यात्रा के पूर्व उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रपौत्र व्रजनाभ का मथुरा मंडल के राजा के रूप में राज्याभिषेक किया। भक्तिमती माता की प्रेरणा से व्रजनाभ प्रपितामह श्रीकृष्ण की स्मृति-पूजा की व्यवस्था में तत्पर हो उठा।१ उसके उत्साह और प्रयास के कारण श्रीकृष्ण के कतिपय पवित्र विग्रहों का निर्माण हुआ जिनके नाम यथाक्रम हैं :—श्री गोविन्द, श्री मदनगोपाल एवं श्री गोपीनाथ। राजा व्रजनाभ की प्रेरणा, उत्साह तथा भक्तिमान् आचार्यों की सहायता से इन विग्रहों की अर्चना और भोगराग की पद्धति प्रवर्तित हुई। व्रजमंडल और मथुरा के साधकों ने दीर्घ समय तक इन विग्रहों की सेवा-पूजा की और आम जनता के बीच जाग्रत विग्रह के रूप में ये सुपरिचित हो गए। इस समय तक भक्तिमान् साधुओं की निरन्तर चेष्टाओं से भगवान् श्रीकृष्ण के अनेकानेक लीला-स्थल नवीन रूप से आविष्कृत हुए और पवित्र तीर्थ के रूप में उनकी परिगणना होने लगी।

परवर्तीकाल में कलियुग के प्रभाव के कारण ये सब विग्रह और तीर्थ लुप्त हो गए। विशेषकर जैन और बौद्ध धर्मों के प्रभाव तथा हिन्दू-बौद्ध धर्मों के संघर्ष के परिणामस्वरूप व्रजमंडल और मथुरा की धर्म-संस्कृति पर प्रचण्ड आघात पड़ा। इस समय जन-जीवन जिस मात्रा में विपर्यस्त हुआ उसी अनुपात में क्षतिग्रस्त हुए अजस्र तीर्थ, मठ, मन्दिर एवं साधना-पीठ। इतिहास के पाठक जानते हैं कि चीनी परिव्राजकों की लेखनी के द्वारा हिन्दूतीर्थ मथुरा का चित्रण एक बौद्ध नगरी के रूप में हुआ। २

काल क्रम से मथुरा और व्रजमंडल की आबादी कम हो गई और सम्पूर्ण अंचल परिवर्तित हो गया एक दुर्गम अरण्य के रूप में।

मथुरा का राजकीय वैभव और प्रभाव जो भी रहा हो लेकिन वृन्दावन तो पौराणिक युग में प्रधानतः एक वन के रूप में अवस्थित था। अनेकानेक साधु, महात्मा और भक्तिमान् अपने-अपने घरों का परित्याग का इस जनपद के आसपास सर्वत्र निवास करते थे। स्कन्द पुराण के मथुराखंड में संक्षेप में वृन्दावन का एक मनोरम वर्णन हमलोगों को मिलता है :—

वृन्दावनं सुगहनं विशालं विस्तृतम् बहु।
मुनीनामाश्रमैः पूर्णम् वन्यवृन्दसमन्वितम्॥

वृन्दावन की विशिष्टता और ऐतिहासिक परिवर्तनों के सम्बन्ध में इतिहास

१. श्री श्री वृन्दावन रहस्य —रामयादव बागची
२. मथुरा—ग्राउन

विद् श्री सतीशचन्द्र मित्र ने उल्लेख किया है :—

८४ कोसों की सीमा में यह विशाल वन अवस्थित है। अभी भी इसके बरह वन और चौबीस तपोवन तीर्थस्थान में परिणत हुए हैं! पूर्वकाल में इन सभी में मुनियों के आश्रम थे। साधकगण स्वेच्छा से साधन-भजन करते थे और वनों के मध्य में आभीर प्रभृति अन्नुनत जातियों तथा अन्य जंगली जातियों की वस्तियाँ यत्र-तत्र फैली हुई थीं। सुदूर पश्चिम के सीमान्त गिरि-पथ द्वारा जब मुसलमानों की वाहिनी धन-वैभव लूटने की प्रत्याशा में झुंड के झुंड भारत-वर्ष में प्रवेश करने लगी तो मथुरा की उपनगरी होने के कारण वृन्दावन को आक्रमण का परिणाम भुगतना पड़ा।

गजनीपति महमूद ने जब बहुत दिनों तक मथुरा को लूटा और देव-विग्रहों को भग्न कर दुर्भेद्य गगनचुम्बी मंदिरों को धराशायी किया तब वृन्दा-वन भी उसके प्रकोप से वंचित न रहा। वृन्दावन की परिक्रमा के अन्तर्गत एक वन का नाम है महावन। वहाँ का राजा महमूद से पराजित हुआ और उसने उसके चरणों पर गिरकर क्षमा-याचना की परन्तु उसकी रक्षा नहीं हुई। उसने जब अपने सम्मुख अपनी प्रजाओं की निर्मम हत्या देखी तो स्त्री-पुत्रों की हत्या करके स्वयं भी अंत में आत्महत्या द्वारा उसने अपना उद्धार किया। इस दृश्य को देखकर मथुरा से बहुत से लोग पलायन कर गए।

कालान्तर में पाठानों ने दिल्ली, गौड़ प्रभृति स्थानों में अपना राज्य सिंहासन स्थापित करके देश पर शासन करना प्रारम्भ किया। वृन्दावन के जंगल तो और अधिक श्वापदों से संकुल हो उठे। तीर्थानुसन्धीत्सु निर्भीक साधुओं के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं उन घनघोर जंगलों में भ्रमण करने आता। उन जंगलों में तो शुद्ध रूप से वन्य-प्राणी ही निवास करते थे।

द्वादश शताब्दी के अंतिम समय में गौड़ाधिप लक्ष्मण सेन के सभा-पडित कवि जयदेव जब दर्शनार्थ वृन्दावन पधारे थे तो उस समय वृन्दावन विशुद्ध रूप से जंगल ही था। उनकी कोमलकान्त पदावली में वृन्दावन सम्बन्धी जो रसमयी धारा प्रवाहित हो उठी है वह तो केवल प्रेमरसिक की कल्पना की वस्तु है। अभी जिस प्रकार वृन्दावन निर्विण्ण भक्त साधकों के लिए अंतिम आश्रय के रूप में जनकोलाहल के बीच भी शान्तिनिकेतन के रूप में परिणत हो गया है, पाठान शासकों के समय इसकी यह दशा नहीं थी। बंगालियों के लिए यह एक गौरव की बात है कि उन्होंने ही वृन्दावन के वन-जंगलों को आबाद करके वहाँ भक्ति की नींव डाली थी।

बंगालियों ने जिस समय इस वृन्दावन का निर्माण किया था, वह था बंग-देश का स्वर्णिम युग। पाठानों के विजय-जनित उद्दाम आक्रोश प्रशमित हो चुके थे और अब पराक्रान्त शक्तिशाली पाठान शासकों ने स्वाधीन रूप से बंगाल

का शासन करना प्रारम्भ कर दिया था। उस समय विख्यात हुसैन शाह गौड़ के सिंहासन पर था। देश में चारो ओर शान्ति स्थापित थी, सर्वत्र अन्नादि सुलभ थे और इसके साथ ही बंगदेश प्रख्यात हो उठा अपनी अद्वितीय शिल्प-कला के क्षेत्र में। हुसैन शाह का दरबार भी अलंकृत था प्रतिभा सम्पन्न हिन्दू अमात्य तथा यशस्वी पंडितों के द्वारा। नवद्वीप, चन्द्रद्वीप, विक्रमपुर प्रभृति अनेक विद्यालयों में सहस्रों ज्ञान पिपासु शिक्षार्थी अपनी-ज्ञान-पिपासा शांत कर रहे थे। बंगाली-लोग किसी भी विषय में परमुखापेक्षी नहीं थे। हाँ, एक मात्र धार्मिक क्षेत्र ही ऐसा था जहाँ व्यभिचार और पराभव दृष्टि-गोचर होता था।

इन्हीं परिस्थितियों के मध्य श्री गौरांग देव का आविर्भाव हुआ नवद्वीप में। उनकी अपरिपक्वावस्था में ही उनकी अलौकिक शक्ति के प्रभाव से सभी समस्याओं एवं विकारों का अभिनव समाधान हो गया। यह तो बंगालियों ही का क्या, भारतीय इतिहास का एक नवयुग था। उस युग में इतिहास की जो एक नूतन धारा प्रवाहित हुई थी, उसी का एक प्रधान केन्द्र था वृन्दावन। यद्यपि स्वयं श्री गौरांग ने स्थायी रूप से वृन्दावन में निवास नहीं किया परन्तु उन्हीं की प्रेरणा, उन्हीं की व्यवस्था तथा उनसे प्रेरित भक्त सम्प्रदायों की एकाग्र चेष्टा के परिणाम स्वरूप वृन्दावन में बंगालियों का एक नूतन उपनिवेश स्थापित हो चुका था। उन उपनिवेशिकों की एक मात्र साधना थी—भक्ति-राज्य की स्थापना, भक्तिवाद की नींव डालना तथा लीला-धर्म का प्रवर्तन। इन्हीं उपनिवेशिकों के अग्रदूत थे गोस्वामी लोकनाथ और प्रतिच्छाया की भाँति उनके सहचर थे एक दूसरे बंगाली ब्राह्मण श्री भूगर्भ गोस्वामी।

वृन्दावन पहुँचने के प्रायः दो माह पश्चात् लोकनाथ को संवाद प्राप्त हुआ कि श्री गौरांग प्रभु ने भक्तजनों को आँसुओं में डूबोकर संन्यास ग्रहण कर लिया है। उन्होंने नूतन नाम धारण किया है श्री चैतन्य। पुरी में कुछ दिनों तक रहने के पश्चात् प्रभु दक्षिण देश के तीर्थ भ्रमण हेतु निकल पड़े हैं। तीर्थ दर्शन और नवतर प्रेम-भक्ति का समभाव से प्रचार ये ही हैं उनके दो मुख्य कार्य।

प्रभु के त्याग-वैराग्यमय संन्यासमूर्ति के दर्शनार्थ लोकनाथ और भूगर्भ बेचैन हो उठे। वृन्दावन के कार्य को कुछ समय के लिए स्थगित रख दोनों दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान कर गए। परन्तु प्रभु चैतन्य तो सतत भ्रमणशील रहा करते थे। प्रभु-दर्शन की प्रत्याशा में दोनों दक्षिण के अनेकानेक तीर्थों और साधना पीठों की गहन गवेषणा करने लगे परन्तु उन्हें प्रभु के दर्शन का

सौभाग्य नहीं मिला।

इधर श्री चैतन्य पुरीधाम मे आकर प्रेमभक्ति-आन्दोलन की नींव की स्थापना में तत्पर हो गए हैं और उनके चतुर्दिक केन्द्रीभूत हो रहे हैं शक्तिमान् वैष्णव साधकगण। तत्पश्चात् गौड़ जाकर प्रभु ने रूप और सनातन को आत्मसात् किया। वृन्दावन में उनके आने की कथा थी परन्तु वैसा नहीं हो सका।

परवर्ती काल में वृन्दावन में प्रभु उपस्थित हुए तो अवश्य परन्तु उस समय लोकनाथ और भूगर्भ वहाँ नहीं थे। उस समय भी वे दोनों प्रभु-दर्शन की प्रत्याशा में दक्षिण देश के प्रत्येक तीर्थ की यात्रा कर रहे थे। किंचित् समयोपरान्त प्रत्यावर्तन कर जब वे वृन्दावन आए तो उन्हें विदित हुआ कि भावाविष्ट अवस्था में चैतन्य महाप्रभु ब्रजमंडल के नाना स्थलों का भ्रमणकर प्रयाग की ओर अग्रसर हो गए हैं। बस क्या था, प्रभु को पकड़ने की आशा में दोनों उन्मत्तावस्था में उधर ही चल पड़े। पथ में घनघोर अंधकार मय रात्रि आ गई। तब दोनों ने एक वृक्ष के नीचे आश्रय ग्रहण किया।

गंभीर रात्रि में लोकनाथने बैचैन करनेवाला एक स्वप्न देखा। ज्योतिर्मय मूर्त्ति से प्रभु उसके सम्मुख प्रकट होकर प्रसन्न मुदा में मधुर कंठ से उसे आश्वासन देते हुए कहने लगे :—

सदा तेरे पास है मेरा रहना।
वृन्दावन छोड़ तुम कहीं न जाना॥
प्रयाग होकर जाऊँगा मैं नीलाचल।
सुन पाओगे तुम मेरा वृतान्त सकल॥

—[नरोत्तम विलास]

इस स्वप्न-दर्शन के बीच कृपामय प्रभु ने लोकनाथ के विरह-विदग्ध हृदय पर शान्ति का प्रलेपन किया। लोकनाथ के कपोलों से पुलकाश्रु झरने लगे। प्रभु की वाणी शिरोधार्य करके लोकनाथ ने संकल्प लिया कि इस जीवन में वृन्दावन का परित्याग कर वे कभी भी अन्यत्र नहीं जायेंगे और प्रभु आदिष्ट कर्मों का उद्यापन तथा प्रभु का ध्यान मनन करते हुए वे करेंगे अपना जीवन यापन।

लोकनाथ के अन्दर मे विगत बहुत दिनों से श्री विग्रह की सेवा की भावना जागृत हो गई थी परन्तु सेवा-पूजा निमित कहाँ और कौन विग्रह प्रकट होगा यह वे नहीं समझ पा रहे थे। उस दिन प्रयाग के पथ से लौटते समय ब्रजमंडल के किशोरी कुण्ड के समीप वे पहुँचे। पवित्र कुण्ड में स्नान करते समय उन्हें अपने इष्टदेव की कृपा से श्री राधा विनोद के एक परम सुन्दर विग्रह की प्राप्ति हुई। उस समय उनके व्यक्तिगत साधनामय जीवन का प्रधान उपजीव्य हुआ इस विग्रह की सेवा-ध्यान और जप।

श्री विग्रह ने कृपापूर्ण दर्शन देकर उनकी सेवा को प्रकट तो अवश्य किया परन्तु अपने भक्त की अकिंचनता दूर नहीं की। प्रभु की सेवा के लिए आसन, साज-शय्या, पोशाक और भोगराग आदि अनेक उपकरणों की आवश्यकता होती है लेकिन अकिंचन लोकनाथ के लिए इन वस्तुओं का प्रबन्ध करना कठिन था। कारण उन्हें किसी प्रकार का आर्थिक संबल नहीं था। वे तो एक अरण्य चारी साधु थे। वे तो दिन-रात लुप्त तीर्थों के उद्धार के निमित्त वन-वन घूम रहे थे। उनके पास तो एक पर्णकुटीर भी नहीं थी।

वनवासी साधुबाबा को बहुत प्यार करते थे। उन लोगों ने उनसे प्रस्ताव किया—"बाबाजी, आप स्वयं तो इधर-उधर घूमते-फिरते रहते हैं और आपके भोजन-विश्राम का कोई ठीक नहीं रहता परन्तु कृपाकरके ठाकुर जब एक बार आपके समीप आ गए हैं तो उन्हें आपको भली-भाँति रखना होगा। आपके लिए हमलोग एक झोपड़ी खड़ा कर देते हैं, उसमें आप ठाकुर की सेवा-पूजा करें।"

लोकनाथ ने उत्तर दिया—'बाबा, मैं स्वयं जिस प्रकार-वनचारी हूँ, उसी प्रकार हमारे ठाकुर भी हैं। जबतक मैं जंगलों में भ्रमण करता रहूँगा, वे भी रहेंगे मेरे समीप ही। मेरा निवास होगा वृक्षों के तले और प्रभु का उनके कोटरों में।' इसी प्रकार की व्यवस्था अभी चल रही थी। प्रत्येक दिन प्रत्यूष में उठकर बड़े भक्ति भाव से लोकनाथ वनतुलसी और वनफूलों का चयन कर और निविष्ट हो सम्पन्न करते थे अपनी श्री विग्रह पूजा। समय होने पर वनों से कंद-मूल, शाक-पात और फल तोड़कर लाते और प्रस्तुत करते भगवान् को भोग-राग। इष्ट विग्रह को सुलाने के लिए पुष्प-शय्या बनाते और उस पुष्प-शय्या पर बैठाते समय वृक्ष पल्लवों का चमर डुलाते। नित्य-सेवा-पूजा और जप-ध्यान के पश्चात् अपने मित्र भूगर्भ को साथ ले सम्पूर्ण दिन लुप्त, अज्ञात और प्रच्छन्न लीला-स्थलों का संधान करते।

प्रत्येक दिन अनुसन्धान कार्य हेतु दूर-दूरन्त स्थलों में चले जाते जिससे विग्रह सेवा में अनेक बाधाएँ पड़तीं। तब उन्होंने एक नवीन व्यवस्था की। पके हुए पटुए के गुच्छों से निर्मित झोले में अपने विग्रह को स्थापित कर उस झोले को अपने कंठ में दोलायमान कर प्रतिदिन भ्रमण करते अपने अनुसंधान कार्य हेतु।

लोकनाथ के पावन चरित्र, सेवा-निष्ठा, वैष्णवोचित दीनता और उनके प्रेमावेश को देखकर वनवासी लोग क्रमशः उनके प्रति आकृष्ट होने लगे। शनैः-शनैः दूर जनपदों से एक-दो भक्त बारी-बारी से उनके समीप आने लगे। अनेक अवसरों पर कोई-कोई भक्त विग्रह की सेवा-पूजा हेतु फल-मूल आदि खरीदकर ले आते। आनन्द से प्रभु को भोग लगाकर उन फलों को लोकनाथ

भक्त और दरिद्र वनवासियों के मध्य वितरित कर देते। सेवा-पूजा जन्य कोई भी उपचार या भेंट वे एक दिन के निमित्त भी संचय नहीं करते, प्राप्त होते ही उन्हें वे बाँट देते।

वैष्णवोचित दीनता और त्याग-तितिक्षा के मूर्त्त विग्रह स्वरूप लोकनाथ के आदर्शमय जीवन के सम्बन्ध में भक्तिरत्नाकर में लिखा है :—

वह वैराग्य है अवर्णनीय,
श्री राधाविनोद की कृपा सराहनीय।
जहाँ जो फल मूल भेंट किए जाते हैं,
राधाविनोद को समर्पित किए जाते हैं।
वर्षा हो या शीत करते वृक्ष तले वास,
साथ में है जीर्ण कंथा ओ जीर्ण वहिर्वास।
स्वयं तो होते सिक्त वर्षा-सीकरों से,
पर ठाकुर को रखते वृक्ष कोटरों में।
अन्य समय जीर्ण झोले में पौढ़ते,
ठाकुर रहते उनके गले में झूलते। (पंचम तरंग)

इस वैराग्यमय तपस्या और कर्मनिष्ठा का फल कालक्रम से फलित होना प्रारम्भ हुआ। लोकनाथ ने एक के बाद दूसरे, इस प्रकार अनेकानेक लुप्त और विस्मृत तीर्थों के उद्धार का उपाय किया। इस बार ब्रजमंडल में प्रतिक्रिया हुई। भक्त समाज श्रद्धा की दृष्टि से गौड़ीय साधक लोकनाथ की ओर देखने लगा। उनके निजी व्यापक अनुसन्धान के साथ-साथ प्रभु श्री चैतन्य का दिग्दर्शन भी सम्मिश्रित था। ब्रजमंडल में पधारकर भाव-प्रमत्त की अवस्था में प्रभु ने अनेकानेक लीला-स्थलों और श्री कुंडों का आविष्कार किया था। इस प्रकार के सम्पर्क से स्थानीय साधु-संन्यासी और जनसाधारण में नवीन जागरण और श्रद्धा का प्रादुर्भाव हुआ।

लोकनाथ के इस एकनिष्ठ प्रयास के साथ केवल श्री चैतन्य महाप्रभु का आविष्कार संयुक्त नहीं था बल्कि परवर्तीकाल में आगत रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी की असीम कर्मतत्परता भी उनके कार्य में सहायक हुई। पुरीधाम में प्रभु श्री चैतन्य ने रूप और सनातन में शक्ति का संचार करते हुए उन्हें ब्रजमंडल में भेज दिया। ये दोनों गोस्वामी शास्त्र के निष्णात् पंडित थे, साथ ही उनमें परिचालन दक्षता एवं अभिज्ञता भी पर्याप्त थी। इनलोगों के आगमन के पश्चात् लोकनाथ गोस्वामी का कार्यभार बहुत कम हो गया। अब पूर्व की तरह उन्हें वन-प्रान्तरों में दौड़धूप करने का प्रयोजन नहीं रहा।

रूप और सनातन को बुलाकर लोकनाथ ने अपने द्वारा उद्धारित लुप्त तीर्थों का परिचय कराया; शास्त्र और पुराणों के तथ्यों से मिलान कराकर तथा उन दोनों मनीषियों से अनुमोदन कराकर उन्होंने नूतन तीर्थों का माहात्म्य प्रकटित किया। इस अवधि में अनेकों स्थलों का नव-नव नामकरण भी किया गया। परवर्तीकाल में रघुनाथ गोस्वामी की चेष्टा से श्याम कुंड और राधा-कुंड का उद्धार संभव हुआ और इससे साथ ही पूर्ण हुआ सम्पूर्ण ब्रजमंडल में तीर्थ, विग्रह और कुंडों का माहात्म्य।

ब्रजमंडल से सम्बन्धित अनुसन्धीत्सु श्री मद् नारायण भट्ट नाम के एक साधक ने 'श्री ब्रजनाथ विलास' की रचना की है। इस ग्रंथ में इन्होंने उल्लेख किया है कि प्रभु श्री चैतन्य के आदिष्ट कर्मों का उद्यापन करते हुए लोकनाथ गोस्वामी तीन सौ तैंतीस वनों और तीर्थों का आविष्कार करने में समर्थ हुए। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि नारायण भट्ट का यह ग्रंथ रचित हुआ था रूप और सनातन गोस्वामियों के जीवन काल में ही। ब्रजभूमि से सम्बन्धित किसी ग्रंथ का प्रकाशन श्रीचैतन्य के उन दोनों परिकरों के अनुमोदन के अभाव में उस समय संभव नहीं था। फलतः लोकनाथ द्वारा आविष्कृत लीला-स्थलों की उक्त संख्या मोटे तौर पर ठीक ही मानी जायगी।

तत्पश्चात् गौड़ीय भक्त समाज पर वज्राघात हुआ—प्रभु श्रीचैतन्य ने अपनी लीला-संवरण किया नीलाचल में। उस समय भक्तप्रवर रघुनाथ दास विषाद खिन्न हृदय लेकर वृन्दावन में उपस्थित हुए; उनके नेत्रों से प्रवाहित हो रही थी अविरल अश्रुधारा। वहाँ पहले से ही लोकनाथ, रूप, सनातन, गोपाल भट्ट और रघुनाथ भट्ट प्रभृति अपनी उपस्थिति से भक्ति-प्रेम और साधना का आलोक प्रज्वलित कर रहे थे। चैतन्य महाप्रभु के इन प्रतिभावान् परिकरों की एकान्तिक साधना और कर्मों के फलस्वरूप पार्थिव-वृन्दावन में स्थापित हुआ था नवीनतम भक्ति का एक साम्राज्य। इस पार्थिव वृन्दावन के प्रथम और वरेण्य पथिक थे गोस्वामी लोकनाथ।

"वृन्दावन में अभी जहाँ पर गोकुलानन्द आश्रम है वहाँ पहले जंगलों के मध्य लोकनाथ का कुंज था। उसी पथ से होकर थोड़ी दूरी पर, सघन वृक्ष-समूहों के पीछे, एक सूनसान घर था। उसे सहज रूप में खोज करना संभव नहीं था। विशेष प्रयोजन नहीं रहने के कारण लोकनाथ भी अपने कुंज को छोड़-कर कहीं बाहर नहीं जाते। जिनके संधान में वे वृन्दावन आए थे, उसी की पूजा-अर्चना और ध्यान धारणा में उनका अहर्निश व्यतीत हो रहा था। उस

समय समस्त ब्रजमंडल के कर्त्ता, विपन्न भक्तों के सहायक और निराश्रितों के आश्रय रूप गोस्वामी ही थे। पांडित्य की भीत्ति पर उस समय एक प्रकार के जिस वैष्णव विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी उसके कर्णधार तो थे श्री रूप गोस्वामी। गोस्वामियों के नव सिद्धान्तों का मूलोच्छेद करने एवं उनके पांडित्य परीक्षण हेतु कितने ही दिग्विजयी पंडित आते जिनके साथ विचार-विमर्श और जय-पराजय का उत्तरदायित्व होता रूप गोस्वामी पर। यदि किसी प्रकार के नूतन विधि-निषेध प्रवर्तित करना होता तो सभी रूप गोस्वामी से ही परामर्श ले वैसा करते। इन सभी कार्यों में लोकनाथ अपना समय कभी भी अपव्यय नहीं करते, वे तो अहर्निश साधन-भजन और देव-सेवा में निमग्न रहते।"[१]

वृन्दावन और ब्रजमंडल के इन गोस्वामियों में प्रत्येक व्यक्ति एक एक प्रदीप्त भास्कर सदृश थे। अपनी प्रतिभा, शास्त्र-विद्या, कृच्छ्र साधना और भजन-निष्ठा के द्वारा उन्होंने जिस भक्ति-आन्दोलन के केन्द्र की स्थापना की थी उसकी यश-प्रभा से आलोकित हो उठा था दिग्दिगन्त।

श्री चैतन्यदेव द्वारा प्रचारित प्रेम-भक्ति धर्म के मूल में था भागवत वर्णित परम पुरुष रसमय श्रीकृष्ण-तत्व जिसे रूप, सनातन, गोपाल भट्ट, रघुनाथदास प्रभृति गोस्वामियों ने अपनी मनीषा और तपस्या के द्वारा प्रोज्ज्वल किया था। उस काल में गौड़ीय साधना और दार्शनिकता के वैशिष्टय ने केवल गौड़ीय वैष्णवों के जीवन को ही उद्दीप्त और प्रभावित नहीं किया था बल्कि सम्पूर्ण भारतवर्ष के समक्ष प्रज्वलित हुई थी प्रेम-भक्ति साधना की एक अभिनव दीप-शिखा। परन्तु वृन्दावन की यह दूर प्रभावी उज्ज्वलता अधिक दिनों तक टिक नहीं सकी। प्रभु चैतन्यदेव के लीला-संवरण करने के पश्चात् प्रवीण नेतृ-द्वय नित्यानन्द और अद्वैत ने भी अपनी-लीला का संवरण किया और इसके साथ ही क्रम-क्रम से निर्वापित हुई वृन्दावन की समस्त दीपशिखा। प्रयाण करनेवालों में सर्वप्रथम थे सनातन और तत्पश्चात क्रम से प्रयाण किया रूप और रघुनाथ भट्ट ने।

रघुनाथदास गोस्वामी श्री चैतन्य देव के अन्यतम लीला-परिकर तथा उनकी प्रेम भक्ति साधना के एक मूर्त्त विग्रह स्वरूप थे परन्तु उस समय उन्होंने अपने को एकान्त भाव से छिपा लिया था। राधाकुंड के समीप निवास कर वे कृच्छ्र साधना में तल्लीन हो गए जिससे वृन्दावन के साधक और भक्त-गण उनके पुण्यमय सान्निध्य से वंचित रहे। इस समय में वृन्दावन में साधना की दीपशिखा प्रज्वलित रखनेवालों में तीन व्यक्ति मुख्य रूप से प्रधान थे—

१. सप्त गोस्वामी : सतीश चन्द्र मित्र।

लोकनाथ, गोपाल भट्ट और श्रीजीव। इनमें श्रीजीव शास्त्रों में निष्णात् और विपुल मनीषा वाले थे, इनकी संगठन शक्ति भी असाधारण थी। रूप गोस्वामी के तिरोधान के पश्चात् वृन्दावन के भक्ति-साम्राज्य के प्रधान परिचालक और व्यवस्थापक यही थे। गोपाल भट्ट अपने पूर्वाश्रम में शास्त्रविद् शुद्धात्मा ब्राह्मण थे। वृन्दावन आगमन के पश्चात् वैष्णव धर्म की संहिता का निर्माण कर वे सबों के श्रद्धास्पद बने। इसी सार्वजनीन श्रद्धा और चैतन्य महाप्रभु के मनोनयन द्वारा वे प्रतिष्ठित हुए थे गुरु स्थानीय एक महापुरुष के रूप में। इन गोस्वामियों के मध्य लोकनाथ सर्वप्रिय वयोवृद्ध, त्याग-तितिक्षा, भजन-निष्ठा और भजन-सिद्धि की दृष्टि से वरेण्य थे।

इस बीच प्राय: अर्द्ध शताब्दी तक वृन्दावन के गोस्वामियों ने अनेकानेक शास्त्रग्रंथों की रचना द्वारा गौड़ीय वैष्णव धर्म की नींव डाली परन्तु गौड़ देश में इसका प्रचार उस रूप में नहीं हो सका। गौड़ तो महाप्रभु चैतन्य की भूमि थी। जिस भूमि में उन्होंने सर्वप्रथम निगूढ़ प्रेमधर्म के मधुचक्र की रचना की थी, क्या उस देश में उनके परिकरों के भक्ति-शास्त्र एवं भक्ति-साहित्य का प्रचार और प्रसार नहीं होगा, नवजीवन क्या साधित नहीं होगा ? लोकनाथ, श्रीजीव प्रभृति भक्त बहुत चिन्तित और दुखी हो उठे थे इस आशंका से।

प्रचार और उज्जीवन का कर्म अत्यन्त दूरूह और दायित्वपूर्ण है। इसके लिए तो कर्मकुशल और तत्त्वविद् साधकों की आवश्यकता है जो अपनी साधना और सिद्धि के आलोक द्वारा प्रेमधर्म का उद्दीपन कर सकें एवं लाख-लाख मानवों को परिचालित कर सकें अध्यात्म जीवन के पथ पर।

कुछ समयोपरान्त आशा की एक किरण दिखलाई पड़ी। त्याग, वैराग्य और मुमुक्षा की वेदना लेकर वृन्दावन में बारी-बारी से तीन चिह्नित साधक उपस्थित हुए जिनके नाम हैं श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्द। अपने-अपने प्रदेशों का त्याग करके प्राणों के आवेग से उन्होंने वृन्दावन में पदार्पण किया और भूलुंठित हुए गोस्वामियों के पाद-पद्मों पर। परवर्त्तीकाल में इन्हीं तीन साधकों ने गौड़ीय वैष्णव आन्दोलन का एक नवीनतर अध्याय प्रारम्भ किया। श्रीनिवास ने यदि बंग प्रदेश की बाढ़ में सहस्र-सहस्र भक्तों को आश्रय प्रदान किया, श्यामानन्द ने यदि श्रीचैतन्य द्वारा उड़ीसा में प्रवर्त्तित नूतन धर्म को विस्तार प्रदान किया तो नरोत्तम ने उत्तर बंग और आसाम में भक्ति-प्रेम की एक धारा ही प्रवाहित कर दी।

गोपाल भट्ट गोस्वामी से दीक्षित हो श्रीनिवास धन्य हुए और श्यामानन्द ने श्रीजीव गोस्वामी का शिष्यत्व स्वीकार किया परन्तु नरोत्तम के लिए उस समय भी दीक्षा-ग्रहण संभव नहीं हो सका कारण कि उनके हृदय में चिर दिनों

से गोस्वामी लोकनाथ की तपःपूत और सिद्धोज्ज्वल मूर्त्ति अंकित हो उठी थी। बार-बार नरोत्तम उनके चरणों पर लोट कर सिक्त कर चुके थे अपने अश्रुजल से उनकी कुटिया की मिट्टी को किन्तु लोकनाथ ने अपने कृपा-द्वार का उन्मोचन नहीं किया। कभी किसी को दीक्षा नहीं देने का उनका दृढ़ संकल्प था और वे अभी भी इस पर आरूढ़ थे। इसीसे नरोत्तम के मानसिक कष्ट की सीमा न रही।

श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्द इन तीन प्रतिभावान् नवीन वैष्णवों को शास्त्र-शिक्षा का दायित्व लिया था श्रीजीव गोस्वामी ने। रूप और सनातन के परवर्ती साधक और उनके स्नेह भाजन श्रीजीव श्री चैतन्य महाप्रभु के अचिन्त्य भेदाभेदवाद के प्रधान प्रवक्ता और व्याख्याता थे। इसके अतिरिक्त ब्रजमंडल के वैष्णव-गोष्ठी के नायक और प्रधान परिचालक के रूप में भी वे चिह्नित थे। प्रतिभावान् नवागत शिष्य-त्रय असीम श्रद्धा और निष्ठा के साथ उनके समीप भक्ति-प्रेम धर्म का शास्त्रीय तत्त्व अध्ययन कर रहे थे।

शिक्षा गुरु श्रीजीव गोस्वामी की इन तीनों प्रतिभावान् और त्यागी शिष्यों को प्रभु चैतन्य के धर्म प्रचारार्थ नियोजित करने की प्रबल इच्छा थी परन्तु नरोत्तम के कारण बाधा उपस्थित हो गई। दीक्षा-ग्रहण नहीं करने के कारण वे वृन्दावन की भूमि पर एक कदम भी अग्रसर नहीं हो सकते थे। उन्होंने मन ही मन गोस्वामी लोकनाथ को गुरु रूप में वरण किया था परन्तु उनकी कृपा प्राप्ति के कोई लक्षण अभी तक परिलक्षित नहीं हो रहे थे।

श्री जीव एवं वृन्दावन के अन्य विशिष्ट वैष्णव-साधुगण अपने ऊपर गुरुतर कार्यभार का उत्तरदायित्व समझते थे और यह भी समझते थे कि नरोत्तम जैसे प्रतिभावान् नवीन साधु की चेष्टा के अभाव में गौड़ीय वैष्णव साधना और शास्त्र तत्व का प्रचार सफल नहीं हो सकता। अतएव सबों ने मिलकर लोकनाथ गोस्वामी पर दबाव डाला और अनुनय विनय करते हुए कहा कि वे यदि कृपा न करेंगे तो नरोत्तम पर नव कल्पित कार्यभार सौंपा नहीं जा सकता। उनके समीप दीक्षित होने पर ही वे वृन्दावन का परित्याग कर सकते हैं अथवा नहीं। एकान्त तपस्यारत और निगूढ़ भजनानन्दी लोकनाथ का एक मात्र कथन यह था कि इस जीवन में अब वे शिष्य ग्रहण का दायित्व अपने ऊपर न लेंगे और इस संबंध में पूर्व से की गई प्रतिज्ञा को वे किसी भी परिस्थिति में भंग न करेंगे।

नरोत्तम राजशाही जिले के पद्मा तीरस्थ खेतरी ग्राम के निवासी थे। इनके पिता कृष्णानन्द मजुमदार एक प्रभावशाली जमीन्दार थे। वे राजा की उपाधि से विभूषित थे और उनके पास था लक्ष-लक्ष मुद्राओं का विशाल वैभव।

उनकी माता नारायणी देवी एक अत्यन्त धर्मप्राणा महिला थीं। दीर्घ समय तक नि:सन्तान रहने के कारण उन्होंने अनेक व्रत, अनुष्ठान और पूजा अर्चना की और प्रभु-कृपा से नरोत्तम जैसा पुत्र उनकी कोख से उत्पन्न हुआ। शुभ और सात्विक संस्कारों को लेकर नरोत्तम उत्पन्न हुए थे और बाल्यकाल से ही उनमें त्याग, वैराग्य और धर्मपरायणता परिलक्षित हो रही थी। विशेषकर वे चैतन्य महाप्रभु के जीवन और आदर्श से उद्दीप्त हुए थे। एतावता पिताके राज प्रासाद के अतुल वैभव, धन, ऐश्वर्य और भोग विलासमय जीवन को तिलांजलि दे निकल पड़े मुक्ति संधान हेतु।

वृन्दावन के आगवन के पश्चात् श्रीजीव गोस्वामी के स्नेह और आशीर्वाद को प्राप्तकर नरोत्तम का जीवन धन्य हुआ। उनके प्रसाद स्वरूप ये वैष्णव शास्त्र तत्व के पूर्ण ज्ञाता हो गए। श्रीजीव को इस बात की जानकारी थी कि नरोत्तम उत्तर बंग के राजतुल्य जमीन्दार की संतान हैं और वे प्रचुर वैभव के उत्तराधिकारी भी हैं। इसी कारण वे नरोत्तम को इतना स्नेह करते थे, ऐसी बात नहीं थी। नरोत्तम तो जन्मजात वैरागी थे, राजतुल्य वैभव को तिलांजलि देने की शक्ति उनमें थी। वे एक प्रतिभावान् नवीन शास्त्र विद, कृच्छ्र व्रती और भजन निष्ठ साधक थे और इसीलिए श्रीजीव का उनपर इतना स्नेह था। इस नवीन और कृपापात्र साधक से उन्हें अनेक आशाएँ थीं। अनेक भगवत्कार्यों का उत्तरदायित्व वे इनपर सौंपना चाहते थे। यही कारण था कि श्रीजीव ने ठोक-ठोक कर इनकी रचना की और इन्हें परिचित कराया श्रेष्ठ साधुओं से।

श्रीजीव की कृपा और स्नेह को प्राप्तकर अब नरोत्तम के भीतर गोस्वामी लोकनाथ से दीक्षा-ग्रहण करने की कामना जगी कारण कि इस दीक्षा-लाभ के पश्चात् ही उसका जीवन कृतार्थ होगा। इसके लिए नरोत्तम ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अनेक चेष्टाएँ की परन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकला। यदि एक ओर लोकनाथ प्रभु की प्रतिज्ञा अटल थी तो दूसरी ओर भक्त नरोत्तम ने भी अन्य किसी से भी दीक्षा-ग्रहण न करने का व्रत ले रखा था।

नरोत्तम ने दीक्षा के सम्बन्ध में स्थिर किया कि वह अब इसके लिए घोर-व्रत लेगा। वृन्दावन के किनारे एक निभृत अरण्य में लोकनाथ का कुंज था, उस कुंज के समीप ही नरोत्तम ने भजन और साधना हेतु एक झोपड़ी का निर्माण किया। दिवा-रात्रि का अधिकांश भाग वे जप-ध्यान में ही व्यतीत करने लगे, मात्र कुछ समय श्रीजीव के सान्निध्य में शास्त्रों के अध्ययन में अतिवाहित करते। शेष समय चिर आकांक्षित गुरु-मूर्त्ति के ध्यान में निमग्न रहा करते। वे कभी भी अल्पभाषी और तपस्यारत लोकनाथ गोस्वामी के समीप नहीं

फटकते, कथा-वार्त्ता तो दूर की बात हुई। मृदु स्वर में इष्टनाम में निमज्जित हो वे उनकी कुटी की चारो ओर चहलकदमी करते। उनकी सर्वदा चेष्टा यही रहती कि भजनशील लोकनाथ को कोई उनकी निर्दिष्ट दिनचर्या में व्यवधान न डाले।

कुछ दिनों तक तो यह क्रम चला, तत्पश्चात् नरोत्तम ने गुरु-सेवा की एक नूतन प्रणाली सोची। ब्राह्म बेला में उठकर लोकनाथ शौचादि के लिए निकटस्थ वन में एक निर्दिष्ट स्थान में जाया करते। नरोत्तम ने निश्चय किया कि अब से वे गुरु के भंगीं के रूप में कार्य करेंगे। इससे एक ओर वृद्ध गुरु की परिचर्या होगी और दूसरी ओर अपनी अहंता का विनाश भी होगा। वे तो उत्तर बंग के एक श्रेष्ठ जमीन्दार के पुत्र थे जिन्हें अभी तक अपने देश में राज-तुल्य सम्मान प्राप्त था और जिनका जीवन अकल्पनीय भोग विलास में ही व्यतीत हुआ था। लोगों से प्राप्त राज-सम्मान जनित अहंता रूपी ग्रंथि को अपने अंदर से समाप्त करना अत्यावश्यक था परन्तु इस त्याग और वैराग्यमय जीवन के द्वारा उसका उच्छेदन एकवारगी संभव नहीं होगा, वह तो सूक्ष्म रूप में अवशिष्ट रहेगी ही। वृन्दावन आने पर उन्होंने मंदिरों के पुजारी और साधुओं के जीवन का सूक्ष्मेक्षण किया और उनसे मिलकर उनके पूर्वाश्रमों की जानकारी प्राप्त की। उनमें से बहुतों का सम्मान भी किया और उनलोगों ने इन्हें मार्ग भी बतलाए। क्या इसके फलस्वरूप उनके अन्दर कुछ सूक्ष्म प्रति-क्रिया नहीं हुई ? नहीं; इसबार गुरु के भंगी का कार्य कर एतद्वारा अपनी अहंता के विनाश का उन्होंने निश्चय किया।

उन्होंने अपने संकल्पानुसार कार्य प्रारम्भ कर दिए। प्रत्येक दिन चार दण्ड रात्रि रहते ही वे निर्दिष्ट वन की सीमा पर उपस्थित हो उस स्थान को कंटकशून्य करते, झाड़ू लगाते और प्रेमपूर्वक उसे लीपते। निकट में ही एक पात्र में सद्यः उपनीत जल रख देते। तत्पश्चात् एक तरफ उस झाड़ू को रखकर वे वहाँ से खिसक जाते। उसके बाद कुछ समय बीत जाने पर वे पुनः उपस्थित होकर कुदाली से उस स्थान को मल-मुक्त करते। इस प्रकार अन्तराल में आत्मगोपन करके नरोत्तम दिनानुदिन अपनी गुरु-सेवा का कार्य चलाते रहे।

प्रथम दिन लोकनाथ गोस्वामी ने समझा कि हो सकता है कोई व्यक्ति उनकी सेवा करना चाहता है। सोचा, स्थानीय वनवासियों में से अनेक उन्हें साधु-महात्मा के रूप में जानते हैं। संभव है किसी के मन में इस वृद्ध साधु की सहायता करने का भाव जगा हो और उसी ने ऐसा किया हो। इस प्रकार मास पर मास व्यतीत होने लगे और अब वर्ष पूरा होने पर आया। सदा कृष्ण-भाव से भावित और आत्म-विस्मरण वाले गोस्वामी लोकनाथ को एक दिन अकस्मात्

एक धक्का लगा। विचार किया—"मेरी ओर से तो बड़ा गर्हित कार्य हो रहा है। प्रतीत होता है कोई भक्त साधु-सेवा की भावना से प्रेरित होकर भंगी का यह कार्य सुगमतापूर्वक कर जाता है परन्तु मैं सर्वस्व त्याग के पश्चात् संन्यास धारण कर, कृष्ण-भजन में तल्लीन रहा करता हूँ। अतएव मैं किस प्रकार इस सेवा को ग्रहण करूँगा ? किस प्रकार इस पाप में अपने को लिप्त करूँगा ? नहीं-नहीं, यह हो नहीं सकता। निश्चय ही आज इसका कोई उपाय ढूँढना होगा।"

रात्रि व्यतीत होने में अभी पाँच छः दंड बाकी हैं, उसी समय लोकनाथ ने वन के उस निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचकर समीप के एक वृक्ष की ओट में अपने को छिपा लिया। कुछ क्षणों के उपरान्त एक मानव आकृति वहाँ पर दिखलाई पड़ी। उस समय सारा जंगल अंधकार में डूबा हुआ था और कहीं भी मनुष्य दिखलाई नहीं पड़ रहा था। लोकनाथ ने पुकार कर कहा—"तुम कौन हो और इस समय वहाँ पर तुम क्या कर रहे हो ? क्या तुम्हें भय नहीं लगता, बोलो ? आओ मेरे समीप।" उस मनुष्य की ओर से कोई शब्द नहीं, वह चुपचाप धीरे-धीरे उनके समीप आकर उनके चरणों पर लोट गया।

उस समय भी घनघोर अंधकार था अतएव उस चरण-लुंठित व्यक्ति के खड़े होने के पश्चात् भी लोकनाथ गोस्वामी उसे पहचान न पाए। अब उन्होंने सहज भाव से पूछा—'तुम कौन हो भाई ?' उस व्यक्ति ने नतसिर हो उत्तर दिया—'मैं हूँ नरोत्तम।" विस्मय के स्वर में गोस्वामी लोकनाथ बोल उठे—'तो क्या तुम्ही प्रतिदिन यह कार्य करते हो ?' 'यदि आपको कोई विघ्न न हो तो मैं कुछ सेवा करना चाहता हूँ, प्रभु इसकी आज्ञा प्रदान करें।'

'राजतुल्य जमीन्दार के पुत्र होकर तुम इस प्रकार एक भंगी का कार्य करते हो भैया। नहीं, नहीं यह उचित नहीं है नरोत्तम। मैं यहाँ से चला जाऊँगा।' व्याकुल हो बोल उठे लोकनाथ।

'प्रभो, मैं तो अत्यन्त कंगाल, आश्रयहीन और अपात्र हूँ। आपके चरणों में मैंने अपना आत्म-समर्पण किया है और आपको छोड़ मेरी दूसरी गति भी नहीं है। अन्ततक मुझे यह सेवा करने की अनुमति प्रदान करें।' काकु के द्वारा ज्ञापित किया नरोत्तम ने। 'हूँ' कहकर गोस्वामी लोकनाथ सहसा गंभीर हो गए और निर्निमेष दृष्टि से करुणा प्रार्थी तरुण भक्त की ओर देखते रहे।

नरोत्तम के हृदय में इसबार थोड़ा साहस जगा। करबद्ध हो उन्होंने गोस्वामी से प्रार्थना की—'प्रभु, मेरा जन्म राज-परिवार में हुआ था परन्तु सांसारिक सुख कभी भी मुझे तृप्ति नहीं प्रदान कर सका। कृष्ण-कृपा का तथा

महाप्रभु की कृपा का लोभ मुझे बाँह पकड़कर बाहर खींच लाया है। लेकिन वृन्दावन धाम आने पर भी भजन का सहज मार्ग प्राप्त नहीं हुआ और बार-बार पत्थरों पर माथा पटक कर रह रहा हूँ। गुरु-कृपा के अभाव में महाप्रभु की कृपा और इष्ट-कृपा मिल नहीं सकती। आपके चरणों पर अपने को उत्सर्ग करके अपेक्षा की आशा में हूँ। यदि आप निर्दय हो जायेंगे तो यह काया वृन्दावन की धूल को विसर्जित होगी।'

अब लोकनाथ गोस्वामी भीतर से विगलित हो उठे, आँखें करुणार्द्र हो उठीं। मृदुस्वर में अपने मन में कहने लगे—'नरोत्तम मैं जानता हूँ कि तुम महाप्रभु के निजी जन हो और तुम उनकी कृपा के अधिकारी भी हो। उनके पवित्र कार्यों के लिए तुम एक चिह्नित पुरुष हो परन्तु वत्स, बताओ तो मैं अपनी प्रतिज्ञा स्वयं कैसे भंग कर सकता हूँ? भगवान् कृष्ण ने मुझे एक कठिन परीक्षा में डाल दिया है।'

नरोत्तम ने लोकनाथ के चरणों में साष्टांग प्रणाम कर एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा और नतसिर हो शनैः-शनैः वहाँ से प्रस्थान कर गया। लेकिन दूसरे ही दिन देखने में आया कि नरोत्तम की अमानुषिक पीड़ा फलवती हुई। प्रतिदिन की कुंज परिक्रमा समाप्त कर ज्यों ही नरोत्तम अपनी भजन-कुटी में लौटे कि उसी समय लोकनाथ ने उन्हें अपने समीप बुलाया। उस समय गोस्वामी लोकनाथ के मुख पर और उनकी आँखों में प्रसन्नता की आभा बिखर रही थी। नरोत्तम के हृदय में नवीन आशा बँधी और उसने अनुभव किया कि हिमालय की वर्फ शनैः-शनैः पिघल रही है तथा इस बार वह शतधाराओं में प्राणदायिनी निर्झरिणी के रूप में प्रवाहित होगी।

इसके अनन्तर एक दिन लोकनाथ नरोत्तम को अपने भजन कुंज में बुला लाए और उससे कहने लगे—'मेरे समीप तुम्हें कतिपय शपथ लेने पड़ेंगे। आज से तुम भोग विलास से कोई सम्पंक न रखोगे। यहाँ तक कि उसकी भावना भी तुम्हारे अन्दर नहीं आनी चाहिए। तुम्हें आज से आजन्म ब्रह्मचारी रहना पड़ेगा।' वैराग्य-साधना के जिन कठोर व्रतों का लोकनाथ एकान्त भाव से पालन कर रहे थे उन सबका इस प्रकार कथन करने में उन्होंने एक मूहूर्त्त का भी विलम्ब नहीं किया।

करुणा विगलित स्वर से लोकनाथ ने कहा—'वत्स नरोत्तम यथार्थ में तुम नरोत्तम ही हो। तुम जैसे योग्य शिष्य के निमित्त ही कृष्ण ने मेरी प्रतिज्ञा भंग कराई। मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा। आगामी श्रावणी पूर्णिमा को तुम्हें इष्टमंत्र की दीक्षा दी जाएगी।' आनन्द से आत्महारा नरोत्तम तत्क्षण भूलुंठित हुआ लोकनाथ के चरणों पर और तत्पश्चात् इस सुसंवाद को ज्ञापित करने हेतु दौड़ पड़ा श्रीजीव एक अन्य वैष्णव साधकों की भजन कुटी की ओर। चिर वांछित दीक्षा

प्राप्ति नरोत्तम को हुई और इस बार वह सोत्साह सद्गुरु की सर्वतोभावेन सेवा में समर्पित हुआ। इसके साथ-साथ गुरु उपदेशानुसार वह अन्तरंग प्रेम-साधना में क्रमशः अग्रसर होने लगा।

नरोत्तम की धारणा थी कि गुरु की अर्जित साधना और सिद्धि के उत्तराधिकारी होने के लिए गुरु के साथ एकात्मता स्थापित करनी होगी जो सेवा और परिचर्या के माध्यम से ही संभव है। आत्मिक साधना के इस मूल सूत्र को ग्रहण कर वे तत्क्षण आप्राण चेष्टा द्वारा उस ओर अग्रसर हुए। नरोत्तम की गुरु सेवा और परिचर्या की यह कथा कालान्तर में सम्पूर्ण ब्रजमंडल में चर्चा का विषय बनी।

यदि शिष्य नरोत्तम को विराट् शुद्ध सत्व का आधार प्राप्त था तो गुरु लोकनाथ गोस्वामी ब्रजरस के एक सिद्ध महात्मा थे, ततःपर वे थे दिव्य करुण-धारा के एक विराट् उत्स-स्वरूप। तभी तो गुरु-कृपा एकवारगी अजस्र रूप से प्रवाहित होने लगी शिष्य पर। ब्रजरस की जिस निगूढ़ साधना का अनुशरण कर वे सिद्ध हुए थे उसका रसास्वादन उन्होंने यत्नपूर्वक अपने एक मात्र शिष्य को कराया।

नरोत्तम अब एक साधारण नर नहीं रहे, तपबल और गुरु-कृपा से वे देव-मानव बने और इसके साथ ही वृन्दावन के पथ-घाट, देव-मंदिरों में जो इनके तपः सिद्ध एवं आनन्द मूर्त्ति का एक बार भी दर्शन करता उसका सिर संभ्रम और श्रद्धा से अवनत हो जाता।

श्रीजीव गोस्वामी नरोत्तम को पूर्ववत स्नेह करते रहे। लोकनाथ के सान्निध्य में उनकी कृपा-दीक्षा के उपरान्त नरोत्तम ने जिस निगूढ़ ब्रजरस की साधना में पारगामिता प्राप्त की वह उनसे छिपी नहीं रही। गोस्वामी एवं सिद्ध महात्माओं की मंडली में श्रीजीव ने नरोत्तम को 'ठाकुर' की उपाधि से विभूषित करने का प्रस्ताव रखा। इसके बाद गौड़ीय वैष्णव समाज में इन्हें गुरु का स्थान प्राप्त हो, इसी उद्देश्य से उन्होंने ऐसा प्रस्ताव रखा। सभी ने आनन्दपूर्वक अपनी सम्मति प्रदान की और अब से साधु नरोत्तम की संज्ञा नरोत्तम ठाकुर हुई। उस समय वृन्दावन में ठाकुर कहने से लोग वरेण्य वैष्णव साधक नरोत्तम को समझते थे। नरोत्तम की इस स्वीकृति और मर्यादा के भीतर से सिद्ध महात्मा लोकनाथ गोस्वामी के अवदान का प्रकृत माहात्म्य ही साधक-समाज में प्रस्फुटित हो उठा था।

कालक्रम से लोकनाथ जराग्रस्त और स्थविर होकर शय्याग्रस्त हुए और

पूर्जा-अर्चना की पूर्व प्रणाली का पूर्णरूपेण निर्वाह अब उनसे संभव नहीं रहा, यहाँ तक कि जप की पूर्व निर्धारित संख्या भी अब पूर्ण नहीं होती। फिर भी स्वावलम्बन की वे पूर्ण मूर्त्ति थे, किसी की भी अपेक्षा करना वे नहीं चाहते थे। नरोत्तम तो इतनी सेवा करते थे, फिर भी वे परवश नहीं हुए। नरोत्तम को गृह-प्रत्यागमन की व्यवस्था देते समय भी अम्लान मुख से उन्होंने उसे प्रस्थान की अनुमति दी और उसके साथ ही कभी ग्रहण नहीं किया किसी अन्य को शिष्य रूप में। इस प्रकार एकमात्र नरोत्तम को ही सौभाग्य प्राप्त हुआ उनके शिष्य कहलाने का।

लोकनाथ की एक और विशेषता थी। वे अपनी कथा कभी किसी से किंचित भी नहीं कहते। किसी प्रकार से अपना गुणगान उन्हें नापसन्द था। उन्होंने किसी शास्त्र-ग्रंथ की भी रचना नहीं की फिर भी रूप, सनातन और गोपाल भट्ट प्रभृति गोस्वामी गण के साधना तत्व के अनेक सारांश उनके निकट ग्रहण किए जाते थे।

वृंदावन में जब कृष्णदास कविराज सभी भक्तों के उपदेश और सहायता के निमित्त अपने विख्यात ग्रंथ श्री चैतन्य चरितामृत, की रचना कर रहे थे उस समय लोकनाथ ने भी उन्हें अनेक प्रकार से सहायता प्रदान की परन्तु उस ग्रंथ में अपने प्रसंग के किसी भी उल्लेख की उन्होंने बार-बार वर्जना की और यही कारण है कि उस विराट्-ग्रंथ में उस युग के जिन अनेकानेक कथा और घटनाओं को अपने नेत्रजल की कालिमा से लिपिबद्ध किया गया, इनमें लोकनाथ की कोई चर्चा तक नहीं। उस युग में गोस्वामियों के मध्य लोकनाथ को छोड़कर अन्य किसी ने इतना आत्म-गोपन नहीं किया। लोकनाथ गोस्वामी के जीवन काल में किसी भी लेखक में इतना साहस न था कि वे अपने ग्रंथों में उनसे संबंधित किसी भी कथा का आलेख करते और यही कारण है कि लोकनाथ के अनेक चारित्रिक तथ्य लोकचक्षु से ओझल रहे। लोकनाथ के सदृश निस्पृह, सर्वस्वत्यागी महापुरुष अत्यन्त विरल हैं।

वृंदावन के गोस्वामियों की प्रतिभा, उत्साह और कर्मनिष्ठा के फलस्वरूप अनेकानेक वैष्णव शास्त्र रचित और संग्रहीत हुए। गौड़ देश में इन अमूल्य शास्त्र सम्पदाओं को भेजने का निर्णय श्री जीव गोस्वामी एवं अन्य उच्चकोटि के साधुओं ने लिया और इस कार्य के सम्पादन का उत्तरदायित्व लिया श्री जीव के तीन प्रतिभाधर शिष्य श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्द ने। इसके लिए उपयुक्त यान-वाहन और रक्षादल की व्यवस्था की समस्या उठी। उस समय लोकनाथ गोस्वामी की आयु प्रायः १०० वर्ष थी। वृंदावन के वे प्राचीनतम

सिद्ध पुरुष थे। उनके कुंज में आकर श्री जीव ने उनसे प्रस्ताव किया—'श्रीनिवास और श्यामानन्द के साथ मैं नरोत्तम को भी गौड़ देश भेजना चाहता हूँ। इस प्रकार के कठोरतपा भक्त और साधक ही वैष्णव धर्म और वैष्णव शास्त्र का सम्यक प्रचार करने में समर्थ हो सकते हैं। महाप्रभु के द्वारा आरब्ध कार्य-सम्पादन हेतु इनका गौड़ जाना प्रयोजनीय है।"

इस प्रस्ताव का सोत्साह समर्थन करते हुए गोस्वामी जी ने कहा—'श्री जीव तुम्हारी इस व्यवस्था से महाप्रभु के कार्य की सिद्धि होगी और उसके साथ जीवों का कल्याण भी साधित होगा। यह तो अत्यन्त आनन्ददायक संवाद है। नरोत्तम को गौड़ जाने की अनुमति मैं अवश्यमेव दूँगा।" विदा-बेला में अपने प्राणाधिक शिष्य से गोस्वामी जी ने कहा—'वत्स नरोत्तम, मैं तुम्हें प्राणभर कर आशिर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा यह नूतन व्रत सुसम्पादित हो। तुम तो मेरे एक मात्र सार्थकनामा शिष्य हो। जब जहाँ रहो विषय-वासनाओं को सम्पूर्ण-रूपेन वर्जित रखना उससे दूर ही रहना। भजनानन्द और अष्टप्रहर की लीला के अनुध्यान में ही अपना दिन यापन करना।'

आसन्न विछोह की कथा का स्मरण करके नरोत्तम शोकाकुल हो उठे और उनके कपोलों पर अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। उन्हें प्रबोधन देते हुए लोकनाथ ने पुन: कहा—"वत्स, अपनी चिरकालीन प्रतिज्ञा भंग करते हुए मैंने तुम्हें अपना शिष्य बनाया था। तुम्हारी भक्ति और पुण्य के कारण ही मेरी प्रतिज्ञा भंग हुई। तुम्हारी कृतविद्यता और साधनोज्ज्वला बुद्धि देखकर मैं परम प्रसन्न हूँ। मेरे जो दिन अब अवशिष्ट बचे हैं उनमें मैं अब किसी को अपना शिष्य नहीं बनाऊँगा। मेरी शिक्षा-दीक्षा और साधना-प्रदीप को अकेले तुम्हीं प्रज्वलित रख सकोगे।"

करबद्ध हो कातर कंठ से नरोत्तम ने कहा—'प्रभु, आशिर्वाद दें, गौड़ देश के कर्म-व्रत के अन्तराल में यह अधम आपके चरणों का दर्शन यदा-कदा कर सके।' स्पष्ट शब्दों में गोस्वामी लोकनाथ ने कहा—"नहीं वत्स, अब वृन्दावन आने की आवश्यकता नहीं है। मेरी और तुम्हारी यह अंतिम भेंट है।" गुरु-गत-प्राण नरोत्तम के मस्तक पर मानो कोई वज्राघात हुआ हो। तत्क्षण मूर्च्छित होकर वे पृथ्वी पर गिर पड़े। कुछ क्षणोपरान्त बाह्य-ज्ञान लौटने पर गुरु चरणों पर प्रणिपात करके उनसे भिक्षा स्वरूप चरण-पादुका द्वय की उन्होंने याचना की। इस प्रकार इन पादुकाओं को अपने सिर पर धारण कर वे निष्क्रान्त हुए वृन्दावन से।

इस घटना के पश्चात् तप:सिद्ध महापुरुष गोस्वामी लोकनाथ अधिक दिनों

तक जीवित न रह सके। अनुमानतः १५८८ ई० में चिर वियोग की वह पूर्व निर्धारित बेला आ पहुँची। अपने इष्टदेव श्रीराधा विनोद की विजयिनी मूर्त्ति की ओर अपने सजल नेत्र-द्वय को निबद्ध करके चिर दिनों के लिए उन्होंने अपनी नर-लीला का रूपक समाप्त किया और इसी के साथ महाप्रभु चैतन्य द्वारा वृन्दावन में नवोज्जीवन हेतु स्वहस्त प्रज्वलित आलोक-वर्तिका भी निर्वापित हो गई।

●

यामुनाचार्य

दशम शताब्दी का तृतीय पाद। दक्षिण के पाण्ड्य राजा की राज-सभा में इस समय आचार्य विद्वज्जन कोलाहल के प्रबल प्रताप की धूम मची हुई है। राजा की इस पंडितराज के प्रति असीम श्रद्धा है और उन्हें वे गुरु सदृश आदर करते हैं। देश-विदेश के श्रेष्ठ शास्त्र वेत्ताओं को आमंत्रित कर वे बुलाते और अपनी राज-सभा में आचार्य कोलाहल के साथ उनकी शास्त्र चर्चा करवाते। इस शास्त्र-चर्चा में पांड्य-राज के उत्साह की कोई सीमा नहीं थी। राज्य के गुणीजन आमंत्रित होकर वहाँ पधारते और वहीं सभा-स्थल में सबके समक्ष चलता तर्कपूर्ण शास्त्रों का खंडन और मंडन।

शास्त्रार्थ के प्रत्येक क्षेत्र में शक्तिधर और कुशाग्रबुद्धि आचार्य कोलाहल की विजय परिलक्षित होती। सभा-समापन के पश्चात् राजा अपने सभा-पंडित के गले में सादर माल्यार्पण करते ओर उसके साथ ही उन्हें अपने राजकोष से प्रदान करते प्रचुर धन राशि। इतना ही नहीं, राज-नियम के अनुरूप पराजित पंडित आचार्य कोलाहल के सामन्त पंडित के रूप में परिणत होते और प्रति वर्ष वे सम्राट् को सम्मान और दक्षिणा अर्पित करते।

उस दिन अपने भवन में उपविष्ट आचार्य कोलाहल अपने हिसाब की खातावही देख रहे थे। हठात् वे गंभीर हो गए और उन्होंने अपने भार-प्राप्त शिष्य वन्जी को बुलाया।

रुष्ट-स्वर में आचार्य ने कहा—'वन्जी, तुम इतने अकर्मण्य हो, इसका मुझे पता नहीं था। क्या तुम्हें मालूम है कि विगत तीन वर्षों से पंडित भाष्याचार्य मेरा वार्षिक सामन्त कर नहीं दे रहे हैं?'

हिसाब की खाताबही की ओर दृक्पात करते हुए शिष्य वन्जी निरुपाय होकर अपने मस्तक को खुजलाने लगे, तब आचार्य ने क्रुद्ध होकर कहा —'सुनो, तुम कल ही भाष्याचार्य के घर जाओ और बकाये राशि के एक-एक पैसे का भुगतान कराकर लेते आओ, नहीं तो मेरे यहाँ तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं।'

'जैसी आज्ञा। कई वर्षों से अनाज नहीं उत्पन्न हो रहा है, ऐसा कहकर

भाष्याचार्य अपना पावना बकाया रखे हुए हैं। मैं तो बार-बार उन्हें तगादा करता हूँ परन्तु परिणाम कुछ नहीं निकलता।'

'एक परिणाम तो अवश्य हुआ है। इधर जाकर देखो, इस मोहल्ले के लोगों ने इस बीच यह कहना प्रारम्भ कर दिया है कि आजकल भाष्याचार्य सामन्त कर का भुगतान नहीं कर रहे हैं, संभव है राजपंडित दिग्विजयी कोलाहल की वश्यता से मुक्त हो गए हैं।'

दूसरे दिन अपने गुरु के प्रतिनिधि स्वरूप वन्जी भाष्याचार्य की चतुष्पाठी में उपस्थित हुए परन्तु आचार्य दूसरे गाँव में अपने एक शिष्य के यहाँ गए हुए थे और वे दूसरे दिन लौटेंगे। प्रवीण छात्रगण कहीं घूमने चले गए हैं और और चतुष्पाठी में आचार्य के आसन के समीप शास्त्र-पाठ में रत है एक द्वादश वर्षीय बालक, यामुन।

गृह-प्रवेश करते हुए रुक्ष स्वर में वन्जी ने प्रश्न किया—'अरे छोकड़े, तुम्हारा गुरु कहाँ भाग गया है, बोलो तो ?'

'आप कौन हैं ? इतने कर्कश स्वर में क्यों बोलते हैं ? आचार्य पलायन कर कहाँ जायेंगे ? और किसके भय से ?' क्रुद्ध स्वर में उत्तर दिया यामुन ने।

'राजपंडित विद्वज्जन कोलाहल का शिष्य मैं वन्जी पंडित हूँ। तुम्हारे गुरु तीन वर्षों का बकाया सामन्त कर खाकर बैठ गए हैं। जान लो, इस राशि का भुगतान नहीं होने पर राजाज्ञा से तुमलोगों की यह चतुष्पाठी बंद हो जायेगी।'

छात्र बालक यामुन का शरीर उस समय क्रोधावेग से थर-थर काँप रहा था। उसने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया—'देखो वन्जी, मेरे समझने में अब कुछ शेष नहीं रहा। तुम्हारे आचार्य दिग्विजयी पंडित हैं, विद्वज्जन-कोलाहल की उपाधि उन्हें है परन्तु उनके भीतर विद्या नाम की वस्तु बिल्कुल नहीं है। उनके छात्र तुम तो निरे मूर्ख हो, यह तो तुम्हारी वाणी और वचन-भंगिमा से ही स्पष्ट होता है।'

'छोकड़े, तुम्हारी यह धृष्टता ! मेरे समक्ष तुम अनाप-शनाप बोले जा रहे हो। आचार्य कोलाहल कौन हैं, उनका क्या प्रताप है यह तुम्हें मालूम नहीं, तुम्हारे गुरु इसे जानते हैं। अच्छा, मैं जाकर यह कहे देता हूँ। इस चतुष्पाठी को मैं मिट्टी में मिलाकर छोड़ूँगा।'

'तुम्हारे सामर्थ्य में जो हो, तुम जाकर करो। परन्तु यह जान रखो कि तुम्हारे गुरु विद्याहीन हैं, मेरी यह बात परम सत्य है।'

'इसका तात्पर्य ?' क्रोधावेश में आघात हेतु खड़े हो गए वन्जी।

'विद्या से अखंड ज्ञान होता है, समदर्शिता आती है और विनय होता है।

वह सर्वभूतों को स्नेह और प्रेम के बंधन में बाँध देती है । लेकिन तुम्हारे आचार्य के पास वह विद्या नहीं है । मूर्ख और सुनोगे ! विद् तो आत्मज्ञान का आलोक है, ईश्वरीय आलोक है; जिन्होंने इस आलोक को प्राप्त किया है वे ही हैं विद्वान् । तुम्हारे आचार्य हतभाग्य हैं, कूट तार्किकता की वंजर भूमि में केवल हाँफ रहे हैं ।'

विक्षिप्त की भांति वन्जी चतुष्पाठी से बाहर निकल घृणित भाषा में चिल्लाकर गाली बकने लगे ।

अब बालक छात्र यामुन प्रांगण में आ खड़ा हुआ और दृढ़ तथा संयत स्वर में बोल उठा—'वन्जी सुनो ! तुम्हारे गुरु के अंध अहंकार और औद्धत्य को मैं समाप्त कर दूँगा, मैं यह संकल्प करता हूँ । शास्त्रार्थ के लिए मैं उन्हें चुनौती देता हूँ । राज-सभा में यह शास्त्रार्थ होगा, यह कथा तुम उन्हें एवं पाण्ड्य राज को विदित कर देना ।'

विस्मय से वन्जी की बोलती बंद हो गई । यह बालक क्या पागल है ? १२ वर्ष का एक नवीन छात्र, एक अर्वाचीन छोकड़ा शास्त्रार्थ हेतु ललकार रहा है दक्षिण भारत के श्रेष्ठ राजपंडित को ? तब वन्जी क्या इस समय एक पागल के साथ झगड़ा करेगा ?

संयत और प्रशान्त स्वर में बालक यामुन ने पुनः कहा—'वन्जी, मेरी कथा को एक बालक की कथा समझकर तुम उड़ा मत देना । आचार्य नाथमुनि मेरे पितामह हैं और ईश्वर मुनि मेरे पिता । हमलोगों के वंश के ऊपर प्रभु श्री रंगनाथ की कृपा और वरदान है । वन्जी और भी सुनो, अपनी गुरु कृपा से मैंने इसी बीच बहुत से शास्त्रों को आयत्त कर लिया है । आचार्य कोलाहल को शास्त्रार्थ हेतु आह्वान करने की शक्ति मुझ में है । शास्त्र-तत्व अथवा कूट प्रश्नों के द्वारा, चाहे जिस प्रकार हो, मैं उन्हें परास्त करूँगा, ऐसा मुझे विश्वास भी है ।'

क्रोधानल में जलते हुए पंडित वन्जी वहाँ से तत्क्षण प्रस्थान कर गए और तुरत राजधानी में उपनीत होकर राजसभा में निवेदित की भाष्याचार्य के शिष्य की समग्र कथा ।

सब कुछ सुनकर आचार्य कोलाहल क्रोध से आग बबूला हो गए और इस औद्धत्य के लिए समुचित दण्ड हेतु राजा से कहने लगे । सभाषदों को भी बालक की इस धृष्टता से बहुत विस्मय हुआ ।

गंभीर स्वर में पांड्यराज ने कहा—'मेरी समझ में एक किशोर छात्र की कथा लेकर इतना उत्तेजित होना हमलोगों के पक्ष में उचित नहीं होगा ।

चतुष्पाठी के संचालक भाष्याचार्य के समीप मैं दूत भेजता हूँ। यहाँ आने पर भाष्याचार्य इस विषय में क्या कहते हैं इसे हमलोग जान लें। वे अपने छात्र के लिए क्षमा-याचना करते हैं अथवा शास्त्रार्थ द्वारा अपने मतामत का निर्णय करना चाहते हैं यह स्पष्ट हो जाएगा।' एक पत्र के साथ विशेष दूत को तत्क्षण वहाँ भेज दिया गया।

इधर पाठशाला में लौटने पर भाष्याचार्य को यामुन द्वारा पूरी कथा की सूचना प्राप्त हुई और भय से उनका मुख सूख गया। उन्होंने कहा—'वत्स यामुन, यह तुमने अत्यन्त अनुचित कार्य किया। आचार्य कोलाहल दिग्विजयी पंडित है, इसके अतिरिक्त वे अत्यन्त अहंकारी भी हैं। बहुत जल्दी वे प्रतिशोध लेंगे। इस बार मेरी एवं इस पाठ शाले की असीम दुर्दशा होगी।'

प्राचीन एवं नवीन सभी छात्र एक-एक कर वहाँ आकर जमा हो गए। इस बार इस पाठशाला पर राज-रोष अत्यधिक है और इस बार किसी का निस्तार नहीं, यह सोचकर सभी के चेहरों पर आतंक की छाया दिखलाई पड़ने लगी।

यामुन ने दोनों हाथ जोड़कर निवेदन किया—'प्रभु, मुझे आप क्षमा करें। वन्जी को मैं ने जो कथाएँ कहीं वे तो उनके औद्धत्य के समुचित उत्तार हेतु कहीं और सम्मान के रक्षार्थ भी।'

यामुन, तुम तो संसार के विषय में अभी अनभिज्ञ हो। आचार्य कोलाहल को राजा गुरु सदृश श्रद्धा करते हैं और राज-सभा में उनकी विपुल प्रतिपत्ति भी है। उनके शिष्य के साथ कठोरता से बातें करके उसे असन्तुष्ट करना तुम्हारे लिए उचित नहीं हुआ। तुमने तो अनेक जटिलताओं और विपत्तियों की सृष्टि कर ली है।'

'प्रभु, आपकी प्रतिष्ठा और सम्मानार्थ ही तो मैंने इस विपत्ति का खतरा मोल लिया है। इसके अतिरिक्त मेरी अन्तरात्मा से कोई बार-बार कह रहा है—'कोई भय नहीं है। अपनी मेधा और प्रतिभा के द्वारा गुरु के सम्मान की रक्षा करो और अहंकारी आचार्य कोलाहल के सम्मुखीन होओ। तुम्हारी विजय तो सुनिश्चित है।'

थोड़ी देर चुप रहकर आचार्य ने कहा—'वत्स, तुम तो प्रभु श्रीरंगनाथ के प्रिय भक्त, सिद्ध महात्मा, नाथमुनि के पौत्र हो। इसके अतिरिक्त मुझे ज्ञात है कि ईश्वर प्रदत्त किस अमानुषी प्रतिभा को लेकर तुमने जन्म ग्रहण किया है और मात्र १२ वर्ष की आयु में तुमने आयत्त किया है कितना विपुल शास्त्र-ज्ञान। संभव है ऐसा करने में ईश्वर का कोई अभिप्राय हो। संभव है तुम्हारे माध्यम से ही आचार्य कोलाहल के दर्प चूर्ण हों, सभी प्रकार के अत्याचार दूर होवें तथा उसके साथ ही इस देश की सारस्वत साधना और जीवन

शुद्धतर, पवित्रतर हो उठे।'

'प्रभु, मुझे आशीर्वाद दें कि आपके प्रसाद से मैं विजयी होऊँ'—गुरु-चरण वंदना करते हुए यामुन ने अपनी प्रार्थना निवेदित की।

गुरु ने आशीर्वाद तो दिया परन्तु मन से आतंक गया नहीं। ईश्वरीय कृपा के अतिरिक्त इस आसन्न विपदा से रक्षा का कोई दूसरा उपाय दिखलाई नहीं पड़ रहा था।

दूसरे दिन प्रातः काल होते-होते पाण्ड्यराज का दूत आ धमका। परिष्कृत भाषा में पंडित भाष्याचार्य ने विदित कर दिया कि उनका शिष्य एक बालक होने पर भी अमानुषी प्रतिभा और विद्या से युक्त है और प्रस्तावित वाद-विवाद की सभा में वह यथासमय उपस्थित होगा।

सम्पूर्ण पाण्ड्य-राज्य में दावाग्नि की तरह यह संवाद फैल गया कि बारह वर्ष का एक किशोर वाद–विवाद के लिए आह्वान कर रहा है आचार्य कोलाहल सदृश बहुश्रुत और दिग्विजयी महारथी को। इससे अधिक आश्चर्य की बात भला दूसरी क्या हो सकती है?

आचार्य कोलाहल अतिशय विद्या-दर्पी थे और उन्होंने पार्थिव समस्त ज्ञान उपार्जित किया था। इसीलिए तो पाण्ड्य की राजसभा में एवं राजधानी के प्रबुद्ध समाज में उसके शत्रुओं का अभाव नहीं था। अनेक लोग सोचते थे कि दैवी विधान से यदि कोलाहल का पतन होगा, तो क्या वह एक चमत्कार नहीं होगा?

सर्वत्र भीड़ इकट्ठी होकर विचार विमर्श करने लगी कि पता नहीं यह प्रतिद्वन्द्वी बालक ईश्वरीय शक्ति से समन्वित है अथवा नहीं। नहीं तो उसकी यह स्पर्द्धा! देश के सभी पंडितों को पराजित करने का साहस भला उसे कैसे हुआ?

इसी बीच राजा को तर्क योद्धा बालक यामुन जिस विस्मयकारी पांडित्य और प्रतिभा के अधिकारी हैं, यह कथा मालूम हो गई परन्तु दुर्द्धर्ष और तर्क शूर कोलाहल के समक्ष वे किस प्रकार ठहर सकेंगे, यह बात उनकी कल्पना में भी नहीं समा रही थी।

उस दिन राजा और रानी दोनों बगीचे में घूम रहे थे, दोनों के बीच वाद-विवाद में कौन विजयी होगा, इस विषय को लेकर बहस छिड़ गई। राजा की धारणा थी कि राजसभा में दिग्विजयी के सम्मुख खड़े होते ही बालक भय से मूर्छित हो जाएगा परन्तु रानी अन्य रूप में सोचती थी। उसने कहा—'महाराज, मेरे मन में पूर्ण रूप से ऐसा होता है कि यह बालक ईश्वरीय

शक्ति से शक्तिमान् है । जिस तरह साहस करके वह तर्कयुद्ध के लिए आया हुआ है, उससे मेरे मन में होता है कि वह प्रतिद्वन्द्वी को अवश्य पराजित करेगा महाराज ।'

राजा ने सहास्य विचार प्रकट किया—'इसे उसका साहस, अथवा दुस्साहस अथवा हास्यकर प्रयास ही तो कहेंगे ।'

'महाराज, दो दिनों से बार.बार मेरे मन में चिन्ता की एक झलक कौंध जाती है कि राजा जनक के सभा पण्डित आचार्य बन्दी को १२ वर्ष के ही बालक अष्टावक्र ने तो वाद-विवाद में पराजित किया था तथा आचार्य शंकर ? सोलह वर्ष की आयु में ही वे भारतजयी पंडित हो गए । महाराज, मेरी तो दृढ़ धारणा है कि यह बालक उसी तरह एक ईश्वरीय शक्ति का अधिकारी है । वह अवश्य ही विजयी होगा ।

'यदि वह विजयी नहीं होता है तब ?'

"तब मैं आपकी दासियों की दासी होकर रहूँगी महाराज"—इस प्रकार रानी ने बाजी लगाई ।

कथोपकथन के प्रसंग में पाण्ड्यराज को भी जिद हो आई और उत्तेजित स्वर में वे बोले—'तो ठीक है, रानी तुम भी मेरी शपथ सुन लो । यदि बालक यामुन विजयी होता है तो तत्क्षण उसे मैं अपना आधा राज्य दान में दे दूँगा । देखा जाय अब कौन विजयी होता है इस बाजी में ।'

राजा-रानी की इस बाजी की कथा तुरत चतुर्दिक प्रसारित हो गई और इसके साथ ही जनसाधारण के भी कौतूहल की सीमा न रही ।

राजा द्वारा प्रेषित स्वर्ण खचित शिविका पर आरोहण कर यामुन राजधानी मदुरा में उपनीत हुए । राज-सभा में केवल राजधानी के ही नहीं बल्कि कौतूहलवश दूर-दूरस्थ के लोगों की भी भीड़ इकट्ठी हो गई । असम और अद्भुत वाद-विवाद देखने हेतु उस दिन सभा में शास्त्रविद् आचार्य, शिक्षित तथा अशिक्षित नागरिक एक साथ सम्मिलित हो गए थे । उत्तेजना और उन्माद की तो कोई सीमा नहीं थी ।

बालक यामुन धीर और गंभीर भाव से सभा-कक्ष में आ उपस्थित हुआ और नतसिर हो ज्ञापित किया राज-रानी को अपनी श्रद्धा । आचार्य कोलाहल ने कौतूहलतावश उस क्षुद्र बालक की ओर तत्क्षण देखा और फिर रानी की ओर मुँह घुमाकर उपेक्षा और घृणामिश्रित हँसी विखेरते हुए प्रश्न किया, "आलउयान्दारा ?" अर्थात् यह बालक मुझे क्या पराजित करेगा ?

बालक पंडित में अपनी पूर्ण आस्था ज्ञापित करते हुए दृढ़ स्वर में रानी

न उत्तर दिया–'आलउयान्दार' अर्थात् हाँ, यही बालक तो पराजित करेगा।'[1]

राज–सभा में तो तिल रखने की जगह नहीं थी; सभी उत्साह और उमंग के साथ चंचल होकर वाद–विवाद की प्रतीक्षा कर रहे थे।

पाण्ड्यराज का निर्देश पाकर आचार्य कोलाहल ने प्रारम्भ किया अपना प्रश्न। इन्होंने प्रथम पाणिनि और अमर कोष से कई प्रश्न पूछे। ऋजुता और दीप्त भंगिमा से खड़े होकर यामुन ने बड़ी सरलता से उनके उत्तर दिये। मीमांसा की दक्षता तथा वाक् चातुरी से दर्शकों को सहज प्रेम हो गया। तुमुल करतलध्वनि से सभागृह गूँज उठा।

अब यामुन के प्रश्न करने की बारी आई; परन्तु यामुन इस बात को भली भाँति जानते थे कि दिग्विजयी आचार्य कोलाहल ने प्रारम्भ में उन्हें प्रतिद्वन्द्वी पंडित के रूप में कोई सम्मान नहीं दिया। उनकी गणना तो मात्र एक अध्ययन-रत नगण्य छात्र के रूप में की। इसीलिए अब अपने प्रश्न–बाणों के प्रहार द्वारा इन्होंने कोलाहल को क्रुद्ध कर दिया। इन्होंने कहा—'आचार्य, आपके प्रश्न कोई गूढ़ नहीं थे। प्रतीत होता है कि एक क्षुद्रकाय बालक समझ कर मेरी आप अवहेलना कर रहे हैं; आपके अनुसार विशालकाय और विराट् उदर होने पर ही अगाध पांडित्य होता है। तो क्या मैं ऐसा समझूँ कि एक विशालकाय हाथी आपकी अपेक्षा श्रेष्ठ पंडित है?'

सभा में हँसी की फुहारें छूटने लगीं और इसीके साथ–साथ कोलाहल भी होने लगा।

तब यामुन ने कहा—'आचार्यवर, आपको विदित है, जब अष्टावक्र ने जनक के सभा-पंडित बन्दी को पराभूत किया था, उस समय उनकी अवस्था मात्र बारह वर्ष की थी। इसीलिए मेरे साथ प्रश्नोत्तर के लिए उम्र की कथा का विचार नहीं करेंगे।'

हँसकर पाण्ड्यराज ने कहा—'ये सभी बातें जाने दें। अब राजपंडित से प्रश्न करें। सत्यकर तर्क–विचार अब प्रारम्भ हो।'

राज–निर्देश स्वीकार करते हुए यामुन अब उठ खड़े हुए और उन्होंने प्रश्न किया--'आचार्य कोलाहल, मैं आपसे अत्यन्त सरल तीन प्रश्न करूँगा। सभा के समक्ष आप अपनी योग्यतानुरूप उत्तर दें। मेरा प्रथम वक्तव्य है: आपकी माता बंध्या नहीं हैं। इस वाक्य का आप खंडन करें।'

आचार्य कोलाहल हतवाक् हो गए। यह क्या घृणित वाक्य है! निज

1. वेदान्तदर्शन का इतिहास (प्रथम भाग): प्रज्ञानानन्द सरस्वती, शंकर मठ, बरिसाल

माता के ज्वलन्त पुत्र रूप में वे राजसभा में बैठे हुए हैं, तब कैसे वे कहेंगे कि उनकी माता बध्या है ? नहीं, यह कोई प्रश्न ही नहीं है। इसका उत्तर भी कुछ नहीं दिया जा सकता।

विद्रूप से हँसते हुए यामुन ने कहा--'अब मेरे दो वाक्यों को आचार्यवर सुनें। मैं कहता हूँ कि पाण्ड्यराज पूर्णतः निष्पाप हैं। आप इसका खंडन करें। मेरा शेष वाक्य है—हमलोगों की राजमाता जो इस समय राजसिंहासन पर उपविष्टा हैं, सावित्री के सदृश पवित्र हैं। आप मेरे इस वाक्य का भी खंडन करें।'

आचार्य कोलाहल विभ्रान्त और वित्रत हो उठे। अभियोग के स्वर में राजा से कहा,—'महाराज, इन दोनों वाक्यों के खंडन करने के क्रम में मुझे प्रमाणित करना होगा कि आप पापी हैं और हमलोगों की राजमाता सती, साध्वी नहीं हैं। नहीं, नहीं, यह बड़ा धृष्ट प्रश्न है, इसमें कूट और घृणा भी पड़ी है। मैं इनका उत्तर नहीं दूँगा।'

पंडित कोलाहल के पक्ष के पंडितगण और छात्रों ने सभा के बीच में चिल्लाना प्रारम्भ कर दिया—ये सभी प्रश्न अशालीन और असमीचीन हैं। कोलाहल के विरोधी भी अत्यधिक उत्तेजित हो उठे। उनलोगों ने बार-बार जिद की कि जब प्रश्न किया गया है तो उसका खंडन भी करना होगा। दोनों पक्षों के इस वाक् युद्ध में राजसभा भी मुखर हो उठी।

सबों को शान्त रहने का आदेश देते हुए राजा ने कहा—'अच्छा, जब आचार्य कोलाहल उत्तर देने में असमर्थ हो गए हैं तो अब प्रतिपक्षी यामुन ही अपने प्रश्नों का खंडन करेंगे।'

यामुन उठ खड़े हुए और राजा तथा विद्वन्मण्डली का अभिवादन करते हुए बोले—'ऐसी स्थिति में अब मैं अपने प्रस्तावों को एक-एक कर खंडित करता हूँ। आचार्य कोलाहल अपनी माता के एकमात्र पुत्र हैं, फिर भी मैं कहूँगा कि उनकी माता वन्ध्या हैं। श्रेष्ठ धर्मशास्त्रकार मनु ने विधान दिया है, एकाकी पुत्र का पिता एकाधिक पुत्र-लाभ की कामना से पुनर्विवाह कर सकता है। शास्त्रकार चाहते थे कि पुत्रों के बीच में जो एक बचेगा, वह गया जाकर पिण्ड-दान देने में समर्थ तो हो सकेगा। मेधातिथि के भाष्य में भी हमलोग देखते हैं :—एकः पुत्रोऽपुत्रो वा। अतएव आचार्य कोलाहल की माता को बन्ध्या कहा जा सकता है।'

सभा-कक्ष गूँज उठा। अनेकों ने कहा—'जिस प्रकार का कूट प्रश्न उसी प्रकार का कौशलपूर्ण खंडन। वाह, वाह।'

इसके बाद यामुन ने कहना प्रारम्भ किया--'अब राजा के निष्पाप होने की कथा आती है। संहिता के एक श्लोक में मनु ने कहा है कि प्रजा की देखभाल के बदले में राजा प्रजा से कर लेता है। प्रजा की उत्पन्न वस्तुओं का षष्टांश उसका प्राप्य है। इस उत्पन्न वस्तु से आशय भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही वस्तुओं से है। इसीलिए तो ऐसा कहा जाता है कि राजा अपनी प्रजा के पाप-पुण्य के भी एक षष्टांश को ग्रहण करता है। अब आप ही लोग बोलें कि राज्य की प्रजा क्या निष्पाप है ? यदि वे लोग निष्पाप नहीं है तो राजा भी निष्पाप नहीं हैं।'

'अब महारानी के साध्वी होने की कथा को लें। मनु ने कहा है—अभिषेक-अनुष्ठान के समय राजा के शरीर में सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण प्रभृति अष्ट दिक्-पाल विराजते हैं। तदनुयायी सम्राज्ञी, राजा और उसके अभ्यन्तर स्थित अष्ट दिक्पाल, उन दोनों की महिषी हैं। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर आप क्या कहेंगे, वे सावित्री के समान साध्वी हैं ?'[१]

बाल पंडित की प्रतिभा और शाणित बुद्धि की प्रखरता से सभी चमत्कृत थे। शास्त्र-पारंगत तो सभी थे ही, सबों ने अनुभव किया कि व्याख्यान-कौशल, कूट-बुद्धि एवं चातुर्य में वे अपराजेय हैं।

प्रतिपक्षी दिग्विजयी पंडित कोलाहल नतसिर शान्त हो बैठे हुए हैं और सभाकक्ष में सभी सोल्लास यामुन का अभिनन्दन कर रहे हैं।

इसके पश्चात् राजाज्ञा से प्रारम्भ हुआ वेद, उपनिषद् और धर्मशास्त्र सम्बन्धी दुरूह तत्व और दार्शनिक विचार द्वन्द्व। आचार्य कोलाहल का उत्साह, आत्मविश्वास और दम्भ पूर्व की भाँति न रहा। मानो सारस्वत जीवन की दीप-शिखा निर्वापित हो गई तो मात्र एक फूत्कार द्वारा। किसी प्रकार वे टटोलते-टटोलते शास्त्र के जटिल तत्वों की व्याख्या करना चाहते हैं और विपर्यस्त हो रहे हैं उस प्रतिभावान् प्रतिद्वन्द्वी बालक के एक-एक तीक्ष्ण प्रश्न-वाणों द्वारा। वाद-विवाद समाप्त होते-होते तर्कशूर कोलाहल एकबारगी ही पराजित हो बैठ गए। सम्पूर्ण विद्वन्मण्डली द्वारा समर्थन प्राप्त होने पर पाण्ड्यराज ने यामुन के विजयी होने की घोषणा की।

तब चतुर्दिक ध्वनित हुआ बालक पण्डित यामुन का साधुवाद और इस जयध्वनि के साथ-साथ उनके गले में पड़ी जयमाल।

रानी की प्रसन्नता की सीमा न रही। पार्श्व में उपविष्ट नतसिर और हतभाग्य आचार्य कोलाहल की ओर देखते हुए व्यंग्यात्मक स्वर में वह बोल

---

१. यामुनाचार्य : जीवन कृष्ण डे, उद्बोधन, चैत्र १३७७

उठीं 'आलउयान्दार, आलउयान्दार।' अर्थात् आचार्य, ऐसी स्थिति में इस बालक ने आप सरीखे दिक्‌पाल आचार्य को पराजित किया।

सभा भंग हुई। इसके बाद रानी के निकट ली गई शपथ को राजा न पूर्ण किया—यामुन को अपने राज्य का अर्द्धांश प्रदान कर।

पाण्ड्यराज की विचार सभा में उस दिन के विजयी बालक पंडित ही हुए परवर्त्तीकाल के देश-वरेण्य महासाधक यामुनाचार्य। भक्तिवाद के जाज्वल्यमान प्रकाश स्तम्भ के रूप में इनका आविर्भाव हुआ दशम शताब्दी में एक दाक्षिणात्य के घर। विशिष्टाद्वैतवाद के महान् उद्‌गाता और धारक-वाहक रूप में वे परिचित हुए। आचार्य रामानुज के प्रेरणादाता और आराध्य के रूप में। उन्होंने समस्त भारत में अर्जित की अतुलनीय कीर्त्ति।

दक्षिण भारत के मदुराई में एक विख्यात वैष्णव ब्राह्मण के घर यामुनाचार्य का जन्म हुआ। इनके पिता का नाम ईश्वरमुनि था। पितामह नाथमुनि तो एक दिक्‌पाल पंडित थे। चतुर्दिक इनकी ख्याति एक सिद्धभक्त महापुरुष के रूप में थी।

शंकर मठ के स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने इस मनीषी और साधक के सम्बन्ध में लिखा है—-दशम शताब्दी में विशिष्टाद्वैत साधना की धारा प्रबल वेग से प्रवाहित होकर भविष्य में होनेवाली महाप्लावन की पूर्वसूचना प्रदान करने लगी। इस दार्शनिक यज्ञ के प्रथम पुरोधा महापुरुष श्रीनाथमुनि ही थे। कम से कम ९०८ ई० में विशिष्टाद्वैतवाद का प्लावन प्रतीत होने लगा। यामुनाचार्य के समय में नाथमुनि की साधना के फल लगने प्रारम्भ हो गए और रामानुजाचार्य की साधना के रूप में वे फल तो परिपूर्ण हो गए। नाथमुनि के हृदय में जो स्रोतस्विनी प्रस्फुटित हुई परवर्तीकाल में उसी ने तो आप्लावित किया समस्त भारत को।'[1]

दक्षिण के भक्त-समाज के मध्य प्रथम वैष्णवाचार्य के रूप में सम्मानित हैं श्रीनाथमुनि। इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य वेंकटनाथ ने लिखा है—समस्त अज्ञान-अंधकार के विनाशार्थ यह दर्शन नाथमुनि द्वारा सूचित हुआ, यामुन के अनेक प्रयासों के फलस्वरूप इसने वृद्धि प्राप्त की एवं रामानुज द्वारा यह सम्यक् रूप में विस्तीर्ण हुआ।'[2]

वेंकटनाथ ने लिखा है कि नाथमुनि ने 'न्यायतत्व' नामक एक ग्रंथ का प्रणयन किया था जिसकी कुछ उद्धृतियों का अनुवाद भी इन्होंने किया था परन्तु

---

१. वेदान्त दर्शन का इतिहास— स्वामी प्रज्ञानानन्द, शंकर मठ, वरिसाल।

२. संकल्प-सूर्दोदय — वेंकटनाथ

आजकल यह ग्रंथ अप्राप्य है। अध्यापक श्रीनिवासचारी के अनुसार विशिष्टाद्वैतवाद का यह प्रथम आधुनिक ग्रंथ है।१

अपने जीवन के परवर्त्ती काल में नाथमुनि ने श्रीरंगनाथ के एक अन्तरंग सिद्धभक्त तथा श्रीरंगम के श्रेष्ठ आचार्य रूप में विपुल ख्याति अर्जित की थी। श्रीसम्प्रदाय के श्रेष्ठ आचार्य रामानुज ने अपने स्तोत्र रत्न एवं अन्य ग्रंथों में नांथमुनि की कथा का श्रद्धा भाव से उल्लेख किया है और मुक्तकंठ से उनकी प्रशस्ति का बखान किया है।

नाथमुनि के एक मात्र पुत्र थे ईश्वरमुनि जिसका लालन-पालन उन्होंने परम स्नेह और आदर से किया था। बड़े होने पर बड़े यत्नपूर्वक उसे अपने पास रखकर अनेक शास्त्रों में उसे पारंगत किया। शास्त्र-ज्ञान के साथ-साथ पुत्र ईश्वरमुनि के जीवन में प्रवल विष्णु-भक्ति परिलक्षित हो रही थी। इष्टदेव विष्णु की अर्चना और साधना में वे निविष्ट हो चुके थे। पुत्र की विद्वत्ता और साधन-निष्ठा का दर्शन कर नाथमुनि का अन्तर तृप्ति तथा आनन्द से परिपूरित हो उठता।

इसके बाद नाथमुनि ने तरुण कृती अपने पुत्र का विवाह कराकर उसे संसाराश्रम में प्रविष्ट कराया और इसके अनेक वर्षोपरान्त ९५३ ई० में एक सुदर्शन और सुलक्षणयुक्त पौत्र भूमिष्ठ हुआ। इस क्षुद्र संसार में मानो आलोक रश्मि की एक झलक दिखलाई पड़ी। सम्पूर्ण गृह आनन्दोल्लास से परिपूर्ण हो उठा।

इस पौत्र का नामकरण हुआ यामुन। बाल्यकाल से ही असाधारण मेधा और प्रतिभा प्रकट हो रही थी। एक बार जो कुछ वह श्रवण कर लेता उसे पुनः कभी नहीं भूलता। इतना ही नहीं, अनेक अवसरों पर अतीत से सम्बन्धित नव-नव प्रश्नों द्वारा अपने शिक्षकों को वे अवाक् कर देते।

ईश्वरमुनि शास्त्रविद् ब्राह्मण वंश के एक योग्य प्रतिनिधि के रूप में हो गए थे और परमादरणीय पौत्र यामुन भी सहजात शुभ संस्कार लेकर गठित हो रहे थे। अब इस विषय में कोई संदेह नहीं रहा कि आगामी कतिपय वर्षों के भीतर वे एक कृती छात्र सिद्ध होंगे परन्तु इसी समय नाथमुनि के सांसारिक जीवन पर निपात हुआ दैव का एक निर्मम आघात। एक कठिन रोग का भोगकर प्रिय पुत्र ईश्वरमुनि ने आकस्मिक रूप से इहलोक की लीला समाप्त की।

अपने एकमात्र पुत्र के वियोग से नाथमुनि मुह्यमान हो उठे और इसके साथ ही जाग उठी हृदय में तीव्र वैराग्य की बड़वाग्नि। इन्होंने संकल्प लिया चिर संसार-त्याग का और संन्यास लेकर प्रारम्भ किया कृच्छ्र साधना।

१. दी फिलासफी ऑफ विशिष्टाद्वैत—जि० एन० श्रीनिवासचारी, आडेयार।

इस तरह प्रभु रंगनाथजी के पवित्र पीठ में अवस्थित हो व्यतीत किए उन्होंने अपने जीवन के शेष दिन।

परिवार के लोगों के भरण-पोषण हेतु मोटे तौर पर व्यवस्था करने के उपरान्त पौत्र बालक यामुन को उन्होंने गुरु-गृह भेज दिया। कारण कि कुल-प्रथा के अनुरूप इस वय में सभी अपने गुरु-गृह में ही निवासकर शास्त्र-पाठ समाप्त करते थे। अतएव यामुन के लिए भी वही व्यवस्था की गई। पंडित भाष्याचार्य की कीर्ति एक प्रख्यात शास्त्रविद्, सदाचारी और विष्णुभक्त के रूप में थी। इन्हीं के आश्रय में यामुन को सुपुर्द कर नाथमुनि निश्चिन्त हुए। तप्तश्चात् श्रीरंगम में उपनीत होकर ग्रहण किया वैष्णवीय संन्यास।

विष्णु-आराधना के साथ-साथ नाथमुनि निगूढ़ योग-साधना में भी आरुढ़ हुए। तत्पश्चात् कतिपय वर्षों के भीतर ही श्रीरंगम के अंचलों में इनकी ख्याति एक साधक के रूप में फैल गई। उन्होंने योग सिद्धि प्राप्त की थी अतएव साधक मंडली में उनकी असीम प्रतिष्ठा थी, सभी उन्हें नाथमुनि के नाम से सम्बोधन करते।

इधर भाष्याचार्य की पाठशाला में अत्यल्प अवधि में बालक यामुन परिचित हो गए एक अग्रगण्य और प्रतिभावान् छात्ररूप में। इस नवीन छात्र के प्रति पंडित भाष्याचार्य के स्नेह और ममता की सीमा न थी। ईश्वरमुनि के घर का बालक स्वाभाविक रूप से पिता और पितामह का सात्विक संस्कार और सहजात मेधा लेकर उत्पन्न हुआ था। तदुपरान्त दिनानुदिन उनकी मनन-शक्ति और प्रतिभा की चमत्कारिता प्रकाश पा रही थी। प्रारम्भ में ही आचार्य को पता चल गया कि उनका यह शिष्य ईश्वर प्रदत्त असामान्य प्रतिभा का अधिकारी है और कालान्तर में इसकी गणना दिक्पाल पंडित के रूप में अवश्य होगी। इसीलिए भाष्याचार्य ने स्वभावतः यामुन को प्राणपन से इतने दिनों से पढ़ाया था और उसका गठन किया था सर्वशास्त्रविद् एक पंडित के रूप में।

छात्र यामुन को केन्द्र में रखकर आचार्य अनेक प्रकार से आशान्वित थे—भावी सुख-स्वप्न की परिकल्पना कर प्रसन्न हो रहे थे। परन्तु उस दिन इस प्रकार हठपूर्वक वे दुर्द्धष पंडित कोलाहल के साथ संघर्ष मोल लेंगे और उस संघर्ष में सर्वथा विजयी होंगे, इसकी कल्पना तक उनके मन में कभी हुई नहीं थी।

अब भाष्याचार्य के आनन्द की सीमा न रही। दर्वी और अत्याचारी आचार्य कोलाहल पांड्यराज्य का परित्याग कर कहीं दूर भाग गया। बालक शिष्य की विजय से जिस प्रकार भाष्याचार्य की वैयक्तिक कीर्ति और प्रतिपत्ति बढ़ गई उसी प्रकार उनकी पाठशाला की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगे।

विजयी पंडित यामुन की जीवनधारा अब प्रवाहित होने लगी एक नवीनतर पुष्करिणी की ओर। स्वयं तो वे बालक थे और राष्ट्रीय कर्मों की उन्हें कोई अभिज्ञता थी नहीं इसीलिए पांड्यराज के अभिमावकत्व और सहायता के द्वारा ये अपने नव उपार्जित राज्य के उत्तरदायित्व का परिचालन करने लगे। इसके साथ-साथ इनकी सारस्वत जीवन धारा भी प्रवाहित होने लगी। देश-देशान्तर के शास्त्रविद् पंडितगण उनकी राजधानी में इकट्ठे होने लगे। इन पंडितगण के साहचर्य से यामुन ने एक शास्त्र पारंगत विद्वन्मण्डली का गठन किया।

क्रमश: यौवन में पदार्पित करने लगे राजा यामुन। शक्ति, आत्मविश्वास और प्रतिभा के मानो वे मूर्त्तिस्वरूप थे। पार्श्ववर्ती राजाओं के ऊपर इनका प्रभाव स्वाभाविक रूप से शनै: शनै: बढ़ने लगा। राज्य की सीमा बढ़ गई, राज्य का कोषागार भी परिपूर्ण हो गया और इसके साथ ही उसके चारो ओर भोग-विलास के परिवेश की भी सृष्टि हो गई। दस-बारह वर्षों के अन्तराल में ही यामुन परिणत हुए एक धनधान्य पूर्ण राज्य के अधीश्वर रूप में।

उनका जन्म तो एक स्वाध्यायी, तपस्वी एवं अकिंचन ब्राह्मण के घर हुआ था परन्तु भाग्यचक्र से वे आकृष्ट हुए राजशक्ति और राजवैभव की ओर।

कतिपय वर्षोपरान्त यामुन को स्वभावत: विस्मृत होगई प्रारम्भिक जीवन की सात्विकी, सदाचारी और तपोनिष्ठ चित्तवृत्ति की कथा। राज्य के प्रसार और प्रभाव के कारण धन, मान और विलास की ओर उनकी अभिरुचि दिन प्रतिदिन बढ़ने लगी। आरम्भिक जीवन की परम संभावनाओं के ऊपर शनैः शनै: विस्मृति रूपी यवनिका गिरने लगी।

इस प्रकार प्राय: तेईस वर्षों तक बड़े आनन्द के साथ राजसत्ता का परिचालन किया उन्होंने और सर्वत्र वे परिचित हुए एक कुशल राजनीतिज्ञ एवं दक्ष शासक के रूप में। उनके राज्य की सीमा भी दिनानुदिन बढ़ने लगी।

गृहत्याग कर संन्यास लेने के उपरान्त भी नाथमुनि को अपने पौत्र की कथा विस्मृत नहीं हुई; बल्कि उनकी कल्याणमयी दृष्टि बराबर उसी की ओर निबद्ध रहती थी। यामुन के आत्मिक जीवन की परम संभावनाएँ युवत थीं सिद्ध पुरुष की उपलब्धियों से। उन्होंने अपने ध्यान के द्वारा मालूम कर लिया था कि भविष्य में उसका अभ्युदय भक्ति धर्म के एक महान् नेता के रूप में होगा जिसके सान्निध्य में सहस्र-सहस्र साधक ग्रहण करेंगे अपना आश्रय। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी विदित कर लिया था कि यामुन की तपस्या, सिद्धि और दार्शनिकता पर ही आगे चलकर विशिष्टा-द्वैतवाद की आधार शिला

रखी जाएगी और जो सम्पूर्ण भारतवर्ष की धर्म-संस्कृति के आन्दोलन को एक कदम अग्रसारित करेगा।

यामुन राज्य के कार्यों में सदा व्यस्त रहते थे परन्तु अपनी दिव्य दृष्टि के द्वारा नाथमुनि ने तो देखा लिया था कि उसका सहजात सात्विकी संस्कार, त्याग, वैराग्य तथा कृच्छ्रमय तपस्या का संस्कार तो जीवन की गम्भीरतर पुष्करिणी में अन्तः सलिला फल्गुधारा सदृश प्रवाहित हो रहा था। उस प्रच्छन्न धारा के आत्मप्रकाश में अब अधिक विलम्ब नहीं था; उसकी घड़ी तो प्रायः उपस्थित हो गयी थी।

इधर नाथमुनि के स्वयं के महाप्रयाण की बेला भी सन्निकट हो गई थी। विदा की बेला के समय उन्होंने अपने अन्तरग शिष्य, उच्चकोटि के भक्तिसिद्ध साधक, मानाक्काल नम्बिके आरि को अपनी मृत्यु-शय्या के समीप बुलाकर कहा — 'नम्बि, तुम्हारे ऊपर तो मैंने अनेकों बार कतिपय कर्त्तव्य-भार सौंपा है। इस बार एक ईश्वरीय कार्य-भार सौंपूँगा।'

'आज्ञा दें प्रभु, यह दास किसी भी कार्य में पाँव पीछे न करेगा।' करबद्ध हो निवेदन किया नम्बि ने।

'वत्स, यह मैं जानता हूँ। इस बार ध्यानपूर्वक मेरी कथा सुनो। मेरा समय पूर्ण हो गया है और आज ही मैं इस शरीर रूपी केंचुली को छोड़ रहा हूँ। परन्तु उसके पश्चात् दक्षिण देश के सहस्रों भक्तों के लिए विशेषकर श्रीसम्प्रदाय के अनुगामियों के लिए एक आश्रय के गठन सम्बन्धी बात का मैं विचार कर रहा हूँ। नम्बि, मेरे पौत्र राजा यामुन को क्या तुम जानते हो?'

'आज्ञा हो, उनके यहाँ मैं कई बार जा चुका हूँ। वे तो एक सदाचारी और धार्मिक राजा हैं, इसे तो स्वीकार करना होगा।'

'सुनो नम्बि, वह जितना भला हो परन्तु राजत्व ग्रहणकर वह उसमें निम्मजित हो गया है। उसे उससे खींचकर बाहर करना होगा।'

'यह क्या बात है प्रभु, आप यह क्या कह रहे हैं?'

'हाँ नम्बि, वही करना होगा और तुम्हें ही यह करना होगा। प्रभु रंगनाथ ने तो मुझे उसका स्वरूप दिखला दिया है। राजा यामुन के अभ्यन्तर में एक शक्तिधर महावैरागी प्रच्छन्न रूप से अवस्थित है। वह इस तथ्य से अवगत नहीं कि ईश्वर-प्रेरित वह एक महान् साधक है। वह तो अनेकों का उद्धार-कर्त्ता है परन्तु उसका आत्म-स्वरूप तो विस्मृत हो गया है और वह विषय-पंक में निम्मजित है। उसे उस पंक से बाहर निकालना होगा। उसे उसका यथार्थ परिचय जतलाना होगा और समझाना होगा ईश्वरीय कार्य

के उत्तरदायित्व की कथा ।

'परन्तु प्रभु, मेरे द्वारा यह दुरुह कार्य किस प्रकार होगा सम्पन्न, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है ।'

'वत्स, तुम्हीं इसे कर सकोगे । राजा यामुन तो सर्वदा राजकार्य के जटिल जंजाल में फँसे रहते हैं । उसे कौशल से फुसलाकर श्रीरंनाथ के चरणों तले तुम्हीं को लाना होगा । उसके अन्दर सुषुप्त शक्ति को जागृत करना होगा । रंगनाथ की कृपा से तुम भक्ति-सिद्ध हो चुके हो । कुछ समय के लिए तुम्हें अपना पावन सत्संग यामुन को देना होगा । तुम देखोगे कि मुक्ति के रसास्वादन के लोभ से एक उन्मत्त की नाईं वह लौट आएगा तुम्हारे स्वर्ण-पिंजर में । किसी भी तरह उसे खींचकर बाहर निकाल लाओ नम्बि, गुरु रूप में मेरा यही शेष निर्देश है तुम्हें ।'

'प्रभु, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है इस दास को ।'

वृद्ध नाथमुनि का अन्तर तृप्ति से भर गया । उनकी आंखों से दिव्या-लोक की आभा निकलने लगी और हृद्-पद्म में प्रभु श्रीरंगनाथ का ध्यान करते-करते वे प्रविष्ट हो गए नित्यलीला के महाधाम में ।

शीघ्र ही मानाक्काल नम्बि उपनीत हुए यामुन की राजधानी में । नाथमुनि के प्रियतम शिष्य होने के अतिरिक्त श्रीरंगम के वे एक प्रख्यात साधक भी थे । यामुन के साथ उनका पूर्ण परिचय था । सभागृह में नम्बि का दर्शन करते ही आश्चर्यचकित हो यामुन ने उनकी अभ्यर्थना की और उनसे पितामह के अन्तिम समय की कथा श्रवण की । तत्पश्चात् राज-अतिथि नम्बि की अभ्यर्थना की समुचित व्यवस्था कर वे आवश्यक कार्य में लिप्त हो गए ।

इस बीच कई दिन व्यतीत हो गए परन्तु यामुन के साथ किसी भी प्रकार की कथावार्त्ता का अवसर नम्बि को न मिला । मंत्रियों के साथ दरबार करते रहने के कारण राजा से सलाह करना संभव नहीं हो सका ।

लोगों द्वारा कानाफुसी से ज्ञात हुआ कि अपने एक पड़ोसी दुष्ट राजा के साथ युद्ध का आयोजन चल रहा है और यामुन उसी में व्यस्त हैं । इसीलिए भक्त नम्बि को समय दे पाना उसके लिए संभव नहीं हो रहा है ।

नम्बि ने अब अपना कार्यक्रम स्थिर किया । गुरु नाथमुनि कह गए थे कि आवश्यकता आने पर छल-बल का भी आश्रय लिया जा सकता है । तदनुरुप हो उसने एक कौशलपूर्ण उपाय का आश्रय लिया ।

बहुत चेष्टा के बाद उस दिन राजा से साक्षात्कार हो सका । सौजन्य और विनय प्रदर्शित करते हुए यामुन ने कहा—'भक्तप्रवर एक आसन्न युद्ध

की तैयारी में मैं अत्यन्त व्यस्त हूँ। इच्छा रहने पर भी आप सदृश वैष्णव साधक के साथ कथावार्त्ता न हो सकी।'

नम्बि ने इस सुयोग को हाथ से न जाने दिया। विनय-पूर्वक इन्होंने कहा– 'महाराज, युद्ध की तैयारी में बड़ी-बड़ी चीजें चाहिए अर्थ, युद्ध के उपकरण तथा सेना। आपके पास तो कुछ भी अभाव नहीं है।'

'भक्तवर, बड़ी-बड़ी सामग्रियों के उद्योग और आयोजन में कुछ न कुछ अभाव रहेगा ही। प्रतिपक्षी अत्यधिक खल और शक्तिशाली है। उसे अकस्मात् आक्रमण कर पूर्णरूपेण मैं विध्वस्त करना चाहता हूँ अन्यथा विषदन्त की भाँति वह बार-बार अंकुरित होगा और हमलोगों को अनावश्यक कष्ट पहुँचाएगा।'

'एक अभिज्ञ राजनीतिज्ञ के सदृश आप कथा कह रहे हैं।' प्रशंसा के स्वर में नम्बि ने कहा।

'जितनी जल्दी हो उतनी जल्दी मैं एक अश्वारोही वाहिनी का गठन करना चाहता हूँ। इस वाहिनी को लेकर मैं चपला की गति से प्रहार करूँगा; आकस्मिक और तीव्र आक्रमण से शत्रु सेना छिन्न-भिन्न हो जाएगी। परन्तु इस वाहिनी को विशाल बनाने हेतु आवश्यकता होगी विदेशों से अजस्र बलवान और वेगवान् अश्वों को आयात करने की। इसके लिए प्रचुर द्रव्य चाहिए। राज-कोष में तो अभाव हो गया है। इस सम्बन्धी व्यवस्था को लेकर मैं अत्यधिक व्यस्त रहता हूँ। थोड़ी प्रतीक्षा करें, समय आने पर आपके साथ पुनः वार्त्तालाप करूँगा।'

'महाराज, प्रचुर द्रव्य होने पर ही तो आपकी सभी समस्याएँ सुलझ जायेगी।'

'निश्चय ही। परन्तु चाहने पर भी वह वस्तु अकस्मात् प्राप्त नहीं हो सकती।

इस बार नम्बि ने अपना अमोघ वाण छोड़ा। उन्होंने कहा—'महाराज, अर्थ की चिन्ता न करें। मेरे समीप प्रचुर द्रव्य संचित हैं, विपुल परिमाण में धन-रत्न भी हैं और आप ही हैं उसके एकमात्र उत्तराधिकारी। आपके हाथों इस धन-सम्पत्ति को सौंपकर मैं दायित्व से मुक्त होना चाहता हूँ महाराज।'

एक मुहूर्त्त में ही यामुन की दोनों विशाल आँखें चमक उठीं और उत्साह से उसने नम्बि के दोनों हाथों को जकड़ते हुए कहा—'कहें, शीघ्र कहें, किसकी सम्पत्ति? कौन मुझे वह दान करेगा?'

'महाराज, आपके पितामह नाथमुनि सांसारिक आश्रम में यथार्थतः अकिंचन थे परन्तु संन्यास लेने के पश्चात् वे विपुल सम्पत्ति के अधिकारी हो गए। श्रीरंगम की पुण्यभूमि में एकान्त में तपस्या रत रहते समय उन्हें प्रभु-

कृपा से प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त हुई जो सब आपके लिए संचित रखी हुई है। आप ही कहें, नाथमुनि का ऐश्वर्य उनके एकमात्र पौत्र को छोड़कर भला दूसरा कौन प्राप्त कर सकता है?'

'महात्मन् वह सम्पत्ति कहाँ है? उसका संधान कौन बतला सकता है? कहें, अवश्य कहें सभी बातें मुझे स्पष्ट होकर कहें।' नम्बि ने राजा यामुन को अब धैर्य बँधाया।

नम्बि ने प्रशान्त स्वर में उत्तर दिया—'महाशय, एकमात्र मैं ही इसे जानता हूँ। यदि उस गुप्त सम्पत्ति का संधान पाना चाहते हैं तो अब अधिक विलम्ब न करें, मेरे साथ चलें।'

उत्साह से यामुन चंचल हो उठे और बोले—'अभी मैं अपने अंगरक्षकों को तैयार होने का निर्देश देता हूँ और वाहनादि की व्यवस्था के लिए भी कह देता हूँ।'

उत्तर देते हुए नम्बि ने कहा—'महाराज, गुप्त धन का स्थान यहाँ से दूर, श्रीरंगम अंचल में है। वहाँ तो आपको मेरे साथ एकाकी जाना होगा और वह भी छद्मवेष में। अधिक प्रचार होने से सब कुछ से हाथ धोना पड़ेगा। वहाँ से लौटते समय लोक-लस्कर और यान-वाहन की व्यवस्था सम्बन्धी आपको चिन्ता नहीं रहेगी।'

अपने राज-कार्य का भार यामुन ने अपने मंत्रियों के ऊपर कुछ दिनों के लिए सौंपकर प्रचारित करवा दिया कि वे कुछ दिनों तक अपने राजप्रासाद में विश्राम लेंगे और कोई भी इन दिनों उन्हें तंग न करे।

उसी दिन गंभीर रात्रि में यामुन ने चुपचाप नम्बि के साथ राजप्रासाद का परित्याग किया और दोनों एक साधारण नागरिक के छद्मवेष में श्रीरंगम की पुण्यभूमि की ओर चल पड़े।

पथ में चलते-चलते नम्बि ने कहा—'महाराज, सारा मार्ग तो पैदल ही चलना होगा। मैंने निश्चय किया है कि तीन कोस से अधिक हमलोग नहीं चलेंगे कारण कि आपसे अधिक श्रम करना कठिन होगा।'

राजप्रासाद के आमोद-प्रमोद और विलास-व्यसन के अभ्यस्त यामुन को पैदल चलने का कतई अभ्यास नहीं था अतः उसने नम्बि के प्रस्ताव पर तुरत अपनी स्वीकृति दे दी।

तीन कोस के भीतर प्रत्येक गाँव में पहुँचकर दोनों विश्राम लेते और तत्पश्चात् भक्त नम्बि प्रारम्भ करते अपनी इष्ट सेवा का कार्य। स्नान-वन्दनादि समाप्त कर ठाकुर के लिए प्रसाद राँधते, तब पूजा और भोग निवेदन कर रत

होते गीता-पाठ में। भाव-मग्न हो वे प्रतिदिन गीता के तीन अध्याय उच्च स्वर से पाठ करते जिसे यामुन पार्श्व में बैठ बड़े ध्यान से श्रवण करते।

नम्बि भक्ति सिद्ध पुरुष थे; पाठ प्रारम्भ करते ही उनका सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो उठता और उनकी आँखों से एवं मुखमंडल से एक दिव्य ज्योति की आभा प्रस्फुटित होने लगती और इसके साथ ही एक दिव्यानन्द से वे भर जाते।

यामुन विस्मय के साथ परम भक्त की इस आनन्दमयी मूर्त्ति की ओर टकटकी लगाकर देखते रहते। उनके अन्दर में बार-बार एक भूचाल सा होता। वे सोचते कि यह नम्बि असीम आनन्द का अधिकारी है और उस स्वर्गीय आनन्द का आस्वादन कर इसका जीनन कृतार्थ और धन्य हो गया है। बहुत पहले से यामुन गीता-पाठ और अनेकानेक शास्त्र-पाठ किया करते थे परन्तु स्वाध्याय को इष्ट-चिंतन के साथ इस प्रकार मिश्रित कर, उसे मधुर बना सकने में वे कभी सफल नहीं हो सके। इसके अतिरिक्त राजकार्य में लिप्त रहकर एक के पश्चात् दूसरे माया-बंधन में वे पड़े रहते और इस प्रकार वंचित रहते दिव्यालोक के आनन्द से।

महापुरुष नम्बि का पाठ इतना चैतन्यमय था कि उनके द्वारा उच्चारित एक-एक श्लोक ईश्वरीय चेतना का एक-एक दिव्य स्तर मानो उन्मोचित कर रहा था। यामुन के अभ्यन्तर में महाप्रभु श्रीकृष्ण की महावाणी बार-बार प्रतिध्वनित हो रही थी—मेरे समीप भक्ति लेकर आओ, शरणापन्न होकर आओ, मैं तुम्हें दूँगा पराशान्ति और परामुक्ति। इस वाणी ने उनके मन और प्राण को विस्मृत कर दिया। यह वाणी तो अमोघ थी।

इसके साथ-साथ हृदय में तीव्र अनुसोचना थी। जो विषय-वासना और वैभव क्षणभंगुर है, जो देह-मरणशील है, उसे लेकर मैं इतने दिनों तक एक अज्ञानी की भाँति समय व्ययीत कर रहा था लेकिन अब और अधिक नहीं। इस बार इस बंधन की डोर को छिन्न करना होगा और इसके साथ ही प्रारम्भ करना होगा अमृतमय जीवन का पथ-संधान।

छः दिनों के रास्ते में नम्बि ने डष्टाध्यायी कर पाठ किया। इस पाठ से यामुन के भीतर दिव्यालोक का स्पर्श प्रतीत हुआ; मंत्रचैतन्य की तरह उसने काम किया। विषय-विमोहित राजा यामुन के जीवन में 'निर्झर का स्वप्न-भंग' घटित हुआ।

सातवें दिन प्रत्यूष में दोनों श्रीरंगम पहुँचे। कावेरी में स्नान कराकर नम्बि ने यामुन को श्रीरंगनाथजी के श्री विग्रह के सम्मुख उपस्थित किया और प्रेम-परिपूरित स्वर में कहा—'महाराज, देखें अपने पितामह नाथमुनि का यह

गुप्त-भंडार । आपको इस भंडार का संधान देने हेतु मैं अपने गुरु के प्रति प्रतिश्रुत था जो आज पूरा हुआ ।'

विग्रह दर्शन के साथ-साथ यामुन प्रेमावेश से व्याकुल हो गए और उनकी आँखों से पुलकाश्रु झरने लगे । उनके हृदयाकाश में श्रीरंगनाथ की ज्योतिर्मय और आनन्दघन मूर्त्ति उद्भासित हो उठी और इसके साथ ही बाह्य चेतना शून्य होकर वे मंदिर में मूर्च्छित हो गए ।

उस दिन से यामुन एक नूतन मानव में परिणत हो गए । राजा यामुन तो अब मर चुके थे और उनकी जगह जागृत हो गया था भक्ति-प्रेम के पथ का एक भिखारी साधक ।

शीघ्र ही यामुन ने राजवैभव और राजसिंहासन का परित्याग कर पिता-मह नाथमुनि का पदानुशरण करते हुए संन्यास ग्रहण किया । इसके साथ ही प्रारम्भ हुआ उनका अभियान प्रेम, भक्ति, प्रपत्ति और इष्ट-प्राप्ति के पथ पर ।

यामुन को प्रत्यावर्त्तित करने हेतु राजधानी से स्वजन एवं मित्रगण आए परन्तु त्यागी भक्त के संकल्प को उनका अनुनय और अश्रुजल भी डिगा न सका । स्मित हास्य से उन्होंने उत्तर दिया—'जिस राज्य और जिस विषय-वैभव में मैं ने अपने अबतक के जीवन व्यतीत किए वह तो क्षणभगुर और मूल्यहीन है । अब मैं एक नवीन राजा के अधीन कार्यभार ग्रहण करूँगा । वह राजा तो अद्वितीय है और सम्पूर्ण सृष्टि में उसका राज्य व्याप्त है — अखंड, अनन्त और शाश्वत है वह राज्य । सिर्फ उस राज्य का राजा ही प्रदान कर सकता है अमृतत्व और अखंड दिव्यानन्द । परमेश्वर श्रीविष्णु ही वे राजा हैं—और उनके जाग्रत विग्रह स्वरूप हैं ये श्रीरंगनाथ । अभी से मैं उनका आजीवन चाकर होकर रहूँगा ।'

आत्मजन एक शुभेच्छुओं ने समझ लिया कि वैराग्यवान इस साधक को अब सांसारिक जीवन में लौटाने का कोई उपाय नहीं है और हताश हो लौट गए वे अपने देश ।

श्रीरंगम के भक्त-समाज में विशेषकर विशिष्टा द्वैतवादियों में आनन्द का ज्वार आ गया । सबों के मन में आशा बैठ गई कि नाथमुनि ने जिस प्रेम-मार्ग को प्रवर्तित किया था, प्रतिभावान् यामुन की साधना और सिद्धि के द्वारा वह अब और अधिक प्रशस्त और आलोकमय बनेगा ।

श्रीरंगनाथ की सेवा में यामुन ने अब प्राणों की बाजी लगा दी । इसके साथ ही चलती भक्तिमार्गीय साधन तत्व तथा दर्शन सम्बन्धी गवेषणा और ग्रंथ-रचना । कुछ ही वर्षों के भीतर एक भक्ति सिद्ध महापुरुष के रूप में वे

परिचित हो गए । सम्पूर्ण दक्षिण प्रदेश में उनकी ख्याति फैल गई श्रीरंगम की भक्त-गोष्ठी के नेता रूप में, विशिष्टाद्वैतवाद के श्रेष्ठ आचार्य के रूप में ।

अमानुषी प्रतिभा लेकर आचार्य यामुन ने जन्म ग्रहण किया था अतः बहुत शीघ्र ही उन्होंने सभी शास्त्रों में पारगामिता प्राप्त कर ली थी । उनका वह पांडित्य और नेतृत्व की दक्षता अब ईश्वरीय कार्यों में नियोजित हुई ।

यामुनाचार्य ने विशिष्टा द्वैतवाद की एक विस्तृत व्याख्या उपस्थापित की । पितामह नाथमुनि ने जिस दार्शनिकता का प्रवर्त्तन किया था उसकी भित्ति को इन्होंने दृढ़तर किया । यामुनाचार्य के परवर्त्तीकाल में उनके पौत्र के शिष्य रामानुज के अवदान के फलस्वरूप इस विशिष्टाद्वैतवाद के अवयव पूर्ण और परिपुष्ट हुए और आचार्य शंकर के प्रतिपक्षी दार्शनिक मतवाद के रूप में इसका आत्म-प्रकाश हुआ ।

इस देश में विशिष्टाद्वैतवाद की विचारधारा अति प्राचीन काल से प्रवाहित थी । ब्रह्म सूत्र में आचार्य आश्मरथ्य का उल्लेख विशिष्टाद्वैतवादी के रूप में हुआ है । महाभारत में पांचरात्र मत की कथा का वर्णन हुआ है जिसमें विशिष्टाद्वैतवाद की झलक स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है ।

ब्रह्मसूत्र की विष्णु परक व्याख्या दशम शताब्दी में देखने को मिलती है । नाथमुनि और यामुनाचार्य के पश्चात् ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य का आविर्भाव हुआ जिनकी विष्णु-साधना और दार्शनिक व्याख्या के फलस्वरूप जाज्वल्यमान हो उठा विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का भक्तिवाद ।

परन्तु यह कथा विस्मृत करने की नहीं कि नाथमुनि, यामुन और रामानुज के भक्तिवाद का उत्स तो आलवार साधकों की जीवनसाधना है । ऐतिहासिक युग प्रारम्भ होने से बहुत पूर्व ही तमिल प्रदेश में आलवार भक्तों का आविर्भाव हुआ था । श्रीवैष्णवों के अनुसार प्राचीन आलवार आचार्यों का अभ्युदय द्वापर युग के अंतिम दिनों में हुआ जिसकी धारा और गुरु परम्परा कलियुग में बह चली ।

भक्तिसिद्ध प्राचीन आलवारों में काञ्ची के पोंइहे, मल्लापुरी के पुदत्त, मयलापुर के पे और महीसार के तिरुमिड़िशी थे । परवर्त्तीकाल में उल्लेखयोग्य भक्तों के नाम हैं—शठकोप, मधुर कवि, कूलशेखर, पेरिया, अंडाल आदि । इनलोगों के प्रेमभक्तिमय जीवन की कथाएँ और रचित स्तवगाथाएँ दक्षिण देशवासियों को हजारों वर्ष से भक्ति-रस से आप्लावित करती आ रही हैं और असंख्य नर नारियों के जीवन में भक्ति, प्रेम और शरणागति की प्रेरणा प्रदान कर रही हैं ।

यामुनाचार्य की साधना, सिद्धि और दार्शनिक तत्वों के द्वारा आलवारों के इस भक्तिवाद ने अब एक नवीनतर रूप धारण किया ।

प्राचीन आलवार एवं उनके उत्तर कालीन विशिष्टा द्वैतवादी साधकों एवं दार्शनिकों के सम्बन्ध में स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने लिखा है—

प्राचीन आलवार या आलवारगण भक्ति की जिस स्निग्ध शान्त भाव-प्रवाह में अवगाहन करके पूत हुए थे उसी पूत प्रवाह में दार्शनिकता के सम्मिलन से पुण्यतीर्थ का निर्माण हुआ है। यामुनाचार्य के समय से ही इसमें दार्शनिक-प्रतिभा का विकास हुआ है। एक ओर जिस प्रकार आलवारों ने भक्तिवाद का प्रसार किया है दूसरी ओर उसी प्रकार द्रविड़ाचार्य, गुहदेव, टंक और श्रीवत्सांक आदि आचार्यों ने दर्शन की महिमा को प्रकटित किया है। यमुनाचार्य से पहले ही वेदान्त दर्शन के भाष्यकार द्रविड़ाचार्य ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया था। श्रीवत्सांक मिश्र, टंक प्रभृति आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या की है। 'सिद्धित्रय' नाम के ग्रंथ में यामुनाचार्य ने प्राचीन आचार्यों का नामोल्लेख किया है। भाष्यकार द्रविड़ाचार्य, टीकाकार टंक एवं श्रीवत्सांक प्रभृति आचार्यगण श्रीसम्प्रदायभुक्त थे। आचार्य भर्तृप्रपंच, भर्तृहरि, ब्रह्मदत्त शंकर आदि निर्विशेष ब्रह्मवादी थे। आचार्य भाष्कर भेदाभेदवादी थे। जब निर्विशेष ब्रह्मवाद और भेदाभेदवाद का अभ्युदय हुआ तब अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए ही दार्शनिक क्षेत्र में यामुनाचार्य का अवतरण हुआ। दशम शताब्दी दार्शनिक प्रतिभा का युग था, सभी क्षेत्रों में नवजीवन का सूत्रपात हुआ था। विशिष्टाद्वैतवाद भी तब अपनी प्रतिष्ठा हेतु अग्रसर हुआ था।

.. .. अनेक लोगों की धारणा है कि शंकर के ज्ञानवाद में व्यभिचार का सूत्रपात होने पर आचार्य रामानुज प्रभृति का आविर्भाव हुआ परन्तु हमलोगों के अनुसार यह धारणा विल्कुल भ्रमात्मक है कारण कि यामुनाचार्य के आविर्भाव का जो काल है वही काल है वाचस्पति के आविर्भाव का। जब सम्पूर्ण देश में वाचस्पति मिश्र की महिमा परिव्याप्त हो रही थी उसी समय रामानुज का आविर्भाव हुआ। ग्यारहवीं शताब्दी में वाचस्पति की प्रतिभा सम्पूर्ण भारत में परिव्याप्त हो गई थी। भारत के सभी आचार्यगण अवतारी पुरुष थे। धर्म की ग्लानि न होने पर अवतार भी अवतरित नहीं होता। जीवनी लेखकों ने अवतार के फलस्वरुप ही धर्म की ग्लानि की बात अंगीकार कर ली है। आचार्य रामानुज और मध्व आदि के आविर्भाव के कारण ही शांकर मत की ग्लानि की बात मान ली गई है परन्तु रामानुज और मध्व के युग में शांकर मत की प्रतिभा का और भी अधिक विकास हुआ है। जिस सिद्धान्त का ह्रास होता है उसका विकास असंभव है। यदि शांकर मत का ह्रास होता तो वैसा होने पर उसमें दार्शनिक मनीषा का स्फुरण नहीं होता। हमलोगों के विचार से जब शांकर मत की प्रधानता स्थापित हो गई थी तब प्रतिद्वन्द्वी सभी

मतवादों ने अपनी प्रतिष्ठा की स्थापना के निमित्त शांकर मत पर प्रहार किया था।

……प्रबल शत्रु को पराजित करने के लिए ही न्यूनाधिक चेष्टा की आवश्यकता होती है। यदि शांकर मत का ह्रास प्रारम्भ हो गया था तो उस दशा में यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य आदि आचार्यगण बद्धपरिकर हो शांकर मत का खंडन नहीं करते। विशेषकर यामुनाचार्य ने निर्विशेष ब्रह्मवादी आचार्यगणों का नामोल्लेख करके उनके मतों के निरसन हेतु ही 'प्रकरण प्रक्रम' की आवश्यकता को स्वीकार किया है। प्रबल योद्धा को पराजित करने के लिए इस प्रकार की चेष्टा स्वाभाविक है।

…शांकर मत की प्रबलता और भास्कर मत के अभ्युदय के समय ही वैष्णव भक्तवाद के स्थापनार्थ यामुनाचार्य का प्रयास प्रारम्भ हुआ। जब सम्पूर्ण देश शंकर के ज्ञानवाद में झूम-चूम कर रहा था, उसी समय दार्शनिक क्षेत्र में अवतरण हुआ यामुनाचार्य का। उस समय दक्षिण भारतवर्ष में सभी सम्प्रदाय अपने-अपने मतवाद की प्रतिष्ठा हेतु लालायित थे, यामुनाचार्य भी वैष्णवमत की प्रतिष्ठा हेतु दार्शनिक क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे।

यामुनाचार्य द्वारा प्रणीत ग्रंथों में प्रमुख है—सिद्धित्रयम। इसमें विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का निरुपण सुन्दरतापूर्वक किया गया है। इनकी अन्य रचनाओं के नाम हैं—स्तोत्ररत्नम्, आगम प्रकाव्यम् एवं गीतार्थ संग्रह।

आचार्य यामुन ने अपनी दार्शनिक व्याख्या में प्रधानतः शंकर के निर्विशेष ब्रह्मात्मवाद पर प्रहार किया है। उनके अनुसार क्या चेतन और क्या अचेतन, सभी वस्तुएं ब्रह्म के शरीर हैं और ब्रह्म उस शरीर की आत्मा एवं अधिष्ठाता है। शरीर और शरीरी को एक समझना होगा कारण कि ब्रह्म स्वरूपतः एक और अद्वितीय है। जिस प्रकार तरंग, फेन और बुद्बुद् आदि अंशों के रहने पर भी निश्चय ही समुद्र को एक और अखंड कहा एवं समझा जाता है उसी प्रकार जीव, जगत् और ईश्वर आदि अनेकत्व के रहते हुए भी समष्टिभूत सत्ता, पुरुषोत्तम नारायण तो एक और अखंड है।

आचार्य यामुन ने आगे कहा है कि ईश्वर पुरुषोत्तम है, सृष्टजीव से वे श्रेष्ठ हैं। ईश्वर पूर्ण है, जीव अणु अंश है। ईश्वर तथा जीव नित्य पृथक् हैं। उनके अनुसार मुक्त जीव ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करता है परन्तु वह ईश्वर भाव प्राप्त करने में सक्षम नहीं है।

ब्रह्म और जीव के भेद के सम्बन्ध में कहते हुए वे कहते हैं—इन दोनों में स्वजातीय और विजातीय भेद नहीं है परन्तु स्वगत भेद रहता है। उनके

अनुसार मौलिक पदार्थ तीन हैं—चित्, अचित् और पुरुषोत्तम। चित्—जीव, अचित्—जगत् और पुरुषोत्तम—ब्रह्म है। ब्रह्म सविशेष—सगुण, अशेष कल्याणमय गुणों के आगार और सर्व नियन्ता है। जीव उसका चिर दास है।

साधक यामुन की उत्कट अभिलाषा थी परम प्रभु का एकान्तिक नित्य-किंकर होकर रहने की। दास्य और पराभक्ति के वे आकांक्षी थे इसीलिए सविशेष ब्रह्म एवं उसका मूर्त्त ब्रह्म स्वरूप ही उनका ध्येय था।

अपने इस दार्शनिक सिद्धान्त को उन्होंने प्रधानतः ब्रह्मपुराण से ग्रहण किया था। इस पुराण में महामुनि पराशर ने चित्, अचित् और ईश्वर सम्बन्धी जो दिग्दर्शन दिया है आचार्य ने उसका बड़ी श्रद्धा के साथ गुणानुवाद किया है।'[1]

यामुनाचार्य के स्तोत्ररत्न में पराभक्ति और शरणागति सम्बन्धी तत्वों का मनोरम प्रस्फुटन हुआ है। भक्तिसिद्ध महापुरुष अपने प्राणों को उड़ेलकर कहते हैं —

मखनाथ यदस्ति सोहस्म्याहम्
सकलं तद्धि तवैव माधव
नियतं स्वमिति प्रबुद्धधीरथ वा
किंनु समर्पयामि ते॥

... हे नाथ, हे माधव, जो कुछ मैं हूँ, जो कुछ भी मेरा है वह सभी तो तुम्हारा ही है प्रभु? यदि कभी भी मुझे इस प्रकार का ज्ञान हो कि—मैं सभी समय एकान्त भाव से तुम्हारा हूँ—तब मैं अपनी कौन सी वस्तु और किस विधि से तुम्हें समर्पित कर सकूँगा?

इस शरणागति के साथ गौड़ीय वैष्णवों का सादृश्य है—मैं तुम्हें क्या दूँ, तुम्हें जो धन प्रदान करूँगा वह धन तो तुम ही हो। आचार्य यामुन ने इसीलिए सभी वस्तुएँ बेच दी थीं और सभी वस्तुओं को नारायण स्वरूप समझकर एक वैष्णव की भाँति ग्रहण करते थे। यामुनाचार्य का भाव था—तवैवाहम्। वैष्णव कवि का भाव अनेक परिमाण में यह भी था—ममैव त्वम्।

ईश्वर के साथ जीव के पिता, माता, तनय, सुहृद् आदि सम्बन्ध संभव हैं परन्तु यामुनाचार्य की दृष्टि में दास्य भाव ही श्रेष्ठ है। एक स्तोत्र में वे प्रार्थना करते हैं:—'हे प्रभु, तुम्हारे प्रति सभी भावों की अपेक्षा दास्य भाव ही सर्वश्रेष्ठ है। एकमात्र दास्यसुख में आसक्त व्यक्ति के गृह में कीट रूप में जन्म

१. भागवतधर्म का प्राचीन इतिहास, द्वितीय खंड : स्वामी विद्यारण्य,

लेना भी सार्थक है परन्तु अन्य बुद्धिविशिष्ट व्यक्ति के घर चतुर्मुखब्रह्म के रूप में अवतरित होना भी मुझे काम्य नहीं।'[1]

प्रभु श्रीरंगनाथ की सेवा, दास्य और विशिष्टा द्वैतवाद के प्रचार आदि कार्यों में बहुत समय व्यतीत हो गए और अब यामुनाचार्य बृद्ध हो चले। उनके मन में केवल एक ही दुश्चिन्ता थी कि भक्तिवाद की जिस नींव को मैं ने सुदृढ़ किया है उसके ऊपर अब सौध कौन खड़ा कर सकेगा ? दार्शनिक सिद्धान्तों को शृंखलाबद्ध करने की आवश्यकता थी परन्तु उस कार्य के लिए आवश्यक भक्ति और प्रतिभा क्या समकालीन किसी साधक में थी ?

इन सभी चिन्ताओं को लेकर आचार्य का अन्तर आलोड़ित हो रहा था। वे प्रतिदिन श्रीरंगनाथ के चरणों में अश्रुपूरित नेत्रों से निवेदन करते—'भक्त को लेकर ही तुम्हारा संसार है, अतएव देखना कि भक्तिधृत श्रीसम्प्रदाय तुम्हारी कृपा से कहीं वंचित न हो जाय। भक्ति, प्रपत्ति एवं दास्य भाव का माहात्म्य प्रकटित होवे, मेरे अन्दर एक मात्र यही आकांक्षा है।'

कुछ समय के अन्तराल में श्रीरंगम के मन्दिर में प्रभु वरदराज के अन्तरंग भक्त कांचीपूर्ण के साथ यामुनाचार्य की भेंट हुई। कथा प्रसंग में ही कांचीपूर्ण ने कहा--'आचार्यवर, शांकर वेदान्ती यादव प्रकाश के कृती छात्र लक्ष्मण की कथा के सम्बन्ध में मैं आपसे कहना चाहता हूँ। अद्वैत वेदान्त में पारंगत होने पर भी एक विमस्यकारी भक्ति और संस्कार को लेकर उसने जन्म-ग्रहण किया है। उसी प्रकार उसमें अमानुषी प्रतिभा भी है। वेदान्त की विष्णु परक व्याख्या और विश्लेषण में वह अहर्निश निमग्न रहता है। लक्ष्मण को तो मैं उसके बाल्यकाल से ही जानता हूँ और यौवन में भी उसे अन्तरंग भाव से देखता हूँ। आचार्य मुझे इसमें संशय नहीं कि वह वरदराज का कृपापात्र है, भक्ति-आन्दोलन का वह एक चिह्नित नायक है।'

आनन्द विभोर होकर यामुनाचार्य ने कहा—'कांचीपूर्ण, प्रभु श्रीरंगनाथ के चरणों में मैं बार-बार श्रीसम्प्रदाय के लिए एक उपयुक्त भावी नेता हेतु विनती करता हूँ। आशा है, हमलोगों ने प्रभु का कृपा-प्रसाद पा लिया है। तुम्हारे आज के इस सुसंवाद से मैं परम आनन्दित हूँ।'

कांचीपूर्ण ने आगे भी कहा—'आचार्य, द्वैत और अद्वैतवाद के सिद्धान्त को लेकर अध्यापक यादवप्रकाश के साथ लक्ष्मण का बार-बार मत-वैषम्य हो जाता है। मेरे मन में ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों के संबन्ध-विच्छेद में अब और अधिक विलम्ब नहीं है।'

१. वेदान्त दर्शन का इतिहास, प्रथम भाग।

यामुन ने कहा—'अत्युत्तम कथा। कांचीपूर्ण, कुछ दिनों से मेरे मन में भावना हो रही है कि कांची जाकर प्रभु वरदराज का एक बार दर्शन कर आऊँ।'

'आचार्य, इस सुअवसर पर हम कांचीपुर के भक्तों को आपको अपने बीच पाकर अतीव प्रसन्नता होगी।' उत्साहपूर्वक कांचीपूर्ण ने कहा।

उस दिन यामुनाचार्य वरदराज के विग्रह के दर्शन हेतु आए हुए हैं। स्नान, तर्पण और पूजादि समाप्त हो चुका है और उनका अन्तर एक दिव्य आवेश से परिपूरित है। अब कांचीपूर्ण तथा अन्यान्य भक्तों को साथ लेकर वे अपने आवास की ओर लौट चुके हैं।

भावोन्मत्त अवस्था में वे धीरे-धीरे पथ पर अग्रसरित हो रहे हैं कि हठात् कांचीपूर्ण ने उनसे कहा—'आचार्य, देखिए, देखिए, वेदान्त केसरी यादवप्रकाश इसी तरफ आगे आ रहे हैं और उनके साथ उनकी यशस्वी शिष्य मंडली भी है। हमलोगों का प्रिय भाजन भक्त-प्रवर लक्ष्मण भी उनके साथ है।

यामुनाचार्य रास्ते के किनारे एक तरफ खिसककर खड़े हो गए। थोड़ी दूर पर अध्यापक यादवप्रकाश अपने छात्र-दल के साथ पैदल चले आ रहे हैं और उनका हाथ लक्ष्मण के कंधे पर है।

महापुरुष यामुनाचार्य भावमय मुद्रा में अपलक लक्ष्मण की ओर देख रहे हैं। मधुर मुस्कान की आभा आचार्य की आँख और उनके मुख पर बिखर रही है।

प्रसन्नता के साथ कांचीपूर्ण ने कहा—'आपकी आज्ञा हो तो मैं लक्ष्मण को बुलाकर ले आऊँ, आपका आशीर्वाद पाकर वह धन्य होवे।'

'नहीं कांचीपूर्ण, इसकी आवश्यकता नहीं। लक्ष्मण को मैंने इसी बीच आशीर्वाद प्रदान कर दिया है। उसके भीतर पराभक्ति के उन्मेष हेतु मैंने अपनी दृष्टि द्वारा शक्तिपात कर दिया है। आज निर्भ्रान्त होकर मैं ने जान लिया है कि यही लक्ष्मण श्रीसम्प्रदाय का भावी नायक है। इस समय इसके साथ अनावश्यक बातें करने से अद्वैत वेदान्ती यादवप्रकाश के साथ अभी ही नए शिरे से वाक् युद्ध होगा और इससे हमारे भीतर का मधुर भाव नष्ट हो जाएगा। श्रीवरदराज के दर्शन का अभीष्ट फल तो मुझे अभी हाथों हाथ प्राप्त हो गया।'

परवर्त्ती काल में यादवप्रकाश के इसी प्रतिभा सम्पन्न प्रधान छात्र का अभ्युदय हुआ रामानुज के रूप में, विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रख्यात प्रवक्ता के रूप में जिन्होंने भारतवर्ष के दार्शनिक समाज में ग्रहण किया कालजयी आसन।

यामुनाचार्य श्रीरंगम लौट आए हैं परन्तु उनके हृदय में झूल रहा है भक्त पंडित लक्ष्मण का लावण्यमय रूप। पवित्रता, तेजस्विता और विष्णु-भक्ति की जो आभा आचार्य ने उसके मुख-मंडल पर देखी थी उसे भला कैसे भुलाया जा सकता है ?

लक्ष्मण की साधन-प्रस्तुति जिससे पूर्ण होवे और शीघ्र ही वे जिससे श्रीसम्प्रदाय का दायित्व ग्रहण कर सकें--इस निमित्त व्याकुल हृदय से ईश्वर के चरणों में यामुन प्रार्थना करते हैं। लक्ष्मण को एकान्त भाव से अपने निज जन के रूप में प्राप्त करने हेतु इस समय उन्होंने एक स्तोत्र की भी रचना की है। श्रीसम्प्रदाय के भक्तों के बीच आज भी वह स्तोत्र स्मरणीय है।

श्रीरंगम आने के कुछ दिनों के बाद ही यामुनाचार्य को एक शुभ संवाद प्राप्त हुआ। सम्प्रति लक्ष्मण के साथ उनके गुरु यादवप्रकाश का तीव्र मतभेद होने के कारण दोनों का सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है।

परम भक्त प्रवीण आलवार साधक कांचीपूर्ण के प्रति लक्ष्मण बहुत दिनों से असीम श्रद्धा रखते थे। अब उन्होंने इसी सिद्ध महात्मा का आश्रय ग्रहण किया और उन्हीं के निर्देशानुसार साधन-भजन, श्रीवरदराज की सेवा-अर्चना और शास्त्र-पाठ भी करते हैं।

लक्ष्मण की प्रबल इच्छा महात्मा कांचीपूर्ण से दीक्षा-ग्रहण करने की थी परन्तु उनकी यह आकांक्षा पूरी न हो सकी। महात्मा उन्हें बार-बार टालते रहे।

जब-जब लक्ष्मण जोर देकर कांचीपूर्ण को पकड़ते तब-तब वे कहते—'वत्स, मैं तो प्रभु वरदराज का कंगाल भक्त हूँ। इसके अतिरिक्त मैं जात से शूद्र हूँ, तुम सरीखे पवित्र देहधारी ब्राह्मण को मैं किस प्रकार दीक्षा दे सकूँगा ? सर्वोपरि कथा तो मैं जानता हूँ कि प्रभु कार्य के निमित्त तुम्हारी दीक्षा अन्यत्र होगी और उसमें अब अधिक विलम्ब नहीं है।'

फिर भी लक्ष्मण महात्मा कांचीपूर्ण को गुरु-रूप और त्राता-रूप में समझते थे और उन्हीं के निर्देशन में नैत्य साधन-भजन करते थे। पवित्र शाल-कूप से जल भरकर लाते और उससे वरदराज के श्रीविग्रह को स्नान कराते और उस विग्रह की अर्चना और उसके ध्यान-जप में तन्मय हो उठते।

इधर वृद्ध यामुनाचार्य श्रीरंगम के मठ में अत्यधिक कष्ट के कारण शय्याग्रस्त हो गए थे और वे स्वयं स्पष्टतया समझ रहे थे कि उनकी विदा-बेला में अब अधिक विलम्ब नहीं है। अब अपने प्रधान और अन्तरंग भक्त महापूर्ण को बुलाकर उन्होंने कहा--'मेरी विदा-बेला प्रायः समागत है। इस

समय श्रीसम्प्रदाय के भक्तिवाद और उसके भविष्य के सम्बन्ध में व्याकुल हो रहा हूँ। वाचस्पति मिश्र का अभ्युदय हो गया है, शांकर मत को उन्होंने निपुणता के साथ प्रपंचित किया है। इसके विरुद्ध विशिष्टाद्वैतवाद और कितने दिनों तक जूझ सकेगा और टिक सकेगा ?'

'आपके निर्देश की हमे अपेक्षा है महात्मन्' महापूर्ण ने उत्तर दिया।

'केवल भक्तश्रेष्ठ लक्ष्मण की कथा के सम्बन्ध में सोच रहा हूँ। ज्ञात हुआ है कि यादवप्रकाश के साथ उसने अपने सभी सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है और अब कांचीपूर्ण के समीप आश्रय ग्रहण किया है। वह श्री वरदराज की सेवा में अपना दिन व्यतीत करता है। अतः तुम शीघ्र कांची जाकर उसे अपने साथ श्रीरंगम ले आओ। शरीर-त्याग से पूर्व मैं अपने मन के कतिपय संकल्पों से उसे अभिज्ञ करा देना चाहता हूँ।'

आश्वासन देते हुए महापूर्ण ने कहा—'आचार्यवर, इसी क्षण मैं कांची के लिए प्रस्थान कर रहा हूँ और यथाशीघ्र लक्ष्मण को आपके समीप उपस्थित करता हूँ।'

कांची पहुँच कर महापूर्ण ने प्रभु वरदराज के मंदिर में जा उन्हें प्रणाम किया। वहीं पर भक्तों से ज्ञात हुआ कि श्री वरदराज का अभिषेक सम्पन्न कराना लक्ष्मण का नैत्य प्रधान सेवा कार्य है—और अब उसमें अधिक विलम्ब नहीं है, वे शीघ्र ही उससे निवृत हो यहीं पर आ उपस्थित होंगे।

महापूर्ण अब और अधिक धैर्य धारण न कर सके। पथ की ओर अग्रसर होते ही देखा कि लक्ष्मण धीरे-धीरे पाँव रखते हुए मंदिर की ओर अग्रसर हो रहे हैं। उनके मस्तक पर जल का वृहत् भाण्ड है और मुख से वे विष्णु की स्तुति गुनगुना रहे हैं।

निकट पहुँचने पर सुमधुर कंठ से महापूर्ण यामुनाचार्य प्रणीत एक अपूर्व स्तोत्र को गाने लगे जिसके भाव, भाषा और मधुर झंकार ने लक्ष्मण के अन्दर दिव्य उन्माद को जागृत किया। साश्रु नयन उन्होंने प्रश्न किया—'महात्मन् अमृत-सिंचित इस स्तोत्र को आपने कहाँ पाया, श्री विष्णु की कृपा से धन्य किस महापुरुष की यह रचना है, कृपया मुझे बतावें।'

'यह तो मेरे प्रभु यामुनाचार्य की रचना है। श्रीसम्प्रदाय की उस मध्यमणि के अतिरिक्त भला और किसके हृदय में इस तरह की दिव्य ज्योति का स्फुरण हो सकता है ? दूसरा कौन इस प्रकार अमृत का परिवेशन कर सकता है ?'

'रंगनाथजी के प्रियतम सेवक, महात्मा यामुनाचार्य के चरणों के दर्शन की अभिलाषा मेरे अन्दर बहुत दिनों से बनी हुई है। भाग्यहीन होने के कारण मैं इससे अबतक वंचित रहा। आप तो उनके स्वजन हैं, क्या कृपा पूर्वक मुझे उनके आश्रय में आप ले जायेंगे ?'

'वत्स, मैं तो आचार्य प्रभु यामुन के समीप से ही तुम्हारे पास आया हूँ। तुम्हारे दर्शन हेतु वे व्याकुल हैं और तुम्हारे पथ की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इसके

अतिरिक्त वे अभी मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए हैं। वत्स, यदि तुम्हें उनके दर्शन की अभिलाषा है तो तुम एक क्षण भी अब विलम्ब न करो।'

क्रमशः चार दिनों तक पथ-भ्रमण करने पर प्रभु श्रीरंगनाथ का मंदिर दीख पड़ा। कावेरी के दूसरे किनारे पर पहुँचने पर दोनों बज्राहत की भाँति स्तम्भित हो गए। दक्षिण के वैष्णव जगत् के श्रेष्ठ पुरुष यामुनाचार्य अब इस संसार में नहीं रहे। उनके मृत शरीर को हजार-हजार नर-नारी घेर कर क्रन्दन कर रहे हैं और मठ के शेष शिष्य व्यस्त हैं शेषकृत्य हेतु।

आचार्य के चन्दन-चर्चित और पुष्प शोभित मृत शव के सम्मुख लक्ष्मण ने साष्टांग प्रणाम किया। उठकर खड़ा होने पर उनकी दृष्टि जब उनके हाथ की ओर गई तो देखते हैं कि उनकी तीन अंगुलियाँ मुष्टिबद्ध होकर रह गई हैं।

जिज्ञासु दृष्टि से सेवकों की ओर देखने पर उन्होंने कहा--'तीन सकल्पों की पूर्ति हेतु आचार्य प्रभु अपनी मृत्यु-शय्या पर अधिक चिन्तित होकर रहते थे, उसीके प्रतीक स्वरूप ये तीनों अंगुलियाँ मुष्टिबद्ध होकर रह गई हैं।'

इस कथा श्रवण के साथ-साथ भक्तप्रवर लक्ष्मण दिव्य भावाविष्ट हो गिर पड़े। इसी आवेश में अर्द्ध बाह्य अवस्था में इन्होंने क्रमशः तीनों संकल्प-वाणियों का उच्चारण किया। उन्होंने कहा--'विष्णुभक्तिमय द्राविड़ वेद का मैं प्रचार करूँगा, ज्ञानहीन जनों के मध्य उस भक्ति-सुधा का वितरण करूँगा और लोक-रक्षा का व्रत लेकर मैं रचना करूँगा तत्वज्ञानमय श्री भाष्य का। पुराण-रत्न विष्ण पुराण के रचयिता पराशर मुनि के नाम से चिह्नित करके मैं भक्तिवाद में एक श्रेष्ठ व्याख्याता का निर्माण करूँगा।'

अन्तरंग भक्तों-शिष्यों ने एक अविश्वसनीय दृश्य को देखा। इन संकल्प वाणियों के उच्चरित होते ही उसके साथ-साथ किसी अदृश्य अलौकिक शक्ति के इंगित से प्राणहीन यामुनाचार्य की तीनों वद्ध अंगुलियाँ क्रमशः खुल गईं।

सबों ने जान लिया कि भक्तप्रवर लक्ष्मण ही यामुनाचार्य के वह भावी उत्तराधिकारी हैं, ईश्वर-चिह्नित वही महानायक हैं जिन्होंने अब श्रीसम्प्रदाय का नेतृत्व-भार ग्रहण कर लिया है।

देखा गया कि, मृत्यु के उपरान्त भी, आचार्य यामुन अपने संकल्प पर अविचल रहे और ईश-विधान का अमोघ तत्व भी सभी शिष्यों को संकेत द्वारा इस समय बतला दिया।

शेषकृत्य प्रारम्भ होने के साथ-साथ कावेरी की विशाल तटभूमि मुखरित हो उठी सहस्र कंठों के स्तुति-गान से और तत्पश्चात् फूट पड़ा अन्तरंग भक्तगणों का शोकार्त्त क्रन्दन।

जाग्रत विग्रह श्रीरंगनाथ के श्रेष्ठ किंकर रूप में इतने दिनों तक विराजित थे यामुनाचार्य। वे तो दक्षिणी भक्तिवाद के मानो एक आलोक-स्तम्भ थे। आज उस स्तम्भ का शोकाकुल तिरोधान सम्पन्न हुआ।

★